KAVYA GRANTHA NO7

Kavya
Sastra
No: 7

Raq Varnnak.

١٢٨٦ ع

Price Rs: 2-0-0-

MAZUMDÁRA'S SERIES.

RAGHUVAṀŚA

BY

KALIDÁSA

WITH A COMMENTARY STYLED SANJI'VANI'

BY

MALLINÁTHA

AT THE REQUEST OF BÁBU BARADÁ PRAŚÁDA MAZUMDÁRA

EDITED

BY

GIRIŚA CHANDRA VIDYÁRATNA

ASSISTANT PROFESSOR OF ÁLANKÁRA IN GOVERNMENT

SANSKRIT COLLEGE, CALCUTTA.

SECOND EDITION.

CALCUTTA:

PRINTED BY K. C. CHAKRABUTTY AT B. P. M's PRESS.

No 22 Jhama Pooker Lane.

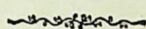
1869.

MAZUMDA'RA'S SERIES

रघुवंशम्।

महाकविकालिदासविरचितम्

श्रीमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया
व्याख्ययानुगतम्



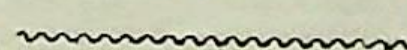
श्रीयुत बाबु वरदाप्रसादमजुमदारस्य प्रार्थनया

संस्कृतपाठशालायाः अलङ्कारसहकार्य्यध्यापकेन

श्रीगिरिशचन्द्रविद्यारत्नेन
संस्कृतम्



द्वितीयसंस्करणम्।



कलिकाताराजधान्याम्

वि, पि, एम्स् यन्त्रे

श्री कालीकुमारचक्रवर्त्तिना मुद्रितम्।

संवत् १९२६।

বিজ্ঞাপন।

বিংশতি বৎসর অতীত হইল কলিকাতা রাজধানীতে রঘুবংশ সটীক মুদ্রিত হইয়াছিল এবং ইংলণ্ডের রাজধানী লণ্ডন নগরেও ১৮৩২ খৃষ্টাব্দে লাটিন ভাষায় অনুবাদ সমেত মুদ্রাঙ্কিত হয়। এই উভয়বিধ মুদ্রিত গ্রন্থই এক্ষণে অপ্রাপ্য হইয়া উঠিয়াছে। এই নিমিত্ত এই মহাকাব্য পুনর্মুদ্রিত হইল। সংস্কৃত সাহিত্য শাস্ত্রের যত টীকাকার আছেন, মল্লিনাথ সর্ব্বাপেক্ষা প্রামাণিক, তৎপ্রণীত টীকাও সাহিত্য শাস্ত্রের যাবতীয় টীকা অপেক্ষা সর্ব্বাংশে শ্রেষ্ঠ। অতএব পূর্ব্বমুদ্রিত টীকার পরিবর্ত্তে মল্লিনাথরচিত সঞ্জীবনীনামক টীকা সমেত মুদ্রিত করা গেল। মল্লিনাথের টীকা ইহার পূর্ব্বে আর কখন মুদ্রিত হয় নাই। বিশেষতঃ এই পুস্তক সর্ব্বদা সর্ব্বত্র পাওয়া দুষ্কর। কলিকাতাস্থ সংস্কৃত বিদ্যালয়ের পুস্তকাগারে এক খানি পুস্তক ছিল এবং আমরাও এক খানি পুস্তক সংগ্রহ করিয়াছিলাম। এই উভয় পুস্তকের ঐক্য করিয়া মল্লিনাথকে মুদ্রাঙ্কিত করা গিয়াছে। এসিয়াটিক সোসাইটী নামক সমাজের পুস্তকাগারেও মল্লিনাথপ্রণীত টীকার এক পুস্তক আছে কিন্তু তাহা অত্যন্ত অশুদ্ধ ও মধ্যে মধ্যে খণ্ডিত এই নিমিত্ত তদ্দ্বারা তাদৃশ উপকার লাভ হয় নাই। রঘুবংশ সটীক মুদ্রিত করিতে যথেষ্ট ব্যয় হইয়াছে। যৎকালে প্রথম মুদ্রিত করিতে আরম্ভ করা যায়। কালেজ আব ফোর্ট উইলিম নামক বিদ্যালয়ের অধ্যক্ষ মহানুভাব শ্রীযুত মেজর জি টি মার্শল মহাশয়ের নিকটে আনুকূল্য প্রার্থনায় আবেদন করিয়া ছিলাম। তিনি বাঙ্গালা-দেশীয় গবর্ণমেন্টের সম্মতি ক্রমে একৈক খণ্ডের ছয় টাকা মূল্যে পঞ্চাশৎ পুস্তক গ্রহণ অঙ্গীকার করেন। তৎপরে বারাণসীস্থ সংস্কৃত বিদ্যালয়ের অধ্যক্ষ মহামতি শ্রীযুত ডাক্তর জে আর বলন্টিন মহাশয়ের নিকটে আনুকূল্য প্রার্থনায় আবেদন করাতে

তিনিও তৎপ্রদেশীয় গবর্ণমেণ্টের সম্মতি লইয়া পূর্ব্বোক্ত নিয়মে পঞ্চাশৎ পুস্তক গ্রহণ স্বীকার করিয়াছেন। এই দুই মহোদয়ের অঙ্গীকৃত আনুকূল্যের উপর নির্ভর করিয়া আমরা এই বহুব্যয়সাধ্য ব্যাপারে প্রবৃত্ত হইয়াছিলাম। সংস্কৃত পাঠশালার অধ্যাপক সর্ব্ব-শাস্ত্রবিশারদ শ্রীযুত তারানাথ তর্কবাচস্পতি ভট্টাচার্য্য মহাশয় এই গ্রন্থের সংশোধন বিষয়ে যথেষ্ট পরিশ্রম করিয়াছেন। এই পুস্তক সম্পূর্ণ শুদ্ধ হইয়াছে ইহা কোন ক্রমেই সম্ভাবিত নহে। কিন্তু যেরূপ হইয়াছে তর্কবাচস্পতি মহাশয়ের সাহায্য না পাইলে সেরূপ হইয়া উঠাও দুর্ঘট হইত। ইং ১৮৫২।

শ্রীগিরিশচন্দ্র শর্ম্মা।

দ্বিতীয়বারের বিজ্ঞাপন।

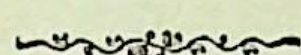


বহুদিন অতীত হইল, আমি রঘুবংশ মুদ্রিত করিয়াছিলাম, তাহা প্রায় নিঃশেষিত হইয়াছে। বহু ব্যয়সাধ্য বলিয়া পুনর্ব্বার মুদ্রিত করিবার নিমিত্ত প্রয়াস পাই নাই। পরে কাব্য-প্রকাশিকার সম্পাদক শ্রীযুক্ত বাবু বরদাপ্রসাদ মজুমদারের প্রার্থনানুসারে আমি সংশোধন করিয়া তাঁহাকে পুনর্ম্মুদ্রিত করিয়া দিলাম। কিমধিকমিতি। ইতি ইং ১৮৬৯।

কলিকাতা।
সংস্কৃত কালেজ।

শ্রীগিরিশচন্দ্র শর্ম্মা।

বিজ্ঞাপন।



মহাকবি কালিদাস প্রণীত রঘুবংশ মল্লিনাথকৃত সঞ্জীবনী টীকা সহিত মুদ্রিত হইল। বহুদিন অতীত হইল কলিকাতা সংস্কৃত কালেজের সাহিত্যশাস্ত্রের অধ্যাপক শ্রীযুক্ত পণ্ডিত গিরিশচন্দ্র বিদ্যারত্ন মহাশয় ইহা সংশোধন করিয়া ছাপাইয়াছিলেন এক্ষণে তাহাও প্রায় নিঃশেষিত হইয়াছে এবং আমি বিদ্যোৎসাহী বান্ধবগণের পরামর্শানুসারে ও পণ্ডিতগণের সাহায্যে সংস্কৃত গ্রন্থ সমুদায় মুদ্রিত করিতে আরম্ভ করিয়াছি এবং মহাকবি কালিদাস কৃত অভিজ্ঞান শকুন্তল এবং কুমারসম্ভব সমাপন করিয়া রঘুবংশ মুদ্রিত করিতে অভিলাষ করি, সংস্কৃত কালেজের অধ্যাপক শ্রীযুক্ত গিরিশচন্দ্র বিদ্যারত্ন মহাশয় প্রথমে রঘুবংশ মল্লিনাথ কৃত সঞ্জীবনী সমেত মুদ্রিত করিয়াছিলেন অতএব পুনর্মুদ্রিত করিবার নিমিত্ত তাঁহার নিকটে প্রার্থনা করাতে আমাকে মুদ্রিত করিবার অনুমতি প্রদান করেন, এবং অনুগ্রহ পূর্ব্বক স্বয়ং সংশোধনের ভার গ্রহণ পুরঃসর আদ্যোপান্ত সংশোধন করিয়া দিয়াছেন। প্রথমবার একটী মাত্রও বর্ণাশুদ্ধি ছিলনা। বোধহয় এবারও সেইরূপ হইয়াছে। পরিশেষে নিবেদন এই যে আমি যে বৃহৎ কার্য্যে হস্ত ক্ষেপ করিয়াছি তাহা কখনই মাদৃশ লোকের উপযুক্ত নয়। কেবল বিদ্যোৎসাহী অনুগ্রাহক পাঠকবর্গের উপর নির্ভর করিয়া সাহস করিতেছি। কতদূর কৃতকার্য্য হই বলিতে পারি না।

কলিকাতা ঝামাপুকুর লেন।

সন ১২৭৬। শ্রী বরদাপ্রসাদ মজুমদার।

তি
পঞ্চ
অঙ্গী
ব্যা
শাস্ত্র
গ্রন্থে
সম্প
হইয়
উঠা

প্রা
করি
শ্রীযু
করি
ইং

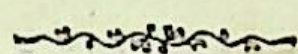
MAZUMDA'RA'S SERIES

रघुवंशम्।

महाकविकालिदासविरचितम्

श्रीमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया

व्याख्ययानुगतम्



श्रीयुत बाबु वरदाप्रसादमजुमदारस्य प्रार्थनया

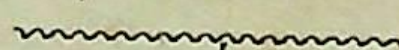
संस्कृतपाठशालायाः अलङ्कारसहकार्य्यध्यापकेन

श्रीगिरिशचन्द्रविद्यारत्नेन

संस्कृतम्



द्वितीयसंस्करणम्।



कलिकाताराजधान्याम्

वि, पि, एमृस् यन्त्रे

श्री कालीकुमारचक्रवर्त्तिना मुद्रितम्।

संवत् १९२६।

रघुवंशम्।

प्रथमः सर्गः।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्व्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः, "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे" इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, काव्यालापांश्च वर्ज्जयेदित्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयताञ्च पश्यन् रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वात् आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्द्देशोवापि तन्मुखमित्याशीर्व्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् काव्यनिर्म्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च, शब्दजातमशेषन्तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखर, इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्व्वतीपरमेश्वरायत्तत्वदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते वागर्थाविति। वागर्थाविवेत्येकं पदम् इवेन सह नित्यसमासोविभक्त्यलोपश्च पूर्व्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च वक्तव्यम् एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात्। नित्यः शब्दार्थसम्बन्ध इति मीमांसकाः। जगतोलोकस्य पितरौ माता च पिता च पितरौ। पिता मात्रेति द्वन्द्वैकशेषः। मातापितरौ पितरावित्यमरः। एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वञ्च सूच्यते। पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती। तस्यापत्यमित्यण्, ठिड्ढाणञित्यादिना ङीप्। पार्व्वती च परमेश्वरश्च पार्व्वतीपरमेश्वरौ परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः। मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाच्तरत्वाच्च पार्व्वतीशब्दस्य पूर्व्वनिपातः। वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः

क्व सूर्य्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ २॥
मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥ ३॥
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्व्वसूरिभिः।

सम्यग्ज्ञानार्थं वन्दे अभिवादये। अत्रोपमालङ्कारः स्फुटएव तथोक्तं स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्म्मतः। साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमेति। प्रायिकश्चोपमालङ्कारः कालिदासोक्तकाव्यादौ। भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्म्मगणस्य प्रयोगात् शुभलाभः सूच्यते, तदुक्तं शुभदो मो भूमिमय इति। वकारस्यामृतवीजत्वात् प्रचयगमनादि सिद्धिः॥१॥

सम्प्रति कविः स्वाहङ्कारं परिहरति क्व सूर्य्येत्यादि श्लोकद्वयेन। क्वेति। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। ऋदोरप् अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति साधुः। सूर्य्यः प्रभवोयस्य स सूर्य्यप्रभवः वंशः क्व, अल्पो विषयोज्ञेयोऽर्थोयस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व। द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः सूर्य्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः तथाच तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं दूरापास्तमिति भावः। तथाहि दुस्तरं तरितुमशक्यम्। ईषद्दुःसुष्वित्यादिना खल् प्रत्ययः। सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन उडुपन्तु प्लवः कोल इत्यमरः। अथवा चर्म्मावनद्धेन पानपात्रेण। चर्म्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवदिति सज्जनः। तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि। तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः। इदञ्च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव तदुक्तं प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तर इति॥ २॥

मन्द इति। किञ्च मन्दो मूढः। मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दा इत्यमरः। तथापि कवियशःप्रार्थी कवीनां यशः काव्यनिर्म्माणेन जातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभात् उद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तोवामनः खर्व्व इव। खर्वो ह्रस्वश्च वामन इत्यमरः। उपहास्यतामुपहासविषयताम्। ऋहलोर्ण्यदिति ण्यत् प्रत्ययः। गमिष्यामि प्राप्स्यामि॥ ३॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यतआह

अथवेति। अथवा पक्षान्तरे पूर्व्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीकादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादि प्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशोयस्य तस्मिन्

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥
सोऽहमाजन्मशुद्धाना-माफलोदयकर्म्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशाना-मानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्च्चितार्थिनाम् ।
यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥
त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।

अस्मिन् सूर्य्यप्रभवे वंशे कुले। जन्मनैकलक्षणः सन्तानोवंशः। वज्रेण मणि-वेधकसूचीविशेषेण। वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः। मणिवेधे रत्नभेदे इति केशवः। समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः सञ्चारोस्ति वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे लब्धप्रवेशस्तद्वर्णनां प्रतिजानानः सोहमित्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह

सोऽहमिति। सोऽहं रघूणामन्वयं वक्ष्ये इत्युत्तरेण सम्बन्धः। किंविधानां रघूणामित्यत्र उत्तराणि विशेषणानि योज्यानि। आजन्मनः जन्म आरभ्येत्यर्थः। आङ् मर्य्यादाभिविध्योरित्यव्ययीभावः। शुद्धानाम्। सुप्सुपेति समासः। एव-मुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। आजन्मशुद्धानां निषेकादिसर्व्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः। आफलोदयम् आफलसिद्धेः कर्म्म येषां ते तथोक्तास्तेषां प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः आसमुद्रं क्षितेरीशानां सार्व्वभौमानामित्यर्थः। आनाकं रथवर्त्म येषां ते तेषा-मिन्द्रसहचारिणामित्यर्थः। अत्र सर्व्वत्र आङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् अन्यथा मर्य्यादार्थत्वे जन्मादिषु शुद्ध्यभावप्रसङ्गात् ॥५॥

यथाविधीति। विधिमनतिक्रम्य यथाविधि। यथासादृश्य इत्यव्ययीभावः तथा हुतशब्देन सुप्सुपेति समासः एवं यथाकामार्च्चितेत्यादीनामपि द्रष्टव्यम्। यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषां यथाकाममभिलाषमनतिक्रम्य अर्च्चितार्थिनां यथापराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषां यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबो-धिनां प्रबोधनशीलानाम्। चतुर्भिर्विशेषणैर्देवतायजनार्थिसत्कारदण्डधरत्वप्रजा-पालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि ॥ ६ ॥

त्यागायेति। त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै। त्यागो विहापनं दानमित्यमरः। सम्भृतार्थानां सञ्चितधनानां नतु दुर्व्व्यापाराय, सत्याय मित-

यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

भाषिणां मितभाषणशीलानां नतु पराभवाय। यशसे कीर्त्तये। यशः कीर्त्तिः समज्ञा चेत्यमरः। विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनां नत्वर्थसंग्रहाय, प्रजायै सन्तानाय गृहमेधिनां नतु कामोपभोगाय। अत्र त्यागायेत्यादिषु चतुर्थी तदर्थेत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी। गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्ते इति गृहमेधिनः। दारेष्वपि गृहा इत्यमरः, जाया च गृहिणी गृहमिति हलायुधः। मेध सङ्गमे इति धातोर्णिनिः। एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं सत्यवचनत्वं यशःपरत्वं पितॄणां शुद्धत्वञ्च विवक्षितानि ॥ ७ ॥

शैशव इति। शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम्। प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रेत्यञ्प्रत्ययः। शिशुत्वं शैशवं बाल्यमित्यमरः। तस्मिन् वयसि अभ्यस्तविद्यानाम् एतेन ब्रह्मचार्य्याश्रमो विवक्षितः। यूनोर्भावो यौवनं तारुण्यम्। युवादित्वादण्प्रत्ययः। तारुण्यं यौवनं सममित्यमरः। तस्मिन् वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम् एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः। वृद्धस्य भावो वार्द्धकं वृद्धत्वम्। द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्चेति वुञ्। वार्द्धकं वृद्धसङ्घाते वृद्धत्वे वृद्धकर्म्मणीति विश्वः। तस्मिन् वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम् एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः। अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन। योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु इत्यमरः। तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजाम् देहत्यागिनाम्। कायो देहः क्लीव पुंसोः स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूरित्यमरः। अन्येभ्योऽपि दृश्यते इति क्विप्। एतेन भिक्षाश्रमो विवक्षितः ॥ ८ ॥

रघूणामिति। सोऽहं लब्धप्रवेशः तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन् तेषां गुणैस्तद्गुणैः आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलाय चापलं चपलकर्म्म अविमृश्यकरणरूपं कर्त्तुम्। युवादित्वात् कर्म्म ण्यण्। क्रियार्थोपपदस्येत्यादिना चतुर्थी। प्रचोदितः प्रेरितः सन् रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये ॥ कुलकम् ॥ ९ ॥

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥ १० ॥
वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥
तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥
व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

सम्प्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते

तमिति। तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोः व्यक्तेर्हेतवः कर्त्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति तथाहि हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकापि लोहान्तरसंसर्गात्मको दोषोऽपि वा अग्नौ संलक्ष्यते नान्यत्र तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोषविवेकाधिकारिणो नान्ये इति भावः ॥ १० ॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति वैवस्वतइति। मनस ईषिणो मनीषिणः धीराः विद्वांस इति यावत्। पृषोदरादित्वात् साधुः। तेषां माननीयः पूज्यः छन्दसां वेदानाम्। छन्दः पद्ये च वेदे चेति विश्वः। प्रणव ओंकारइव, महीं क्षियन्ति ईशते इति महीक्षितः क्षितीश्वराः। क्षिधातोरैश्वर्य्यार्थात् क्विप् तुगागमश्च। तेषामाद्यः आदिभूतः विवस्वतः सूर्य्यस्यापत्यं पुमान् वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥ ११ ॥

तदन्वय इति। शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान् तस्मिन् शुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे। अन्ववायोऽन्वयोवंशोगोत्रञ्चाभिजनः कुलमिति हलायुधः। अतिशयेन शुद्धिमान् शुद्धिमत्तरः। द्विवचनविभज्योपेत्यादिना तरप्। दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दुः राजश्रेष्ठः। उपमितं व्याघ्रादिना समासः। क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतः जातः ॥ १२ ॥

व्यूढेति। व्यूढेत्यादिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि। व्यूढं विपुलम् उरो यस्य सः व्यूढोरस्कः। उरःप्रभृतिभ्यः कप्। व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठञ्चेति यादवः। वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स तथा। सप्तम्युपमानेत्या-

सर्व्वातिरिक्तसारेण सर्व्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्व्वोन्नतेनोर्व्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥
आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥
भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥
रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

दिना उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । शालोऽद्रुम इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः । प्राकारवृक्षयोः शालः शालः सर्ज्जतरुः स्मृतः इति यादवः । उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः आत्मकर्म्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्रः क्षत्रसम्बन्धी धर्म्म इव स्थितः मूर्त्तिमान् पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

सर्व्वातिरिक्तेति । सर्व्वातिरिक्तसारेण सर्व्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन । सारो बले स्थिरांशे चेत्यमरः । सर्व्वाणि भूतानि तेजसा अभिभवतीति सर्व्वतेजोऽभिभावी तेन सर्व्वेभ्यः उन्नतेनात्मना शरीरेण । आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनीति विश्वः । मेरुरिव उर्व्वीं क्रान्त्वा आक्रम्य स्थितः । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्व्वभूतानि तेजसेति मनुवचनाद्राज्ञः सर्व्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

आकारेति । आकारेण मूर्त्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः प्रज्ञया सदृशागमः प्रज्ञानुरूपशास्त्रपरिश्रमः आगमैः सदृशः आरम्भः कर्म्म यस्य स तथोक्तः, आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म्म तत्सदृश उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

भीमेति । भीमैः कान्तैश्च नृपगुणैः राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलदाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानां यादोभिः जलजीवैः । यादांसि जलजन्तव इत्यमरः । रत्नैश्च अर्णव इवाधृष्यः अनभिभवनीय अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ॥ १६ ॥

रेखामात्रमिति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्य सम्बन्धिन्यः नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः । चक्रधारा प्रधिर्नेमि-

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥
सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥
तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।

रिति यादवः । चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात् प्रधिः पुमानित्यमरः । प्रजाः आ मनोः मनुमारभ्येत्यभिविधिः पदद्वयञ्चैतत् समासस्य विभाषितत्वात् । क्षुण्णादभ्यस्तात् प्रहताच्च वर्त्मनः आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकमित्यर्थः । रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणमीषदपीत्यर्थः । प्रमाणे द्वयसजित्यादिना मात्रच्प्रत्ययः । परशब्दविशेषणञ्चैतत् । न व्यतीयुः नातिक्रान्तवत्यः । कुशल-सारथिप्रेषिता रथनेमय इव तस्य प्रजाः पूर्व्वक्षुण्णमार्गं न जह्लुरिति भावः ॥१७॥

प्रजानामिति । स राजा प्रजानां भूत्यै अर्थाय भूत्यर्थं वृद्ध्यर्थमेव । अर्थेन सह नित्यसमासः सर्व्वलिङ्गता च वक्तव्या ग्रहणक्रियाविशेषणञ्चैतत् । ताभ्यः प्रजाभ्यः बलिं षष्ठांशरूपं करमग्रहीत् । भागधेयः करोबलिरित्यमरः । तथाहि रविः, सहस्रं गुणा यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधा उत्स्रष्टुं दातुम् । उत्सर्ज्जन-क्रियाविशेषणञ्चैतत् । रसमम्बु आदत्ते गृह्णाति । रसोगन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरोगयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्य्ये देहधात्वम्बु पारदे इति विश्वः ॥ १८ ॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्य्यसम्पन्नस्य तस्यार्थसाधनेषु परानपेक्षत्वमाह

सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चतुरङ्गबलं परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छदः उपकरणं बभूव छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणेति घप्रत्ययः । छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्येति उपधाह्रस्वः । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव शास्त्रेष्वकुण्ठिता अव्याहता बुद्धिः व्यापृतेत्यपि पाठः । धनुषि आतता आरोपिता मौर्वी च । मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्य्यमभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह

तस्येति । संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्र इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचकोभ्रुकुटीमुखरागादिराकारः, इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो

फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तनाइव ॥ २० ॥
जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्म्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्य्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवाइव ॥ २२ ॥

वा। इङ्गितं हृद्गतो भावो वहिराकार आकृतिरिति सज्जनः । गूढे आकारेङ्गिते यस्य स्वभावचापलात् भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वा अप्रतीयगाभिमन्त्रस्य तस्य प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः प्रागित्यव्ययेन पूर्व्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः । सायञ्चिरेत्यादिना टुग्ल् प्रत्ययः । संस्काराः पूर्व्वकर्म्म-वासना इव फलेन कार्य्येणानुमेया अनुमातुं योग्या आसन् । अत्र याज्ञवल्क्यः । मन्त्रमूलं यतोराज्यमतोमन्त्रं सुरक्षितम् । कुर्य्याद्यथा तन्न विदुः कर्म्मणा-माफलोदयादिति ॥ २० ॥

सम्प्रति सामाद्युपायान् विनैवात्मरक्षादिकं कृतवानित्याह

जुगोपेति । अत्रस्तः अभीतः सन् । त्रस्तोभीरुभीरुकभीलुका इत्यमरः । त्रासोपाधिमन्तरेणैव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान् । अनातुरः अरुग्णएव धर्म्मं सुकृतं भेजे अर्ज्जितवानित्यर्थः । अगृध्नुरगर्द्धनशीलएव अर्थमाददे स्वीकृतवान् । गृध्नुस्तु गर्धनः । लुब्धोऽभि-लाषुकस्तृष्णक् समौ लोलुपलोलुभावित्यमरः । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुरिति क्नुप्रत्ययः । असक्तः आसक्तिरहितएव सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्य्यमासीदित्याह

ज्ञानइति । ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनं यथाह काम-न्दकः नान्यापतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुतेति । शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम् । अत्र चाणक्यः । शक्तानां भूषणं क्षमेति । त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघायाविकत्थनस्य विपर्य्ययोऽभावः । अत्राह मनुः । न दत्त्वा परिकीर्त्तयेदिति । इत्थं तस्य गुणाः ज्ञानादयः गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धि-त्वात् सहचारित्वात् सह प्रसवोजन्म येषां ते सप्रसवाः सोदराइव अभूवन् विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्म्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥
प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥२४॥
स्थित्यै दण्डयतोदण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म्म एव मनीषिणः ॥२५॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च, तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह ।

अनाकृष्टस्येति । विषयैः शब्दादिभिः । रूपं शब्दोगन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः । दृशेः क्वनिप् । धर्म्मे रति र्यस्य तस्य राज्ञः जरसा जरया विना । विस्रसा जरेत्यमरः । षिद्भिदादिभ्योऽङ् इति अङ् प्रत्ययः । जरया जरसन्यतरस्यामिति जरसादेशः । वृद्धत्वं वार्द्धकमासीत् । तस्य यूनोऽपि विषयवैराग्यादिगुणसम्पत्त्या ज्ञानतोवृद्धत्वमासीदित्यर्थः । नाथस्तु चतुर्व्विधं वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा अनाकृष्टस्येत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत् ॥ २३ ॥

प्रजानामिति । प्रजायन्ते इति प्रजाः जनाः । उपसर्गे च संज्ञायामित्यड् प्रत्ययः । प्रजा स्यात् सन्ततौ जने इत्यमरः । तासां विनयस्य शिक्षायाः आधानात् करणात् सन्मार्गप्रवर्त्तनादिति यावत्, रक्षणाद्भयहेतुभ्यस्त्राणात् आपन्निवारणादिति यावत्, भरणादन्नपानादिभिः पोषणादपि । अपिः समुच्चये । स राजा पिता अभूत्, तासां पितरस्तु जन्महेतवोजन्ममात्रकर्त्तारः केवलमुत्पादका एवाभूवन् । जननमात्रएव पितॄणां व्यापारः सदा शिक्षारक्षणादिकन्तु स एव करोतीति तस्मिन् पितृत्वव्यपदेशः । आहुश्च स पिता यस्तु पोषक इति ॥ २४ ॥

स्थित्या इति । दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः । दण्डादिभ्योयदिति यत् प्रत्ययः । अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् । अयशोमहदाप्नोति नरकञ्चैव गच्छतीति शास्त्रवचनात् तान् दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठायै दण्डयतः शिक्षयतः प्रसूयतये सन्तानाय एव परिणेतुः दारान् परिगृह्णतः मनीषिणो विदुषो दोषज्ञस्येति यावत् । विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन् सुधीः कोविदोबुधः ।

दुदोह गां स यज्ञाय शस्याय मघवा दिवम् ।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥२६॥
न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत् परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥
द्वेष्योपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्योदुष्टः प्रियोप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥२८॥

धीरो मनीषी इत्यमरः। तस्य अर्थकामावपि धर्म्मएवास्तां जातौ। अस्तेर्लङ्। अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्म्मार्थत्वेन अनुष्ठानादर्थकामावपि धर्म्मशेषतामापादयन् स राजा धर्म्मोत्तरोऽभदित्यर्थः। आह हि गौतमः न पूर्व्वाह्णमध्यन्दिनापराह्णानफलान् कुर्य्यात् यथाशक्ति धर्म्मार्थकामेभ्यः तेषु धर्म्मोत्तरः स्यादिति ॥२५॥

दुदोहेति। स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्त्तुं गां भुवं दुदोह करग्रहणेन रिक्तां चकारेत्यर्थः। मघवा देवेन्द्रः शस्याय शस्यं वर्द्धयितु दिवं स्वर्गं दुदोह द्युलोकान्महीलोके वृष्टिमुत्पादयामास इत्यर्थः। क्रियार्थोपपदस्येत्यादिना यज्ञशस्याभ्यां चतुर्थी। एवमुभौ सम्पदो विनिमयेन परस्परमादानप्रतिदानाभ्यां भुवनद्वयं दधतुः। पुपुषतुः। राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्च उदकेन भूलोकं पुपोषेत्यर्थः। उक्तञ्च दण्डनीतौ, राजा त्वर्थान् समाहृत्य कुर्य्यादिन्द्रमहोत्सवम्। प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेदिति ॥२६॥

न किलेति। राजानोऽन्ये नृपाः रक्षितु भयेभ्यस्त्रातुः तस्य राज्ञो यशोनानुययुः किल नानुचक्रुः खलु, कुतः यत् यस्मात् कारणात् तस्करता चौर्य्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभतेभ्योव्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता अपहार्य्यभावात्तस्करशब्दएवापहृत इत्यर्थः। अथवा अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हीति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः ॥२७॥

द्वेष्यइति। शिष्टोजनोद्वेष्यः शत्रुरप्यार्त्तस्य रोगिण औषधं यथा औषधमिव तस्य सम्मतोऽनुमतः आसीत् दुष्टोजनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि उरगक्षता सर्पदष्टा अङ्गुलीव छिन्द्याद्वाङ्गमपि दुष्टात्मन इति न्यायात् त्याज्य आसीत्। तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्टएव शत्रुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।
तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः ॥२९॥
स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥३०॥
तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥३१॥
कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि।

तस्य परोपकारित्वमाह

तमिति। वेधाः स्रष्टा। स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा इत्यमरः। तं दिलीपं समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री महाभूतानां यः समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज्ज नूनं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा। तथाहि तस्य राज्ञः सर्वे गुणाः रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थः परप्रयोजनमेवैकं मुख्यं फलं येषां ते तथोक्ता आसन्। महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणाः कार्य्ये संक्रामन्तीति न्यायः सूचितः ॥२९॥

स इति। स दिलीपः वेलाः समुद्रकूलानि। वेला कूलेऽपि वारिधेरिति विश्वः। ता एव वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्याः ताम्। स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् प्राकारोवरणः शालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिरित्यमरः। परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनं खातम्। खेयन्तु परिखेत्यमरः। अन्येष्वपि दृश्यत इत्यत्र अपिशब्दात् खनेर्डप्रत्ययः। अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्याः ताम्। अभूततद्भावे च्विः। अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्याः ताम् अनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास अनायासेन शासितवानित्यर्थः ॥३०॥

तस्येति। तस्य राज्ञः मगधवंशे जाता मगधवंशजा। सप्तम्याञ्जनेर्ड इति डप्रत्ययः। एतेनाभिजात्यमुक्तम्। दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्त्तनम्। दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्त्तिषु इति शाश्वतः। तेन रूढं प्रसिद्धं तेन नाम्ना अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणाख्या पत्नीव सुदक्षिणा इति प्रसिद्धा पत्नी आसीत्। अत्र स्मृतिः, यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस इति दक्षिणायादाक्षिण्यं नाम ऋत्विजो-दक्षिणत्वं प्रापकत्वं ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्णन्ति च ॥३१॥

तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाधिपः ॥३२॥
तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥३३॥
सन्तानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥३४॥
अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वशिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥३५॥
स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥३६॥

कलत्रवन्तमिति । वसुधाधिपः अवरोधे अन्तःपुरवर्गे महति सत्यपि मनस्विन्या दृढ़चित्तया पतिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः तया सुदक्षिणया लक्ष्म्या च आत्मानं कलत्रवन्तं भार्य्यावन्तं मेने । कलत्रं श्रोणिभार्य्ययोरित्यमरः । वसुधाधिप इत्यनेन वसुधया नेति गम्यते ॥ ३२ ॥

तस्यामिति । स राजा आत्मानुरूपायां तस्यां आत्मनो जन्म यस्यासौ आत्मजन्मा पुत्रस्तस्मिन् समुत्सुकः यद्वा आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । आत्मा वै पुत्रनामासीति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ॥ ३३ ॥

सन्तानेति । तेन दिलीपेन सन्तानः अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै सन्तानार्थाय विधये अनुष्ठानाय स्वभुजात् अवतारिता अवरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ॥ ३४ ॥

अथेति । अथ धुरोऽवतारणानन्तरं पुत्रकाम्यया आत्मनः पुत्रेच्छया । काम्यच्चेति पुत्रशब्दात् काम्यच्प्रत्ययः । अप्रत्ययादिति पुत्रकाम्यधातोरकारप्रत्ययः ततष्टाप् । तया तौ दम्पती जायापती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात् साधुः । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्चेत्र । स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यत इति मान्त्रिकाः । गुरोः कुलगुरोर्वशिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ॥ ३५ ॥

स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तं एकं स्यन्दनं रथं

मा भूदाश्रमपीड़ेति परिमेयपुरःसरौ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥३७॥
सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्य्यासगन्धिभिः।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥३८॥
मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥३९॥

प्राहृषि भवः प्राहृषेण्यः। प्राहृष एण्य इति एण्यप्रत्ययः। तं प्राहृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव आस्थितौ आरूढ़ौ जग्मतुरिति पूर्व्वेण सम्बन्धः। इरा आपः। इरा भूवाक्सुराप्सु स्यादित्यमरः। इरावान् समुद्रस्तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः। ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभा इत्यमरः। अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थत्वादभ्ररूपत्वादिति चीरस्वामी। अतएव मेघारोहणं विद्युत्साहचर्य्यञ्च घटते। किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्य्यादेव ऐरावती संज्ञा ऐरावतस्य स्त्री ऐरावतीति चीरस्वामी, तस्मात् सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति। एकरथारोहणोक्त्या कार्य्यसिद्धिवीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

मा भूदिति। पुनः कथम्भूतौ दम्पती, आश्रमपीड़ा मा भूत् मास्त्विति हेतोः। माङि लुङित्याशीरर्थे लुङ्, न माङ्योग इत्यड़ागमनिषेधः। परिमेयपुरःसरौ परिमितपरिचरौ अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात् सेनापरिवृताविव स्थितौ ॥ ३७ ॥

सेव्यमानाविति। पुनः कथम्भूतौ, सुखः शीतत्वात् प्रियः स्पर्शो येषां तैः शालनिर्य्यासगन्धिभिः सर्ज्जतरुनिस्यन्दनगन्धवद्भिः। शालः सर्ज्जतरुः स्मृत इति शाश्वतः। उत्किरन्ति विक्षिपन्तीति उत्किराः। इगुपधेत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः। पुष्परेणूनामुत्किरास्तैः आधूताः मान्द्यादीषत् कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्व्वातैः सेव्यमानौ ॥ ३८ ॥

मन इति। रथनेमिस्वनोन्मुखैर्मेघध्वनिशङ्कया उन्नमितमुखैरित्यर्थः। शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः शुद्धविकृतभेदेन आविष्कृतावस्थायां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः तस्मादस्यात् केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते अतएवाह षड्जसंवादिनीरिति षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः, तदुक्तं नासां कण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन्। षड्भ्यः सञ्जायते यस्मात्तस्मात् षड्ज इति स्मृतः।

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥४०॥
श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥
पवनस्यानुकूलत्वात् प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥
सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।

स च तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वरविशेषः । निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः इत्यमरः । षड्जेन संवादिनीः सदृशीः । तदुक्तं मातङ्गेन, षड्जेन मयूरो वदतीति । मनोऽभिरामाः मनसः प्रियाः के मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनन्तीति केकाः मयूरवाण्यः । केका वाणी मयूरस्येत्यमरः । ताः केकाः शृण्वन्ताविति श्लोकार्थः ॥३९॥

परस्परेति । विश्रम्भाददूरं समीपं यथा भवति तथा उज्झितं वर्त्म यैस्तेषु स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथे आबद्धा आसञ्जिता दृष्टि नेत्रं यैस्तेषु । दृग्दृष्टिलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणीति हलायुधः । कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः । मृग्यश्च मृगाश्च । पुमान् स्त्रियेत्येकशेषः । तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु । स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वमित्यमरः । परस्पराक्ष्णां सादृश्यं पश्यन्तौ । द्वन्द्व शब्दसामर्थ्यात् मृगीषु सुदक्षिणाक्षिसादृश्यं दिलीपाक्षिसादृश्यं मृगेष्वित्येवं विवेक्तव्यम् ॥४०॥

श्रेणीति । श्रेणीबन्धात् पङ्क्तिबन्धनाद्धेतोः अस्तम्भाम् आधारस्तम्भरहितां तोरणं बहिर्द्वारम् । तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारमित्यमरः । तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रज वितन्वद्भिः कुर्वद्भिरित्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैः अव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः करणैः क्वचिदुन्नमिताननौ । सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वय इति यादवः ॥४१॥

पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनः अनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्य अनुकूलत्वाद्गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् तुरगोत्कीर्णैः रजोभिः अस्पृष्टा अलका देव्याः वेष्टनमुष्णीषञ्च राज्ञो ययो स्तौ तथोक्तौ ॥४२॥

आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥
ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥
हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥४५॥
काप्यभिख्या तयोरासीत् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥४६॥

सरसीति । सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलम् ऊर्म्मिसङ्घट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनुकर्त्तुं शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ॥४३

ग्रामेष्विति । आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु यूपो नाम संस्कृतपशुबन्धाय दारुशेषः यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेषु अमोघाः सफलाः यज्वनां विधिनेष्टवताम् । यज्वा तु विधिनेष्टवानित्यमरः । सुयजोर्ङ्वनिप् इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । आशिषः आशीर्वादान् अर्घः पूजाविधिस्तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । पादार्घाभ्याञ्च इति यत्प्रत्ययः । षट् तु त्रिष्वर्घमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणीत्यमरः । अर्घ्यस्यानुपदमन्वक् अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदं पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीवमव्ययमित्यमरः ॥४४॥

हैयङ्गवीनमिति । ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनं ह्यः पर्वेद्युर्भवम् । तत्तु हैयङ्गवीनं यत् ह्योगोदोहोद्भवं घृतमित्यमरः । हैयङ्गवीनं संज्ञायामिति निपातः । सद्योघृतमादाय उपस्थितान् घोषवृद्धान् । घोषआभीरपल्ली स्यादित्यमरः । वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । दुह्याचीत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्म्मकत्वम् । कुलकम् ॥ ४५ ॥

कापीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलीपयोः हिमनिर्मुक्तयोश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति कापि अनिर्वाच्या अभिख्या शोभा आसीत् । अभिख्या नामशोभयोरित्यमरः । आतश्चोपसर्गे इत्यङ्प्रत्ययः । चित्रा नक्षत्रविशेषः शिशिरापगमे चैत्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन् प्रियदर्शनः ।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥४७॥
स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः ।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥४८॥
वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः ।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥४९॥
आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥५०॥

तत्तदिति । प्रियं दर्शनं सकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः योग्यदर्शनीयइत्यर्थः भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयन् लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न ज्ञातवान् । बुधः सौम्य उपमा उपमानं यस्येति विग्रहः । इदं विशेषणं तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

सइति । दुष्प्रापयशाः दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः श्रान्तवाहनः दूरोपगमनात् क्लान्तयुग्यः महिष्याः सखा महिषीसखः । राजाहःसखिभ्यष्टच् इति टच्प्रत्ययः । सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः । स राजा सायं सायंकाले संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वशिष्ठस्याश्रमं प्रापत् प्राप पुषादित्वादङ् ॥ ४८

तमाश्रमं विशिनष्टि वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः समिधश्च कुशाश्च फलानि च आहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तैः । आङि ताच्छील्ये इति हरतेराङ्पूर्वाट्टच्प्रत्ययः । अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गतास्तैस्तपस्विभिः पूर्यमाणम् । प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्तीति श्रूयते । यथाह यामं पितरं प्रोषितं वासपुत्राः प्रत्याधावन्ति एवमेतमग्नयः प्रत्याधावन्ति सशकलान् दारुनिवाहरन्निति ॥ ४९ ॥

आकीर्णमिति । नीवाराणां भागएव भागधेयः अंशः । रूपनामभागेभ्योधेयः इति वक्तव्यत्वात् स्वाभिधेये धेयप्रत्ययः तस्योचितैः अतएव उटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिः द्वाररोधकैः मृगैः ऋषिपत्नीनाम् अपत्यैरिवाकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥५१॥
आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्त्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥५२॥
अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥५३॥ कुलकम् ।
अथ यन्तारमादिश्य धुर्य्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत् पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

सेकान्त इति । सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः आलवालेषु जलाधारप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम् । स्यादालवालमावालमावाप इत्यमरः । विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विस्रम्भाय । समौ विश्वासविस्रम्भौ इत्यमरः । तत्क्षणे सेकक्षणे उज्झिताः वृक्षकाः ह्रस्वा वृक्षा यस्मिन् तम् । ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ॥ ५१ ॥

आतपेति । आतपस्यात्यये अपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृताः नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु । नीवारास्तृणधान्यानीत्यमरः । उटजानां पर्णशालानाम् अङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु । पर्णशालोटजोऽस्त्रियामिति अङ्गनं चत्वराजिरे इति चामरः । निषादिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्त्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन् आश्रमे तम् ॥ ५२ ॥

अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः होमयोग्यादित्यर्थः समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोतीति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः आहुतिगन्धोयेषामस्तीत्याहुतिगन्धिनः तैर्धूमैराश्रमोन्मुखान् अतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्व्वाणम् ॥ ५३ ॥

अथेति । अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिं धुरं वहन्ति धुर्य्याः युग्याः । धुरो यड्ढकाविति यत्प्रत्ययः । धुर्व्वहे धुर्य्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धरा इत्यमरः । धुर्य्यान् रथाश्वान् विश्रामय विनीतश्रमान् कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य, तां पत्नीं रथादवारोहयत् अवतारितवान् स्वयञ्चावततार । विश्रमयेति ह्रस्वपाठे जनीजॄष्‌ष्णुरञ्जोऽमन्ताश्चेति मित्त्वे मितां ह्रस्वः । दीर्घ पाठे मितां ह्रस्व इति

तस्मै सभ्याः सभार्य्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥
विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥
तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥
तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।

स्यते वा चित्तविरागे इत्यतो वेत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् ह्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥ ५४ ॥

तस्मै इति । सभायां साधवः सभ्याः । सभायां य इति यप्रत्ययः । गुप्ततमेन्द्रियाः अत्यन्तनियमितेन्द्रियाः मुनयः सभार्य्याय गोप्त्रे रक्षकाय नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे अतएवार्हते प्रशस्ताय पूज्यायेत्यर्थः । अर्हः प्रशंसायामिति शतृप्रत्ययः । तस्मै राज्ञे अर्हणां पूजां चक्रुः । पूजा नमस्यापचितिः सपर्य्याच्चार्हणाः समा इत्यमरः ॥ ५५ ॥

विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भवस्य । सायञ्चिरमित्यादिना ट्युलप्रत्ययः । विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवसाने अरुन्धत्या अन्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्म्मणि क्तः उपसर्गवशात् सकर्म्मकत्वं अन्वास्यैनामित्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वशिष्ठं स्वाहादेव्या । अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रियेत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श । समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपहोमञ्च कुर्व्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेदिति । अनुष्ठानस्य मध्ये अभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनञ्चात्र पतिव्रताधर्म्मत्वेनोक्तं, नतु कर्म्माङ्गत्वेन विधेरन्त इति कर्म्मणः समाप्त्यभिधानात् ॥ ५६ ॥

तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवशिष्ठयोः पादान् जगृहतुः । पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियामित्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्त्तारौ सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्म्मभूतौ प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः, आशीर्व्वादादिभिः सम्भावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥
अथाथर्व्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः ।
अर्थ्यामर्थपतिर्व्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणाञ्च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

तमिति । मुनिः अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । अतिथेर्ञ्य इति ञ्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तया श्रान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तं, राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ । पृच्छतेस्तु द्विकर्म्मकत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गतत्वाद्राजकर्म्मवचनः तथाप्यत्र सप्ताङ्गवचनः, उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु इति उत्तरविरोधात् । तथाह मनुः । स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यत इति । तत्र ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम् । वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव चेति मनुवचने सत्यपि, तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद्ब्राह्मणोचितकुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसन्धेयम्, अतएवोक्तं राज्याश्रममुनिमिति ॥ ५८ ॥

अथेति । अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरः विजितशत्रुनगरः वदतां वक्तॄणां वरः श्रेष्ठः । यतश्च निर्द्धारणमिति षष्ठी । अर्थपतिः राजा अथर्वणोऽथर्व्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रे अर्थ्यामर्थादनपेताम् । धर्म्मपथ्यर्थन्यायादनपेत इति यत्प्रत्ययः । वाचमाददे वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः । अथर्वनिधिरित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्म्मनिर्व्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते । यथाह कामन्दकः । त्रय्याञ्च दण्डनीत्याञ्च कुशलः स्यात् पुरोहितः । अथर्व्वविहितं कुर्य्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकमिति ॥ ५९ ॥

उपपन्नमिति । हे गुरो सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु । स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । सप्ताङ्गानीत्यमरः । शिवं कुशलम् उपपन्नं ननु युक्तमेव, नन्ववधारणे । प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे नन्वित्यमरः । कथमित्यत्राह, यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनां, मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम् । उभयत्रापि तत आगत इत्यण् । टिड्ढाणञित्यादिना ङीप् । आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्त्ता वारयितासि । अत्राह कामन्दकः । हुताशनो

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः॥ ६१॥
हविरावर्ज्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति शस्यानामवग्रहविशोषिणाम्॥ ६२॥
पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्च्चसम्॥ ६३॥

जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनन्ततः। आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्योराजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम्॥ ६०॥

तत्र मानुषापत्प्रतीकारमाह, तवेति। दूरात् परोक्ष एव प्रशमितारिभिः, मन्त्रान् कृतवान् मन्त्रकृत्। सुकर्म्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञ इति क्विप्। तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव मन्त्रैः कर्त्तृभिः दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं तन्मात्रं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव, वयमेव समर्थाः किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा। प्रत्यादेशो निराकृतिरित्यमरः। त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव नः पौरुषं फलतीति भावः॥६१॥

सम्प्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह, हविरिति। हे होतस्त्वया विधिवदग्निषु आवर्ज्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्त्तृ, अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे इति अप्प्रत्ययः। वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समावित्यमरः। तेन विशोषिणां विशुष्यतां शस्यानां वृष्टिर्भवति वृष्टिरूपेण शस्यान्युपजीवयतीति भावः। अत्र मनुः। अग्नौ दत्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा इति॥ ६२॥

पुरुषेति। आयुर्जीवितकालः पुरुषस्यायुः पुरुषायुषं वर्षशतमित्यर्थः। शतायुर्वै पुरुष इति श्रुतेः। अचतुरादिसूत्रेण अच्प्रत्ययान्तो निपातः। मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः निरातङ्का निर्भयाः। आतङ्को भयमाशङ्केति हलायुधः। निरीतयः अतिवृष्ट्यादिरहिताः इति यत् तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्च्चसं तव व्रताध्ययनसम्पत्तिरेव हेतुः। व्रताध्ययनसम्पत्तिरित्येतत् ब्रह्मवर्च्चसमिति हलायुधः। ब्रह्मणोवर्च्चो ब्रह्मवर्च्चसं ब्रह्महस्तिभ्यां

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना ।
सानुबन्धाः कथं न स्युः सम्पदो मे निरापदः ॥ ६४ ॥
किन्तु बध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् ।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ॥ ६५ ॥
नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः ।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः ॥ ६६ ॥
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्व्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥

वर्चस इत्यच् प्रत्ययः । अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षड़ेता ईतयः स्मृता इति कामन्दकः ॥ ६३ ॥

त्वयेति । ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वया एवम् उक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्य अनुध्यायमानस्य अतएव निरापद व्यसनहीनस्य मे सम्पदः सानुबन्धाः अनुस्यूताः अविच्छिन्ना इति यावत् कथं न स्युः स्युरेवेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

सम्प्रति आगमनप्रयोजनमाह, किन्त्विति । किन्तु तव एतस्यां बध्वां स्नुषायाम् । वधूर्ज्जाया स्नुषा स्त्री चेत्यमरः । अदृष्टा सदृशी अनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपापि रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि । सत्सूद्विषेत्यादिना क्विप् । मेदिनी नावति न प्रीणाति । अवधातुः रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषु उपदेशादत्र प्रीणने । रत्नसूरपीत्यनेन सर्व्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम् ॥६५॥

तदेव प्रतिपादयति, नूनमिति । मत्तः परं मदनन्तरं । पञ्चम्यास्तसिल् । पिण्डविच्छेददर्शिनः पिण्डदानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणाः वंशे भवाः वंश्याः पितरः, स्वधेत्यव्ययं पितृभोज्ये वर्त्तते तस्य संग्रहे तत्पराः आसक्ताः सन्तः श्राद्धे पितृकर्म्मणि । पितृदानं निवापः स्यात् श्राद्धं तत्कर्म्म शास्त्रत इत्यमरः । प्रकामभुजः पर्य्याप्तभोजिनो न भवन्ति, ननं सत्यम् । कामं प्रकामं पर्य्याप्तमित्यमरः । निर्द्धना ह्यापद्धनं किंयदपि संगृह्णन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

मत्परमिति । मत्परं मदनन्तरम् । अन्यारादित्यादिना पञ्चमी । दुर्लभं मत्वा मया आवर्ज्जितं दत्तं पयः पूर्व्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासैः दुःखजैः कवोष्णमीष-

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्म्मणे ॥ ६९ ॥

तया हीनं विधातर्मां कथं पश्यन्न दूयसे ।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद्वन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्व्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

दुष्णं यथा तथा उपभुज्यते नूनमिति तर्कः । कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः । कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वतीत्यमरः ॥ ६७ ॥

सोऽहमिति । इज्या यागः । व्रजयजोर्भावे क्यबिति क्यप्प्रत्ययः । तया विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः कृतनिमीलनः सोऽहं लोक्यत इति लोकः न लोक्यत इत्यलोकः लोकश्चालोकश्चात्र स्त इति लोकश्चासावलोकश्चेति वा लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव । लोकालोकश्चक्रवाल इत्यमरः । प्रकाशत इति प्रकाशश्च देवऋणविमोचनात्, न प्रकाशत इत्यप्रकाशश्च पितृऋणाविमोचनात् । पचाद्यच् अस्मीति शेषः । लोकालोकोऽप्यन्तःसूर्य्यसम्पर्काद्बहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम् ॥ ६८ ॥

ननु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमपत्यैरित्यत्राह, लोकान्तरेति । सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः कारणं तपोदाने सम्भवो यस्य तत् तपोदानसम्भवं यत् पुण्यं तत् लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरं, शुद्धवंशे भवा शुद्धवंश्याः सन्ततिर्हि परत्र परलोके इह च लोके शर्म्मणे सुखाय । शर्म्मशातसुखानि चेत्यमरः । भवतीति शेषः ॥ ६९ ॥

तयेति । हे विधातः स्रष्टः तया सन्तत्या हीनम् अनपत्यम् मां स्नेहात् प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्द्धितम् बन्ध्यमफलम् । बन्ध्योऽफलोऽवकेशी चेत्यमरः । आश्रमस्य वृक्षकम् वृक्षोत्तममिव पश्यन् कथं न दूयसे न परितप्यसे । विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षसे इति गम्यते ॥ ७० ॥

असह्येति । हे भगवन् मे मम अन्त्यम् ऋणं पैतृकमृणम् अनिर्व्वाणस्य

तस्मान्मुच्ये यथा तात संविधातुं तथार्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥
इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥
सोऽपश्यत् प्रणिधानेन सन्ततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्त्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥
पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत् कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

मज्जनरहितस्य । निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने इति यादवः । दन्तिनो गजस्य अरुः मर्म तुदतीत्यरुन्तुदं मर्मस्पृक् । व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः, अरुन्तुदस्तु मर्मस्पृगिति चामरः । विध्वरुषे स्तुद इति खश्प्रत्ययः, अरुर्द्विष-दित्यादिना मुमागमः । आलानं बन्धनस्तम्भमिव । आलानं बन्धनस्तम्भे इत्य-मरः । असह्या सोढुमशक्या पीड़ा दुःखं यस्मिन् तत् अवेहि दुःसहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः । निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणि गजकर्म्माणीति पालकाव्ये । ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्म्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत् ॥ ७१ ॥

तस्मादिति । हे तात तस्मात् पैतृकाद्‌ऋणात् यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्त्तृकर्म्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्त्तुमर्हसि हि यस्मात् कारणात् इक्ष्वा-कूणां इक्ष्वाकुवंश्यानाम् । तद्राजत्वाद्बहुष्वणो लुक् । दुरापे दुष्प्रापेऽर्थे सिद्धय-स्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी, न लोकेत्यादिना कृद्योगे षष्ठीनिषेधात् ॥ ७२ ॥

इतीति । इति राज्ञा विज्ञापितः ऋषिः ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य ध्यानस्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन् क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥७३॥

सोऽपश्यदिति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धा-न्तःकरणः भुवो भर्त्तुर्नृपस्य सन्ततेः स्तम्भकारणं सन्तानप्रतिबन्धकारणम् अप-श्यत्, अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति गतिबुद्धीत्यादिना अणिकर्त्तुः कर्म्मत्वम् ॥ ७४ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय संसेव्य उर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो

धर्म्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियार्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः ॥ ७६ ॥

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥ ७७ ॥

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः ।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे ॥ ७८ ॥

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

गमिष्यतस्तव पथि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् तत्र स्थितेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

ततः किमित्याह, धर्म्मलोपेति । ऋतुः पुष्पं रज इति यावत् । ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि चेत्यमरः । ऋतुना निमित्तेन स्नाताम् इमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्म्मस्य ऋत्वभिगमनलक्षणस्य लोपात् भ्रंशात् यो भयस्तस्मात् स्मरन् ध्यायन् । स्त्रदङ्गं दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् । प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीतिनि शास्त्रात् प्रदक्षिणक्रियार्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यां धेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचरः नाचरितवानसि, व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः । ऋतुकालाभिगमने मनुः, ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदेति । अकरणे दोषमाह पराशरः, ऋतुस्नातान्तु यो भार्य्यां स्वस्थः सन्नोपगच्छति । बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशय इति ॥ ७६ ॥

अवजानासीति । यस्मात् कारणात् मामवजानासि तिरस्करोषि अतः कारणात् मत्प्रसूतिं मम सन्ततिमनाराध्य असेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति, सा सुरभिस्त्वां शशाप । शप आक्रोशे ॥ ७७ ॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह, स शाप इति । हे राजन् स शापः त्वया न श्रुतः, सारथिना च न श्रुतः । श्रु श्रवणे । हेतुमाह, क्रीड़ार्थमागता उद्दामानः दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिन् तथोक्ते आकाशगङ्गायाः मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति ॥ ७८ ॥

अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह ईप्सितमिति । तदवज्ञानात् तस्याः धेनोः अवज्ञानादपमानात् आत्मनः स्वस्य आमुष्मिकम् ईप्सितं मनोरथम् ।

हविषे दीर्घसत्त्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥
सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥
इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥
ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥
भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि।

आप्नोतेः सन्नन्तात् क्तः ईकारश्च। सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि। तथाहि पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि, सा वा कथञ्चिदागमिष्यतीत्याशा न कर्त्तव्येत्याह, हविष इति। सा च सुरभिरिदानीं दीर्घं सत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गपिहितद्वारं भुजङ्गावरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति पाताले तिष्ठतीत्यर्थः। अधिशीङ्स्थासां कर्म्मेति कर्म्मत्वम् ॥ ८० ॥

तर्हि का गतिरित्यत आह, सुतामिति। तस्याः सुरभेरियं तदीया तां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः, सह पत्न्या वर्त्तत इति सपत्नीकः सन्। नद्यृतश्चेति कप्प्रत्ययः। आराधय, हि यस्मात् कारणात् सा प्रीता तुष्टा सती कामान् दोग्धीति कामदुघा भवति। दुहः कप् घश्चेति कप्प्रत्ययः घादेशश्च॥८१॥

इतीति। इति वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य। तृन्निति तृन्प्रत्ययः। अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणं नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनी नाम अनिन्द्या अगर्ह्या प्रशस्ता धेनुः वनादाववृते प्रत्यागता। अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणमिति भावः ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनुं विशिनष्टि, ललाट इति। पल्लववत् स्निग्धा चासौ पाटला च। सन्ध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम्। ललाटे उदयो यस्य स ललाटोदयस्तम्, आभुग्नम् ईषद्वक्रम्। आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपीत्यमरः। उदितश्चेति निष्ठातस्य नत्वम्। श्वेतरोमाण्येव अङ्कस्तं बिभ्रती नवं शशिनं बिभ्रती सन्ध्येव स्थिता॥८३॥

प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्त्तिना ॥ ८४ ॥
रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥
तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥
अदूरवर्त्तिनीं सिद्धिं राजन् विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्त्तित एव यत् ॥ ८७ ॥
वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

भुवमिति । कोष्णेन किञ्चिदुष्णेन । कवञ्चोष्णे इति चकारात् कादेशः । अवभृथादपि अवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । पूतं पवित्रं मेध्यञ्चेत्यमरः । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्त्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिस्यन्दनेन भुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती कुण्डमिव ऊधः आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी । ऊधस्तु क्लीवमापीनमित्यमरः । ऊधसोऽनङित्यनङादेशः । बहुव्रीहेरूधसो ङीषिति ङीष् ॥ ८४ ॥

रज इति । खुरोद्धूतैरन्तिकात् समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया चेति चकारात् पञ्चमी । रजसां कणैः महीं क्षियते ईष्टे इति महीक्षित् तस्य तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्यं स्नानमुक्तं, उक्तञ्च मनुना, आग्नेयम् भस्मना स्नानमवगाह्यन्तु वारुणम् । आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजःस्मृतमिति ॥ ८५ ॥

तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञः तपोनिधिर्वशिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां, तां धेनुं दृष्ट्वा आशंसितं मनोरथः । नपुंसके भावे क्तः । तत्रावन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य तम् अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

अदूरेति । हे राजन् आत्मनः कार्य्यस्य सिद्धिम् अदूरवर्त्तिनीं शीघ्रभाविनीं विगणय विद्धि, यद्यस्मात् कारणात् कल्याणी मङ्गलमूर्त्तिः । बह्वादिभ्यश्चेति ङीप् । इयं धेनुः नाम्नि कीर्त्तिते कथिते सत्येव उपस्थिता ॥ ८७ ॥

वन्येति । वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य तथाभूतः सन् इमां गां शश्वत् सदा आप्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः । आत्मनस्तव कर्त्तुरनुगमनेनानुसरणेन अभ्यसनेन अनुष्ठानाभ्यासेन विद्यामिव प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्त्तुमर्हसि ॥ ८८ ॥

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः॥ ८९॥
वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात्।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि॥ ९०॥
इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्य्यापरो भव।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्॥ ९१॥
तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान् सपरिग्रहः।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः॥ ९२॥
अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशाम्पतिम्।

गवनुसरणप्रकारमाह प्रस्थितेति। अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि। समवप्रविभ्यः स्थ इत्यात्मनेपदम्। स्थितायां निवृत्तगतिकायाम् स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु इत्यर्थः। निषण्णायाम् उपविष्टायां निषीद उपविश। विध्यर्थे लोट्। पीतम् अम्भो यया तस्यां पीताम्भसि सत्याम् अपः पिबेः पिब॥ ८९॥

वधूरिति। वधूर्जाया च भक्तिमती प्रयता सती गन्धादिभिरर्च्चितामेनां गां प्रातः आ तपोवनात्, आङ् मर्य्यादायां पदद्वयञ्चैतत्। अन्वेतु अनुगच्छतु सायमपि प्रत्युद्व्रजेत् प्रत्युद्गच्छेत्। विध्यर्थे लिङ्॥ ९०॥

इतीति। इत्यनेन प्रकारेण त्वम् आ प्रसादात् प्रसादपर्य्यन्तम्। आङ् मर्य्यादाभिविध्योरित्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम्। अस्या धेनोः परिचर्य्यापरः शुश्रूषापरो भव, ते तव अविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु। अव्ययं विभक्तीत्यादिनार्थाभावेऽव्ययीभावः। पितेव पुत्रिणां सत्पुत्रवताम्। प्रसंशायामिनिप्रत्ययः। धुर्य्यग्रे स्थेयास्तिष्ठेः। आशीरर्थे लिङ् एर्लिङीत्याकारस्यैकारादेशः। त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः॥ ९१॥

तथेति। देशज्ञः देशोऽग्निसन्निधिः, कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षं ज्ञानमव्याहतमिति जानन् अतएव प्रीतिमान् शिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः। पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहा इत्यमरः। आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशम् आज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार॥ ९२॥

अथेति। अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान्। विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञ इत्य-

सूनुः सूनृतवाक् स्रष्टुर्विससर्ज्जोदितश्रियम् ॥ ९३ ॥

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित् कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ वशिष्ठाश्रम-
गमनो नाम प्रथमः सर्गः ।

मरः । सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक् । प्रियं सत्यञ्च सूनृतमिति हलायुधः । स्रष्टुः सूनुः ब्रह्मपुत्रो मुनिः । अनेन प्रकृतकार्य्यनिर्व्वाहकत्वं सूचयति । उदितश्रियं विशाम्पतिं मनुजेश्वरम् । द्वौ विशौ वैश्यमनुजावित्यमरः । संवेशाय निद्रायै । स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपीत्यमरः । विससर्ज आज्ञापयामास॥९३॥

सत्यामपीति । कल्पवित् व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः तपःसिद्धौ सत्यामपि तपसैव राजयोग्याहारसम्पादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः नियमापेक्षया तदा प्रभृत्येव व्रतचर्य्यापेक्षया अस्य राज्ञो वन्यामेव संविधीयतेऽनयेति संविधां कुशादिशयन-सामग्रीम् । आतश्चोपसर्ग इति कप्रत्ययः । अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामिति कर्म्मादार्थत्वम् । कल्पयामास सम्पादयामास ॥ ९४ ॥

निर्दिष्टामिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वशिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशालामध्यास्याधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः । अधिशीङित्यादिना आधारस्य कर्म्मत्वं, कर्म्मणि द्वितीया । प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् तस्य वशिष्ठस्य शिष्याणामध्ययनेन अपररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास । अपररात्रे अध्य-यने मनुः, निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् । न चापररात्रमधीत्य पुनः स्वपेदिति गौतमश्च । प्रहर्षणीवृत्तमेतत्, तदुक्तं म्नौज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्ष-णीयम् ॥ ९५ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशटीकायां सञ्जीवनीसमाख्यायां प्रथमः सर्गः ॥

रघुवंशम्।

द्वितीयः सर्गः।

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते
जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां
यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांशु-
मपांशुलानां धुरि कीर्त्तनीया।

आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासेव दासीकृतदुग्धसिन्धुम्।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दाननसुन्दरि त्वाम् ॥

अथेति। अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातःकाले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या तथोक्तां पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः। अर्श आदिभ्योऽजित्यच्प्रत्ययः। पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणा इति महाभाष्ये दर्शनात्। पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्ताम् ऋषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम्। क्रियार्थोपपदेत्यादिना चतुर्थी। मुमोच मुक्तवान्। जायापदसामर्थ्यात् सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम्। तथाहि श्रुतिः, पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। तस्यां पुन र्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनरिति। यशोधन इत्यनेन पुत्रवतां कीर्त्तिलोभात् राजानं गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते। अस्मिन् सर्गे वृत्तमुपजातिः, अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता इति ॥ १ ॥

मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी
श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥
निवर्त्य राजा दयितां दयालु-
स्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां
जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥
व्रताय तेनानुचरेण धेनो-
र्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।

तस्या इति। पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः। स्वैरिणी पांसुलेत्यमरः। सिध्मादिभ्यश्चेति लच्प्रत्ययः। अपांसुलानां पतिव्रतानां धुरि अग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया मनुष्येश्वरधर्मपत्नी खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम्। रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रज इत्यमरः। तस्या धेनोः मार्गं स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिवान्वगच्छदनुसृतवती। यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा सापि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः। धर्मपत्नीत्यत्र अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः, प्रकृतिविकाराभावात्। पांसुल-पदप्रयुक्तात्वपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ॥ २ ॥

निवर्त्येति। दयालुः कारुणिकः। स्याद्दयालुः कारुणिक इत्यमरः। स्पृहि-गृहीत्यादिना आलुच्प्रत्ययः। यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः। सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपीति विश्वः। राजा तां दयितां निवर्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीं, धरन्तीति धराः पचाद्यच्। पयसां धराः पयोधराः स्तनाः। स्त्रीस्तनौ द्वौ पयोधरावित्यमरः। अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः। अभूततद्भावे च्विः कुगतिप्रादय इति समासः। पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्राः यस्याः ताम्। अनेकमन्यपदार्थ इत्यनेकपदग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः। गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष भूरक्षणप्रयत्नेनैव ररक्षेति भावः। धेनुपक्षे पयसा दुग्धेन अधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम् दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ॥ ३ ॥

व्रतायेति। व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः। तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गः अनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्त्तितः। शेषत्वं सुदक्षिणापेक्षया। कथं तर्हि आत्मरक्षणमत आह न चेति तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा च

न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा
स्ववीर्य्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥
आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां
कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः
सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां
निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥
स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं
तेजोविशेषानुमितां दधानः ।

अन्यतः पुरुषान्तरान्न वृतः हि यस्मात् कारणात् मनोः प्रसूयतइति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्य्यगुप्ता स्ववीर्य्येणैव रक्षिताः न तु रूपरक्षित्राह्रकस्य परापेक्षेति भावः ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वरः । येनेष्ट राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राडित्यमरः । स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः तृणानां कवलैर्ग्रासैः । ग्रासस्तु कवलार्थकइत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनैः दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । दंशस्तु वनमक्षिकेत्यमरः । अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषासक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । तत्परे प्रसितासक्ताविष्टार्थइत्यमरः ॥ ५ ॥

स्थितइति । भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । प्रयातां प्रस्थिताम् उच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् उपविष्टामित्यर्थः । भाषायां सदवसश्रुवइति क्वसुप्रत्ययः उगितश्चेति ङीप् । आसनबन्धे उपवेशने धीरः स्थितः उपविष्टः सन्नित्यर्थः जलमाददानां पिवन्तीं जलाभिलाषी पिवन्नित्यर्थः, इत्थं छायेवान्वगच्छत् अनुसृतवान् ॥ ६ ॥

सइति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां तथा-

आसीदनाविष्कृतदानराजि-
रन्तर्मदावस्थइव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥
लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशै-
रधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनो-
र्वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्वान् ॥ ८ ॥
विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य
पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदाना-
मालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ९ ॥

भूतामपि तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमितां सर्वथा राजा एवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा अनाविष्कृतदानराजिः वहिरप्रकटितमदरेखः अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः तथाभूतोद्विपेन्द्रइव आसीत् ॥ ७ ॥

लतेति। लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिताः उन्नमय्य ग्रथिताः ये केशास्तैरुपलक्षितः। इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया। स राजा अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् धनुषश्चेत्यनङादेशः। मुनिहोमधेनोः रक्षापदेशात् रक्षणव्याजात् वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून्। द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्वमस्त्री तु जन्तुष्वित्यमरः। विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम्। वने च वनवह्नौ च दवोदावइहेष्यतइति यादवः। विचचार वने चचारेत्यर्थः। देशकालाध्वगन्तव्याः कर्म्मसंज्ञाह्यकर्म्मणामिति दावस्य कर्म्मत्वम् ॥८॥

विसृष्टेत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महार्महिमतया द्रुमादयोपि राजोपचारं चक्रुरित्याह

विसृष्टेति। विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्त्तिनोजनाः येन तस्य पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य। प्रचेता वरुणः पाशीत्यमरः। अनुभावोऽनेन सूचितः। तस्य राज्ञः पार्श्वयोः द्रुमाः उन्मदानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम्। खगबाल्यादिनोर्वयइत्यमरः। विरावैः शब्दैः आलोकस्य शब्दं वाचकम् आलोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः। आलोकोजयशब्दः स्यादिति विश्वः। उदीरयामासुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं
तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम्।
अवाकिरन् बाललताः प्रसूनै-
राचारलाजैरिव पौरकन्याः॥ १०॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयार्द्रभाव-
माख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां
प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः॥ ११॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः
कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चै-
रुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥ १२॥

मरुदिति। मरुत्प्रयुक्ताः वायुना प्रेरिताः बाललताः आरात् समीपेऽभिवर्त्तमानम्। आरात् दूरसमीपयोरित्यमरः। मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः सद्वाभातीति मरुत्सखाभम्। आतश्चोपसर्गइति कप्रत्ययः। अर्च्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्याः आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव अवाकिरन् तस्योपरि विचिक्षिपुरित्यर्थः। सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः॥ १०॥

धनुर्भृतइति। धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः एतेन भयसम्भावना दर्शिता तथापि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः दयया कृपारसेनार्द्रभावोऽभिप्रायोयस्य तद्दयार्द्रभावं तदाख्यातं दयार्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः। भावः सत्वस्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मस्वित्यमरः। तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्यो हरिण्यः अक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः। विमलं कलुषीभवच्च चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुञ्चेति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विस्रब्धं ददृशुरित्यर्थः॥ ११॥

सइति। स दिलीपः मारुतपूर्णरन्ध्रैः अतएव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः। वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताइत्यमरः। वंशः शुषिरवाद्यविशेषः। वंशादिकन्तु शुषिरमित्यमरः। आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणा-
मनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्र-
माचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥
शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्नि-
रासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे
तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥
सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि
कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।

यस्मिन् कर्मणि तत्तथा कुञ्जेषु लतागृहेषु। निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदर इत्यमरः। वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं यशः शुश्राव श्रुतवान् ॥ १२ ॥

पृक्तइति। गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणाम्। वारिप्रवाहे निर्झरोझर इत्यमरः। तुषारैः सीकरैः। तुषारौ हिमसीकराविति शाश्वतः। पृक्तः संपृक्तः अनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीति आकम्पितपुष्पगन्धी ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् एवं शीतोमन्दः सुरभिः पवनो वायुः अनापपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् अतएवातपक्लान्तम् आचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे। आचारपूतत्वात् स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ॥ १३ ॥

शशामेति। गोप्तरि तस्मिन् राज्ञि वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनापि दवाग्निर्वनाग्निः। दवदावौ वनानले इति हैमः। शशाम फलानां पुष्पाणाञ्च वृद्धिः विशेष्यते इति विशेषा अतिशयिता आसीत्। कर्म्मार्थे घञ् प्रत्ययः। सत्त्वेषु जन्तुषु मध्ये। यतश्च निर्द्धारणेइति सप्तमी। अधिकः प्रबलोव्याघ्रादिः ऊनं दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ॥ १४ ॥

सञ्चारपूतानीति। पल्लवस्य रागोवर्णः पल्लवरागः। रागोऽनुरक्तौ मात्सर्य्ये क्लेशादौ लोहितादिष्विति शाश्वतः। सइव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य सूर्य्यस्य प्रभा कान्तिः। पतङ्गः पक्षिसूर्य्ययोरिति शाश्वतः। मुनेर्धेनुश्च दिगन्तराणि

प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा
प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियार्था-
मन्वक् ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सतां मतेन
श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथा-
न्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि
श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

दिशामवकाशान्। अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये इत्यमरः। सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय धेनुपक्षे आलयाय गन्तुं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

तमिति। मध्यमलोकपालोभूपालः देवतापित्रतिथीनां क्रियाः यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां तां धेनुमन्वक् अनुपदं ययौ। अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीवमव्ययमित्यमरः। सतां मतेन सद्भिर्मान्येन। गतिबुद्धीत्यादिना वर्त्तमाने क्तः, क्तस्य च वर्त्तमानइति षष्ठी। तेन राज्ञा उपपन्ना युक्ता सा धेनुः सतां मतेन विधिना अनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात् प्रत्यक्षा श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिरिव बभौच ॥ १६ ॥

सइति। स राजा पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्यः उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां यूथानि कुलानि येषु तानि वर्हाण्येषां सन्तीति वर्हिणा मयूराः। मयूरो वर्हिणोवर्हीत्यमरः। फलवर्हाभ्यामिन प्रत्ययोवक्तव्यः। आवासवृक्षाणामुन्मुखाः वर्हिणा येषु तानि श्यामायमानानि वराहवर्हिणादिमलिनिम्ना अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि। लोहितादिडाज्भ्यः क्यषिति क्यष्प्रत्ययः। वा क्यष इत्यात्मनेपदे शानच्। मृगैरध्यासिताः अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि। शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्याम देशाः। शाद्वलः शादहरितइत्यमरः। शादः कर्द्दमशष्पयोरिति विश्वः। नड़शादड्ड्वलजिति ड्वलच्प्रत्ययः। वनानि पश्यन् ययौ ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नात्
गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां
तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

वशिष्ठधेनोरनुयायिनन्त-
मावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्ति-
रुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन
प्रत्युद्गता पार्थिवधर्म्मपत्न्या ।
तदन्तरे सा विरराज धेनु-
र्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

आपीनेति । गृष्टिः सकृत् प्रसूता गौः । गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौरिति हलायुधः । नरेन्द्रश्च उभौ यथाक्रमम् आपीनमूधः । ऊधस्तु क्लीवमापीनमित्यमरः । आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात् प्रयासात् वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थाः तं तपोवनावृत्तिपथम् । ऋक्पूरित्यादिना समासान्त अप्रत्ययः । अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ ॥ १८ ॥

वशिष्ठेति । वशिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्त्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः लोचनाभ्यां करणाभ्यामुपोषिताभ्यामिव उपवासोभोजननिवृत्तिः तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितः अतितृष्णया जलमधिकं पिपासति तद्वदतितृष्णया अधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ॥ १९ ॥

पुरस्कृतेति । वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्याः ईश्वरेण । तस्येश्वर इत्यञ्प्रत्ययः । पुरस्कृता अग्रतःकृता धर्मस्य पत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः । अश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः । पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्योर्मध्ये दिनक्षपयोः दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव रराज ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां
सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता ।
प्रणम्य चानर्च्च विशालमस्याः
शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्य्यां
प्रत्यग्रहीत् सेति ननन्दतुस्तौ ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां
प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ
समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं
भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । अक्षतानां पात्रेण सह वर्त्तेते इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च अस्याः धेन्वाः विशालं शृङ्गान्तरं शृङ्गमध्यम् अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव आनर्च्च अर्च्चयामास । अर्च्चते भौवादिकाल्लिट् ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकेति । सा धेनुः वत्सोत्सुकापि वत्से उत्कण्ठितापि स्तिमिता निश्चला सती सपर्य्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः । पूजास्वीकारस्य आनन्दहेतुत्वमाह भक्त्येति । पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्याः धेन्वाः विधेव विधा प्रकारो येषां महतामित्यर्थः प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि फलानि येषां तानि हि । अविलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

गुरोरिति । भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सह वर्त्तमानस्य गुरोरुभयोरपीत्यर्थः । भार्य्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य सान्ध्यं सन्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानञ्च समाप्य दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । तृन्निति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात् कामधेनुत्वं गम्यते ॥ २३ ॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपा-
मन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनु संविवेश
सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं
समं महिष्या महनीयकीर्त्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य
दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं
जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं
गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥

तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नीद्वितीयः सन् उभावपीत्यर्थः अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामनु अनन्तरं संविवेश सुष्वाप प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठत् उत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्य्यमुच्यते क्रमशब्देन धेनुव्यापाराणामित्यपौनरुक्त्यम् । कर्म्मप्रवचनीययुक्ते इति द्वितीया ॥ २४ ॥

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या समम् अभिषिक्तपत्न्या सह । कृताभिषेका महिषीत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्त्तिर्यस्य तस्य दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्र उचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनानि एकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ॥२५॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन् दिने द्वाविंशे दिने । सद्यः परुत्परारीत्यादिना निपातनादव्ययम् । अद्यात्राह्न्यथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयइत्यमरः । मुनिहोमधेनुः आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढ़भक्तित्वम् । भावोऽभिप्राय आशयइति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनइत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतत्यस्मिन्निति प्रपातः

सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रै-
रित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण
प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधो-
र्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां
निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं
धनुर्धरः केशरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां
लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

पतनप्रदेशः गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढ़ानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिन् तत् । शष्पं बालतृणं घासइत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ॥ २६ ॥

सेति । सा धेनु र्हिंस्रैः व्याघ्रादिभिर्मनसापि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेण अलक्षितमभ्युत्पतनमाभिरुख्येनोत्पतनं यस्य सः सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । प्रसह्य तु हठार्थकमित्यमरः । चकर्ष किलेत्यलीके ॥ २७ ॥

तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घं तस्या इदं तदीयमाक्रन्दितमार्त्तघोषणम् आर्त्तेष्वापन्नेषु साधोर्हितकारिणोनृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिं रश्मिषु । किरणप्रग्रहौ रश्मी इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्त्तयामास ॥ २८ ॥

सइति । धनुर्धरः सः नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम् । क्वसुश्चेति क्वसुप्रत्ययः । केशरिणं सिंहं सानुमतोऽद्रेः धातोर्गैरिकस्य विकारोधातुमयी तस्यामधित्यकायां ऊर्द्ध्वभूमौ । उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्द्ध्वमधित्यकेत्यमरः । उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोरिति त्यकन्प्रत्ययः । प्रफुल्लो विकसितस्तम् । फुल्ल

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी
वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गा-
दुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः॥ ३०॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तु-
र्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव
चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे॥ ३१॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्यु-
रभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः।

विकसने इति धातोः पचाद्यच्। लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श। प्रफुल्लमिति तकार-पाठे ञि फला विशरणे इतिधातोः कर्त्तरि क्तः उत्परस्यात इत्युकारादेशः॥२९॥

तत इति। ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी सिंहगामी शरणं रक्षणम्। शरणं रक्षणे गृहे इति यादवः। शरणे साधुः शरण्यः। तत्र साधुरिति यत्प्रत्ययः। प्रसभेन बलात्कारेण हृताः अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिषङ्गः जातपराभवः सन्। अभिषङ्गः पराभव इत्यमरः। वध्यस्य वधार्हस्य। दण्डादिभ्यो यदिति यत्प्रत्ययः। मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात् तूणीरात्। तूणोपासंगतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोरित्यमरः। शरमुद्धर्तुमैच्छत्॥ ३०॥

वामेति। प्रहर्त्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करो नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन्। कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद्गुप्ताकारे युधिष्ठिर इति विश्वः। सायकस्य पुङ्खे एव कर्त्तर्य्याख्ये मूलप्रदेशे। कर्त्तरी पुङ्ख इति यादवः। सक्ताङ्गुलिः सन् चित्रार्पितारम्भः चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इवावतस्थे॥ ३१॥

बाह्विति। बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन। प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भ इत्यमरः। विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्य्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव। भोगी राजभुजङ्गयोरिति शाश्वतः। अभ्यर्णमन्तिकम्। उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा-

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्त-
र्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्य्यः ॥ ३२ ॥

तमार्य्यगृह्यं निगृहीतधेनु-
र्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन् विस्मितमात्मवृत्तौ
सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल तव श्रमेण
प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः
शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

भ्यग्रा अध्यभितोऽव्ययमित्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजो-भिरन्तरदह्यत । अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपीति यादवः ॥ ३२ ॥

तमिति । निगृहीता पीड़िता धेनुर्येन स सिंहः आर्य्याणां सतां गृह्यं पक्षम् । पदास्वैरिवाह्यापक्ष्येषु चेति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्त्तकं सिंह इव उरुसत्त्वो महाबलस्तम् आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारे अभूतपूर्व-त्वाद्विस्मितम् । कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन् विस्मयमाश्चर्य्यं प्रापयन् निजगाद । स्मिङीषद्धसनइति धातोर्णिचि वृद्धौ आया-देशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । विस्मापयन्निति पाठे पुगा-गमभावं वक्तव्यं तच्च चिन्त्यं नित्यं स्मयतेरिति हेतुभयविवक्षायामेवेति भीस्म्योर्हेतु-भय इत्यात्मनेपदे विस्मापयमानइति स्यात् तस्मात् मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूपं सिद्धं करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ॥ ३३ ॥

अलमिति । हे महीपाल तव श्रमेणालं साध्याभावात् श्रमेन कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया श्रमस्य करणत्वात् तृतीया, उक्तञ्च न्यासोद्द्योते न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं करणभावस्य अपि तर्हि गम्यमा-नापीति । अलं भूषणपर्य्याप्तिशक्तिवारणवाचकमित्यमरः । इतोऽस्मिन् मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् तथाहि पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं मारुतस्य रंहोवेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ॥ ३४ ॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः
पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः
कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं
पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां
स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचित्
वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच
सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । चामीकरञ्च शुभ्रञ्च गौरं भाङ्गमं-नीषिणइति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोः आरोढुमिच्छोः । तस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्त्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्त्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तं निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । पृथिवी सलिलं तेजोवायुराकाशमेव च । सूर्य्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्ट मूर्त्तय इति यादवः ॥ ३५ ॥

अमुमिति । पुरोऽग्रतोमुं देवदारुं पश्यसीति काकुः । असौ देवदारुः वृषभोध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूततद्भावे च्विः । योदेवदारुः स्कन्दस्य मातुः गौर्य्याः हेम्नः कुम्भएव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः स्वादज्ञः । स्कन्दपक्षे हेमकुम्भइव स्तनइति विग्रहः पयसां क्षीराणाम् । पयः क्षीरं पयोऽम्बु चेत्यमरः । स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥३६॥

कण्डूयमानेनेति । कदाचित् कटं कपोलं कण्डूयमानेन कषता । कण्ड्वादिभ्योयगिति यक् ततः शानच् । वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतं सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः । पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरित्यमरः । सत्सूद्विषेत्यादिना क्विप् । तमिवैनं देवदारुं शुशोच ॥३७॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां
त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय
सिंहत्वमङ्कागतसत्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै
प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे
सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्त्तस्व विहाय लज्जां
गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं
न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥

तदेति । तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन अङ्कं समीपम् आगताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मित् तत् । अङ्कः समीप उत्सङ्गचिह्ने स्थानापराधयोरिति केशवः । सिंहत्वं विधाय अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः ॥ ३८ ॥

तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्द्दिष्टः कालो भोजनवेला यस्याः सा उपस्थिता प्राप्ता एषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं सुरद्विषो राहोः चान्द्रमसी सुधेव क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य अङ्कागतसत्त्ववृत्तेः मे मम सिंहस्य तृप्त्यै अलं पर्य्याप्ता । नमःस्वस्तीत्यादिना चतुर्थी ॥ ३९ ॥

स इति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवान् त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽसि । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह शस्त्रेणेति, यत् रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । शस्त्रमायुधलोहयोरित्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षं रक्षितुमशक्यमित्यर्थः तत् रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशोन क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं न दोषायेति भावः ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो
मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावा-
दात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे
तत्पूर्व्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन
वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र कामं
हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद
सर्व्वं भवान् भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

इतीति । पुरुषाणामधिराजोनृपः इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचोनिशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात् प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन् आत्मनि विषये अवज्ञामपमानं शिथिलीचकार तत्याजेत्यर्थः अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदनं प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ॥ ४१ ॥

प्रतीति । सएव पूर्वः प्रथमः भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिन् तत्पूर्व्वभङ्गे इषु-प्रयोगे वितथप्रयत्नोविफलप्रयासोऽतएव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन् मोक्तुमिच्छन् अम्बकं लोचनम् । दृग्दृष्टिनेत्रलोचन चक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणीति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बकोहरस्तस्य वीक्षणेन जडीकृतोनिष्पन्दीकृतः वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतइति वक्तव्यमिति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । सइव स्थितोनृपः एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च । बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत् प्रभुरिति महाभारते ॥ ४२ ॥

संरुद्धेति । हे मृगेन्द्र संरुद्धचेष्टस्य प्रतिरुद्धव्यापारस्य मम तत् वचोवाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयं यत् वचः स त्वं मदीयेनेत्यादिकम् अहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्य ईश्वरकिङ्करत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां
सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्ने-
र्नश्यत् पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं
देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा
विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां
दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्व्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती
किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥

हास्यमिश्याह अन्तरिति हि यतः भवान् प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या वहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति । विदोलटोवेति णलादेशः । अतोऽहमभिधास्ये वक्ष्यामि वचइति प्रकृतं कर्म्म संबध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति अतस्तु मौनमेव भूषणं त्वन्तु वाङ्मनसयोरेकविषएवार्यमिति जानासि अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

मान्यइति । प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः सईश्वरो मे मम मान्यः पूज्योऽलङ्घ्यशासनइत्यर्थः । शासनञ्च सिंहत्वमङ्कागतसत्ववृत्तीत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यतां नेत्याह गुरोरपीति पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविःसाधनत्वं सूचयति ॥ ४४ ॥

स इति । सोऽङ्कागतसत्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्त्तयितु सम्पादयितुं प्रसीद दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सोयस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ॥ ४५ ॥

अथेति । अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्ती अनुचरः स सिंहो गिरे र्गह्वराणां गुहानाम् । देवखातविले गुहा गह्वर मित्यमरः । अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥ ४७ ॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौ-
रेका भवेत् स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन् पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः
प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि ॥ ४८ ॥

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्
गुरोः कृशानुप्रतिमाद्विभेषि ।

शकलानि खण्डानि कुर्वन् निरस्यन्नित्यर्थः किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं न्टपं भूयोबभाषे । हासकारणम् अल्पस्य हेतो र्बहु हातुमिच्छन्निति वच्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ४६॥

एकेति । एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वं नवं वयो यौवनम् इदं कान्तं रम्यं वपुश्च इत्येवं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेनाल्पफलायेत्यर्थः । षष्ठी हेतुप्रयोगइति षष्ठी । हातुं त्यक्तु मिच्छन् त्वं विचारे कार्य्याकार्य्यविमर्शे मूढोमूर्खः मे मम प्रतिभासि ॥ ४७ ॥

भूतेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । कृपा दयानुकम्पा स्यादित्यमरः । कृपैव वर्त्तते चेदित्यर्थः तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सति इयमेका गौः स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेज्जीवेदित्यर्थः । स्वस्त्याशीःक्षेमपुण्यादावित्यमरः । हे प्रजानाथ जीवन् पुनः पितेव प्रजाः उपप्लवेभ्योविघ्नेभ्यः शश्वत् सदा । पुनः-सदार्थयोः शश्वदित्यमरः । पासि रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनैकधेनुरक्षणाद्वरं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

न धर्म्मलोपादियं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह ।

अथेति । अथेति पक्षान्तरे अथवा एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यासइतिज्ञेयम् । अतएवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् । चण्डस्त्वत्यन्तकोपनइत्यमरः । अतएव कृशानुः प्रतिमा उपमा यस्य तस्मादग्निकल्पाद्गुरोर्बिभेषीति काकुः । भीतार्थानां भयहेतुरित्यपादानात् पञ्चमी । अल्प-

शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं
गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥ ॥ ४८ ॥

तदृक्ष कल्याणपरम्पराणां
भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम् ।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-
मृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः ॥ ५० ॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे
प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः
प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ ५१ ॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं
मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच ।

वित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः। मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधीत्यमरः। घटा इव ऊधांसि यासां ता घटोघ्नीः। ऊधसोऽनङित्यनङादेशः बहुव्रीहेरूधसो ङीषिति ङीष्। कोटिशः गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता। विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनमित्यमरः। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः ॥ ४८॥

तदिति। तत्तस्मात्कारणात् कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम्। कर्म्मणि षष्ठी। ऊर्ज्जो बलमस्यास्तीति ऊर्ज्जस्वलम्। ज्योत्स्नातमिस्रेत्यादिना वलच्प्रत्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्य आत्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यादित्याह महीतलेति ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नम् ऐन्द्रमिन्द्रसम्बन्धि पदं स्थानमाहुः स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः ॥ ५० ॥

एतावदिति। मृगेन्द्रे एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयः शैलोपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेवेत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थत्वात् द्विकर्म्मकः ब्रुविस्तु द्विकर्म्मकेषु पठितः तदुक्तं दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञा मुपयोगनिमित्तमपूर्व्वविधौ। ब्रुविशासिगणेन च यत्सचते तदकीर्त्तित माचरितं कविनेति ॥ ५१ ॥

निशम्येति। देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो

धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या
निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः ॥ ५२ ॥
क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः
प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥
कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षे-
र्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।

राजा पुनरप्युवाच किम्भूतः सन् तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम् । नपुंसके भावे क्तः । तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षजिति षच् षिद्गौरादिभ्यश्चेति ङीष् । किंवा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः धेन्वा निरीक्ष्यमाणोऽतएव सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र द्विवचनविभज्येत्यादिना सुशब्दात्तरप् किमेतिङव्ययेत्यादिना आम्प्रत्ययः तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यव्यय संज्ञा ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह

क्षतादिति । क्षणु हिंसायामिति धातोः सम्पदादित्वात् क्विप् गमादीनामिति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धं क्षतोनाशात् त्रायतइति क्षत्रः । सुपीति योगविभागात् कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः क्षत्रस्य क्षत्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्रशब्दइत्यर्थः क्षतात् त्रायते इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु नाश्वकर्णादिवत् केवलरूढः किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढइत्यर्थः । ततः किमित्यतआह तस्य क्षत्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतस्त्राणमकुर्व्वतः पुंसो राज्येन किम् उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणेइत्यमरः । ज्योत्स्नातमिस्रेत्यादिना मलीमसशब्दोनिपातितः । मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमित्यमरः । प्राणैर्वा किं निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेनैकातपत्रमित्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रत्युक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ५३ ॥

अथैकधेनोरित्यत्रोत्तरमाह

कथमिति । अनुनयः क्रोधापनयः चकारोवाकारार्थः । महर्षेरनुनयोवा

इमामनूनां सुरभेरवेहि
रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयास्याम् ॥ ५४ ॥
सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण
न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं
भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥ ५५ ॥
भवानपीदं परवानवैति
महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे
विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

अन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विस्राणनात् दानात् । त्यागोवितरणं दान-मुत्सर्ज्जनविसर्ज्जने । विस्राणनं वितरण मित्यमरः । कथं नु शक्यो न शक्यइत्यर्थः । अत्र हेतुमाह इमां गां सुरभेः कामधेनोः । पञ्चमी विभक्तेइति पञ्चमी । अनू-नामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवोऽभूदित्याह रुद्रौजसेति अस्यां गवि त्वया कर्त्र्या प्रहृतन्तु प्रहारस्तु । नपुंसके भावेक्तः । रुद्रौजसा ईश्वरसामर्थ्येन नतु स्वयमित्यर्थः । सप्तम्यधिकरणे चेति सप्तमी ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्यत्राह

सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियते अनेन परगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतिशीर्षकम् । एरजिति अच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयस्तेन भवत्तः त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता युक्तेत्यर्थः । धर्म्म-पथ्यर्थेत्यादिना यत् प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् मुनेः क्रिया होमादिः सएवार्थः प्रयोजनं सचालुप्तोभवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरु-धनं संरक्ष्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह

भवानिति । परवान् स्वामिपरतन्त्रोभवानपि । परतन्त्रः पराधीनः परवा-न्नाथवानपीत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति भवता अनुभूयतएवेत्यर्थः । शेषे प्रथ-मइति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह हि यस्माद्धेतोः । हि हेतावधारणइत्य-

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहु-
र्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग नार्हसि त्वं
सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः
सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।

मरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदंशब्दोक्तमर्थं दर्शयति स्थातुमिति । रक्ष्यं वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन नियुक्तेनेति शेषः नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं नहि ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्य्यमित्याह

किमिति । किमपि किंवा अहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन् दयालुः कारुणिको भव । स्याद्दयालुः कारुणिकः इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेश अत आह एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खलु अनपेक्षैव । आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यत इति विश्वः ॥ ५७ ॥

सौहार्द्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह

सम्बन्धमिति । सम्बन्धं सख्यम् आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । स्यादाभाषणमालाप इत्यमरः । स तादृक् सम्बन्धो वनान्ते सङ्गतयोर्नौ आवयोर्वृत्तो जातः तत्ततो हेतोः हे भूतनाथानुग शिवानुचर, एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति अतएव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम् । प्रणयास्त्वमी विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाण इत्यमरः । विहन्तुं नार्हसि ॥ ५८ ॥

तथेति । तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय । कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुरिति शाश्वतः । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स

स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेह-
मुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य ॥५९॥
तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजाना-
मुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः
पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥
उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं
वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां
गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥
तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो
मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।

दिलीपो न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् स्वदेहम् आमिषस्य मांसस्य। पललं क्रव्यमामिषमित्यमरः। पिण्डं कवलमिव उपानयत् समर्पितवान्। एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ॥ ५९ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन् क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यतः उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य अधोमुखस्य। स्यादवाङप्यधोमुख इत्यमरः। प्रजानां पालयितुः राज्ञः उपर्युपरिष्टात्। उपर्युपरिष्टादितिनिपातः। विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठेति। राजा अमृतमिवाचरतीति अमृतायमानम् तत्। उपमानादाचार इति क्यङ् ततः शानच्। उत्थितमुत्पन्नं हे वत्स उत्तिष्ठ इति वचो निशम्य श्रुत्वा उत्थितः सन्। अस्तेः शतृप्रत्ययः। अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न ददर्श ॥ ६१ ॥

तमिति। विस्मितमाश्चर्यं गतं कर्त्तरि क्तः। तं दिलीपं धेनुरुवाच। किमित्यत आह हे साधो मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि ऋषिप्रभावात् मयि अन्तको यमोऽपि प्रहर्त्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्राघातुकाः। शरारुर्घातुको

ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि
प्रभुः प्रहर्त्तुं किमुतान्यहिंस्राः॥ ६२॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च
प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूति-
मवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥ ६३॥

ततः समानीय स मानितार्थी
हस्तौ स्वहस्तार्ज्जितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्त्तिं
सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥ ६४॥

सन्तानकामाय तथेति कामं
राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं
पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश॥ ६५॥

हिंस्र इत्यमरः। नमिकम्पीत्यादिना रप्रत्ययः। किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम्। बलवत् सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरइत्यमरः॥६२॥

भक्त्येति। हे पुत्र गुरौ भक्त्या मयि अनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीतास्मि। क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यमिति चतुर्थी। वरं देवेभ्योवरणीयम् अर्थम्। देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीवे मनाक् प्रियइत्यमरः। वृणीष्व स्वीकुरु। तथाहि मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं न अवेहि न विद्धि किन्तु प्रसन्नां मां कामान् दोग्धीति कामदुधा ता मवेहि। दुहः कप् घश्चेति कप्प्रत्ययः॥ ६३॥

ततइति। ततो मानितार्थी स्वहस्तार्जितोवीरइति शब्दोयेन तं एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तं स राजा हस्तौ समानीय सन्धाय अञ्जलिं बद्धेत्यर्थः वंशस्य कर्त्तारं प्रवर्त्तयितारम् अतएव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः। अनन्तकीर्त्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे॥ ६४॥

सन्तानेति। सा पयस्विनी गौः सन्तानं कामयतइति सन्तानकामः कर्म्म-

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेष-
मृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं
षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥ ६६ ॥

इत्थं क्षितीशेन वशिष्ठधेनु-
र्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव ।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः
प्रत्याययावाश्रममश्रमेण ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं
गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै
शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥ ६८ ॥

ल्यप् । तस्मै राज्ञे तथेति काम्यत इति कामोवरः । कर्म्मार्थे धञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय हे पुत्र मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्म्मिते पात्रे दुग्ध्वा उपभुङ्क्ष्व पिबेति उपयुङ्क्ष्वेति वा पाठः तमादिदेश आज्ञापितवती ॥ ६५ ॥

वत्सस्येति । हे मातः वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषं वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः होम एव अर्थस्तस्य विधिरनुष्ठानं तस्य शेषं होमावशिष्ट मित्यर्थः तव ऊधसि भवम् औधस्यं क्षीरम् । शरीरावयवाच्चेति यत् प्रत्ययः । रक्षितायाउर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि ॥ ६६ ॥

इत्थमिति । इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वशिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा पूर्व्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्येनया विज्ञापनया प्रीततरा अतिसन्तुष्टा बभूव, तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवतात् हिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेः गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्याययौ आगताच ॥ ६७ ॥

तस्या इति । प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात् पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात् प्रियायै शशंस । कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः नचेह तदस्ति किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात् पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा
सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम् ।
पपौ वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः
शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते
प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं
प्रस्थापयामास वशी वशिष्ठः ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताश-
मनन्तरं भर्त्तुररुन्धतीञ्च ।
धेनुं सवत्साञ्च नृपः प्रतस्थे
सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

सइति । अनिन्दितात्मा अगर्हितस्वभावः सत्सु वत्सलः प्रेमवान् सद्वत्सलः । वत्सांसाभ्यां कामबले इति लच्प्रत्ययः । वशिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं मूर्त्तं परिच्छिन्नं यशइवातितृष्णः सन् पपौ ॥ ६९ ॥

प्रातरिति । वशी वशिष्ठः प्रातः यथोक्तस्य पूर्व्वोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्या-ङ्गभूता या पारणा तस्याः अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमि-त्यर्थः । कालाट्ठञिति ठञ् प्रत्ययः । यथाकथञ्चित् गुणवृत्त्यापि काले वर्त्तमाना-त्तत्प्रत्यय इष्यतइति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यते अनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावह-माशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पती स्वां राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास ॥७०॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपः हुतं तर्पितं हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः कर्म्मण्यण् । तं भर्त्तुर्मुनेरनन्तरं प्रदक्षिणानन्तर मित्यर्थः अरुन्धतीञ्च सवत्सां धेनुञ्च प्रदक्षिणी-कृत्य । प्रगतोदक्षिणं प्रदक्षिणं तिष्ठद्गुप्रभृतीनि चेत्यव्ययीभावः ततः च्विः । अप्र-दक्षिणं प्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलैः प्रदक्षिणादिभि-र्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥ ७१ ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन
स धर्म्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं
स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन
प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भि-
र्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं
प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे
भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

श्रोत्रेति । धर्म्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेन अनुद्घातः पाषाणादिप्रतिघातरहितोऽतएव सुखयतीति सुखस्तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥ ७२ ॥

तमिति । अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठं प्रजार्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तं नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजाः तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतितृष्णुभिर्नेत्रैरोषधीनां नाथं सोममिव तं राजानं पपुः अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः । चन्द्रपक्षे अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तं प्रजार्थं लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः । तञ्च सोमं पपुर्देवाः पर्य्यायेणानुपूर्व्वशः इति व्यासः । उदय आविर्भावः अन्यत् समानम् ॥ ७३ ॥

पुरन्दरेति । पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः । पूःसर्वयोर्दारिसहोरिति खच्प्रत्ययः, वाचंयमपुरन्दरौ चेति मुमागमो निपातितः । तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम् । पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियामित्यमरः । पुरं प्रविश्य भुजगेन्द्रेण समानसारे तुल्यबले । सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीवं वरे त्रिष्वित्यमरः । भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः
सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी
गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥ ७५ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
नन्दिनीवरप्रदानो नाम द्वितीयः सर्गः ।

अथेति । अथ द्यौः सुरवर्त्म । द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोरिति विश्वः । अत्रेर्महर्षेः नयनयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । आतश्चोपसर्गे इति कप्रत्ययः । ज्योतिरिव चन्द्रमिवेत्यर्थः । ऋक्षेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूत इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे । नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्या दधुस्तदा । समेत्य धारयामासुर्नच ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभान्वितः । पपात भासयन् लोकान् शीतांशुः सर्व्वभावन इति । सुरसरिद्गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं विक्षिप्तम् । ष्ठिवुक्लमु निरसन इत्यनेन निपूर्वात् ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । नुन्ननुत्तास्तनिष्ठ्युताविद्धक्षिप्तेरिताः समा इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणम् । ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः । देवकार्य्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन । शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज । देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् । इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् । स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य्य च । समन्ततस्तु तां देवी मभ्यसिञ्चत पावकः । सर्वं स्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दनेति । राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै सन्ततिलक्षणायै गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टमनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त दधावित्यर्थः । अत्र मनुः । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृप इति । अत्राधत्तेत्यनेन स्वीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते तथा मन्त्रे च दृश्यते । यथेयं पृथिवी मह्युत्तानगर्भमादधे एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतये इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनीवृत्तमेतत् तदुक्तं ननमयययुतेयं मालिनी भोगि लोकैरिति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशटीकायां सञ्जीविनीसमाख्यायां द्वितीयः सर्गः ।

रघुवंशम्।

तृतीयः सर्गः।

अथेप्सितं भर्त्तुरुपस्थितोदयं
सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः
सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ॥ १॥

उपाधिगस्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः।
भवोपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगत्यपायादपि नः स पायात्॥

राज्ञी गर्भमाधत्तेत्युक्तं सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति।

अथेति। अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्त्तुर्दिलीपस्य ईप्सितं मनोरथं। भावे क्तः। सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टानां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम्। यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः तदुक्तं भविष्योत्तरे, कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मतेति। तस्यामुखं प्रारम्भम् अतएव केचित् कौमुदीमहमिति पाठं पठन्ति। इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम्। निदानन्त्वादिकारणमित्यमरः। एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ। स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी यथाह वाहटः मातृजन्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयञ्च तत्। सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमाननमिति। तत्सम्बन्धित्वाद्गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते, सा च तद्योगात् दौर्हृदिनीति तदुक्तं संग्रहे द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षतइति। अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणात् रूपकालङ्कारः। अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तं जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जराविति लक्षणात्॥१॥

शरीरसादादसमग्रभूषणा
मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका
प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो
रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां
शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं
दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।

सम्प्रति क्षामताख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति

शरीरेति । शरीरस्य सादात् कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता विरलनक्षत्रेत्यर्थः तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षिता ईषदसमाप्ता प्रभाता प्रभातकल्पा प्रभातादीषदूनेत्यर्थः । तसिलादिष्वाकृत्वसुच इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिवालक्ष्यत । शरीरसादादि गर्भलक्षणमाह वाग्भटः क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा च्छर्दिररोचकम्, जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनमिति ॥ २ ॥

तदिति । क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं सुदक्षिणामुखम् उपाघ्राय तृप्तिं न आययौ । कः कमिव शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने । शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणीति विश्वः । पयोमुचां मेघानां पृषतैर्बिन्दुभिः । पृषन्तिबिन्दुपृषता इत्यमरः । सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव । अत्र करिवनराजिपल्वलानां कान्तकामिनीवदनसमाधिरनुसन्धेयः । गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव । एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥

दोहदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते

दिवमिति । हि यस्मात् दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्त्ती तस्याः सुतस्तत्सुतो मरुत्वानिन्द्रः । इन्द्रो मरुत्वान् मघवेत्यमरः । दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते ।

अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे
मनो बबन्धान्यरसान् विलङ्घ्य सा ॥ ४ ॥
न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं
स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः
प्रियासखीरुत्तरकोशलेश्वरः ॥ ५ ॥
उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां
यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपते
रभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

भुजोनवनइत्यात्मनेपदम्। अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे भूविकारे मृद्रूपे अभिलष्यत इत्यभिलाषोभोग्यं वस्तु तस्मिन्। कर्म्मणि घञ्प्रत्ययः। रस्यन्ते स्वाद्यन्ते इति रसाः भोग्यार्थाः अन्ये च ते रसाश्च तान् विलङ्घ्य विहाय मनोबबन्ध विदधावित्यर्थः। दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभोगसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४ ॥

नेति। मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा। द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् इत्यण्प्रत्ययः। ह्रिया किञ्चित् किमपि ईप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमादृतः आदृतवान् कर्त्तरि क्तः। आदृतौ सादरार्च्चितावित्यमरः। प्रियायाः सखीः सहचरीः उत्तरकोशलेश्वरोदिलीपः पृच्छतिस्म पप्रच्छ। लट् स्मे इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विस्रम्भभूमित्वादिति भावः ॥ ५ ॥

उपेत्येति। दोहदं गर्भिणीमनोरथः। दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसञ्च समं स्मृतमिति हलायुधः। सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलतां दुःसहस्वभावतामुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकाङ्क्ष तदाहृतमानीतं भर्त्रेति शेषः अपश्यदेव अलभतेत्यर्थः। कुतः हि यस्मादस्य भूपतेः त्रिदिवेपि स्वर्गेपि इष्टं वस्तु अनासाद्यम् अनवाप्यं नाभूत्। किं याच्ञया नेत्याह अधिज्यधन्वन इति। नहि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः। अत वाग्भटः। याद्दशो-

क्रमेण निस्तीर्य्य च दोहदव्यथां
प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्त्रापगमादनन्तरं
लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥
दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं
तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः
सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥
निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

भाविदाहोन्ते श्रद्धा च विविधात्मिकेति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवात् न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् तदुक्तं देयमप्यहितं तस्यै हिताय हितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा । अन्यच्च च दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयादिति ॥ ६ ॥

क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथाञ्च निस्तीर्य्य प्रचीयमानावयवा पुष्यमाणावयवा सती पुराणपत्त्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वात् मनोज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति

दिनेष्विति । दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम् आ समन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत् तदीयं स्तनद्वयं भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोषयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार । अत्र वाग्भटः अमूर्ध्वता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकाविति ॥ ८ ॥

निधानेति । नृपः ससत्वाम् आपन्नसत्वां गर्भिणीमित्यर्थः । आपन्नसत्वा स्याद्गुर्व्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणीत्यमरः । महिषीं निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां समुद्रवसनां भूमिमिवेत्यर्थः । भूतधात्री रत्नगर्भा विपुला सागराम्ब-

प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नते
भुजार्ज्जितानाञ्च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रियाः
धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्
प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया
ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते
भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्म्मणि ।

रेति कोषः । अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव । शमीतरौ वह्नि-रस्तीत्यत्र लिङ्गं शमीगर्भादग्निं जनयतीति । अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव अमन्यत । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ॥ ९ ॥

प्रियेति । धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य स्नेहस्य मनसः समुन्नतेरौदार्य्यस्य भुजेन भुजबलेन करेण वार्ज्जितानां नतु वाणिज्यादिना दिगन्तेषु सम्पदां धृतेः पुत्रो मे भविष्यतीति सन्तोषस्य च । धृतिर्योगान्तरे धैर्य्ये धारणाध्वरतुष्टिष्विति विश्वः । सदृशीरनुरूपाः पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रियाः यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्देन अनवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते । अत्र मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदाह । पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमायुक्तः स्यादिति पारस्करः । चतुर्थेऽनवलोभनमित्याश्वलायनः । षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्त इति याज्ञवल्क्यः ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवात् प्रयत्नेन मुक्तासनया आसनादुत्थितयेत्यर्थः । उपचारस्याञ्जलावञ्जलिकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या । चञ्चलं तरलञ्चैव पारिप्लवपरिप्लवे इत्यमरः । तया सुदक्षिणया ननन्द । सुरेन्द्रमात्राश्रितेत्यत्र मनुः अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप इति ॥ ११ ॥

क्रमेण निस्तीर्य्य च दोहदव्यथां
प्रचीयमानावयवा रराज सा ।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं
लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥
दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं
तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः
सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥
निधानगर्भामिव सागराम्बरां
शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं
नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

भाविदाहोन्ते श्रद्धा च विविधात्मिकेति । एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवात् न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात् तदुक्तं देयमप्यहितं तस्यै हिताय हितमल्पकम् । श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा । अन्यच्च च दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयादिति ॥ ६ ॥

क्रमेणेति । सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथाञ्च निस्तीर्य्य प्रचीयमानावयवा पुष्यमाणावयवा सती पुराणपत्राणामपगमान्नाशादनन्तरं सन्नद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वात् मनोज्ञाः पल्लवा यस्याः सा लतेव रराज ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति

दिनेष्विति । दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम् आ समन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत् तदीयं स्तनद्वयं भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोषयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार । अत याज्ञटः अमू हृता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकाविति ॥ ८ ॥

निधानेति । नृपः ससत्त्वाम् आपन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः । आपन्नसत्त्वा स्याद्गुर्व्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणीत्यमरः । महिषीं निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां समुद्रवसनां भूमिमिवेत्यर्थः । भूतधात्री रत्नगर्भा विपुला सागराम्ब-

प्रियानुरागस्य मनःसमुन्नते
भुजार्ज्जितानाञ्च दिगन्तसम्पदाम्।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रियाः
धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः॥ १०॥
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात्
प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया
ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः॥ ११॥
कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते
भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्म्मणि।

रेति कोषः। अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव। शमीतरौ वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं शमीगर्भादग्निं जनयतीति। अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव अमन्यत। एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि॥ ९॥

प्रियेति। धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य स्नेहस्य मनसः समुन्नतेरौदार्य्यस्य भुजेन भुजबलेन करेण वार्ज्जितानां नतु वाणिज्यादिना दिगन्तेषु सम्पदां धृतेः पुत्रो मे भविष्यतीति सन्तोषस्य च। धृतिर्योगान्तरे धैर्य्ये धारणाध्वरतुष्टिष्विति विश्वः। सदृशीरनुरूपाः पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रियाः यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान्। आदिशब्देन अनवलोभनसीमन्तोन्नयने गृह्येते। अत्र मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदाह। पुंसानक्षत्रेण चन्द्रमायुक्तः स्यादिति पारस्करः। चतुर्थेऽनवलोभनमित्याश्वलायनः। षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्त इति याज्ञवल्क्यः॥ १०॥

सुरेन्द्रमात्रेति। गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवात् प्रयत्नेन मुक्तासनया आसनादुत्थितयेत्यर्थः। उपचारस्याञ्जलावञ्जलिकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या। चञ्चलं तरलञ्चैव पारिप्लवपरिप्लवे इत्यमरः। तया सुदक्षिणया ननन्द। सुरेन्द्रमात्राश्रितेत्यत्र मनुः अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप इति॥ ११॥

पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां
ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥ १२ ॥
ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयै-
रसूर्य्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा
त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ १३ ॥

कुमारेति । अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा । संज्ञायां समजनिषदेत्यादिना क्यप् । तस्यां कुशलैः कृतिभिः । कृती कुशलइत्यमरः । आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः । भिषग्वैद्यौ चिकित्सक इत्यमरः । गर्भस्य भर्म्मणि भरणे । भरणे पोषणे भर्म्म इति हैमः । भृतिर्भर्म्म इति शाश्वतः । भृञोर्मनिच् प्रत्ययः । अनुष्ठिते कृते सति काले दशमे मासि अन्यत्र ग्रीष्मावसाने प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीमासन्नप्रसवामित्यर्थः । स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवोगर्भमोचन इत्यमरः । प्रियां भर्य्याम् अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम् । तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्यइतजितीतच् प्रत्ययः । दिवमिव पतिर्भर्त्ता प्रतीतः हृष्टः सन् । ख्याते हृष्टे प्रतीत इत्यमरः । ददर्श दृष्टवान् । गर्भकर्म्मणीति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः ॥१२॥

ग्रहैरिति । ततः शच्या इन्द्राण्या समा । पुलोमजा शचीन्द्राणीत्यमरः । सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः । दशमे मासि जायते इति श्रुतेः । उच्चसंश्रयैरुच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्य्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद्यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद् यस्य तं पुत्रं त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः । शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजा इत्यमरः । अक्षयमर्थमिव असूत । षूङ्प्राणिगर्भविमोचन इत्यात्मनेपदिषु पठ्यते तस्माद्धातोः कर्त्तरि लङ् । अत्रेदमनुसन्धेयम् अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः । दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशै स्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचा इति । सूर्य्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृषभादयोराशयः श्लोकोक्तक्रम विशिष्टाः उच्चस्थानानि स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि तत्रोच्चेष्वपि दशमादयोराशित्रिंशांशाः यथाक्रमम् उच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः । अत्रांशस्त्रिंशोभागः यथाह नारदः त्रिंशद्भागात्मकं लग्नमिति । सूर्य्यप्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम तदुक्तं लघुजातके रविणास्तमयोयोगोवियोगस्तूदयोभवेदिति ।

दिशः प्रसेदुर्मरुतोववुः सुखाः
प्रदक्षिणार्च्चिर्हविरग्निराददे ।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं
भवोहि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् ॥ १४ ॥
अरिष्टशय्यां परितोविसारिणा
सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा ।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो
बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव ॥ १५ ॥
जनाय शुद्धान्तचराय शंसते
कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम् ।

ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः तदुक्तं राजमृगाङ्कस्वोच्चे पूर्णं स्वर्क्षकेऽर्द्धं सुहृद्भे पादं द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः । नीचस्थायी नास्तगोवा न किञ्चित् पादं नूनं स्वत्रिकोणे ददातीति तदिदमाह कविः उच्चसंस्थैरसूर्य्यगैरिति च । एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः स्वोच्चस्था स एव तज्ञोभवति तदुक्तं कूटस्थीये उत्कृष्टाः स्वोसुखिनः प्रकृष्टकार्य्या राजप्रतिरूपकाश्च । राजानः एकद्वित्रिचतुर्भिर्ज्जायन्तेऽतः परं दिव्या इति तदिदमाह पञ्चभिरिति ॥ १३ ॥

दिश इति । तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः मरुतो वाताः सुखा मनोहरा ववुः अग्निः प्रदक्षिणार्च्चिः सन् हविराददे स्वीचकार इत्थं सर्वं शुभशंसि शुभसूचकं बभूव । तथाहि तादृशां रघुप्रकाराणां भवोजन्म लोकाभ्युदयाय भवतीति शेषः ततोदेवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अरिष्टेति । अरिष्टं सूतिकागृहमित्यमरः । अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्पं परितोऽभितः । परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेषु दृश्यते इति द्वितीया । विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्तेः । जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भव इत्यमरः । तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विषः क्षीणकान्तयो-निशीथदीपाः अर्द्धरात्रप्रदीपाः । रात्राह्नाहाः पुंसि । अर्द्धरात्रनिशीथौ द्वावित्यमरः । आलेख्यसमर्पिताः चित्रार्पिता इव बभूवुः । निशीथशब्दे दीपानां प्रभावाधिक्यसम्भावनार्थः ॥ १५ ॥

अदेयमासीत्त्रयमेव भूपतेः
शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे ॥ १६ ॥
निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा
नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम्।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनात्
गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥
स जातकर्म्मण्यखिले तपस्विना
तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः
प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

जनायेति। भूपतेर्दिलीपस्य अस्तृतसम्मिताक्षरमस्तृतसमानाक्षरम्। सरूपसमसंमिता इत्याह दण्डी। कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्तचराय अन्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत् किन्तु शशिप्रभमुज्ज्वलं छत्रम् उभे चामरे च। छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

निवातेति। निवातोनिर्वातप्रदेशः। निवातावाश्रयावातौ इत्यमरः। तत्र यत् पद्मं तद्वत् स्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतस्तृष्णया पश्यतोनृपस्य गुरुरुत्कटः प्रहर्षः कर्त्ता इन्दुदर्शनाद्गुरुर्महोदधेः पूरोजलौघइव आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्यातुं न शशाक अन्तर्न माति स्मेति यावत् महत्त्वादाधारे अधिकं मीयतइति भावः। यद्वा हर्षआत्मनि स्वस्मिन् विषये न प्रबभूव आत्मानं नियन्तुं न शशाक किन्तु वहिर्निर्जगामेत्यर्थः ॥ १७ ॥

सइति। स दिलीपसूनुः तपस्विना पुरोधसा पुरोहितेन। पुरोधास्तु पुरोहितइत्यमरः। वशिष्ठेन। तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म्म सवीर्य्यं स्यादिति भावः। तपोवनादेत्य आगत्य अखिले समग्रे जातकर्म्मणि जातस्य कर्त्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः आकरोद्भवः खनिप्रभवः। खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः। मणिरिवाधिकं बभौ वशिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः। अत्र मनुः प्राङ्नाभिवर्द्धनात् पुंसोजातकर्म्म विधीयत इति ॥ १८ ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्य्यनिस्वनाः
प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः
पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ १९ ॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितु-
र्विसर्ज्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः ।
ऋणाभिधानात् स्वयमेव केवलं
तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात् ॥ २० ॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भक-
स्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः ।

सुखश्रवा इति । सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिसुखा इत्यर्थः मङ्गलतूर्य्यनिस्वना मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम् । वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवेत्यमरः । प्रमोदनृत्यैः हर्षनर्त्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृहएव न व्यजृम्भन्त किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां पथि आकाशेऽपि व्यजृम्भन्त । तस्य देवांशत्वात् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः ॥ १९ ॥

नेति । रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य अतएव चौराद्यभावात् संयतोऽबद्धोन बभूव नाभूत् । किं तेनातआह विसर्ज्जयेदिति । सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन् सः यं बद्धं विसर्ज्जयेद्विमोचयेत् । किन्तु स राजा तदा पितॄणाम् ऋणाभिधानाद्बन्धनात् केवल मेकं यथा तथा स्वयमेव एकएवेत्यर्थः । केवलः कृत्स्नएकस्य केवलश्चावधीरितइति शाश्वतः । मुमुचे । कर्म्मकर्त्तरि लिट् । स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे एष वा अनृणो यः पुत्रीति श्रुतिः प्रमाणम् ॥ २० ॥

श्रुतस्येति । अर्थवित् शब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथिवीश्वरोदिलीपः अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात् तथा युधि परेषां शत्रूणां अन्तं पारञ्च यायात् यातुं शक्नुयादित्यर्थः । शकि लिङ्चेति शक्यर्थे लिङ् । इति हेतोर्द्धातोः अघिवघिलघिगत्यर्थाइति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेच्यालोच्य आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार । लङ्घिवंह्योर्नलोपश्चेत्युप्रत्यये बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां

अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थवित्
चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम् ॥ २१ ॥

पितुः प्रयत्नात् स समग्रसम्पदः
शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने ।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधिते-
रनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः ॥ २२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा
यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी
ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भाववन्धनं
बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।

वा लोरत्वमापद्यते इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम् । अत्र शङ्खः अशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म्म विधीयते इति ॥ २१ ॥

पितुरिति । रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नात् शुभैर्मनोहरैः शरीरावयवैः हरिदश्वदीधितेः सूर्य्यरश्मेः । भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्व-हरिदश्वोष्णरश्मयइत्यमरः । अनुप्रवेशाद्बालचन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम् । नित्यवीप्सयोरिति द्विर्वचनम् । वृद्धिं पुपोष । अत्र वराहसंहितावचनं सलिल-मये शशिनि रवेर्दीधितयोमूर्च्छितास्तमो नैशम् । चपयन्ति दर्पणोदरनिहिताइव मन्दिरस्यान्तरिति॥ २२ ॥

उमेति । उमावृषाङ्कौ पार्व्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्त्तिकेयेन । कार्त्ति-केयो महासेनः शरजन्मा षड़ाननइत्यमरः । यथा ननन्दतुः शचीपुरन्दरौ जय-न्तेन पाकशासनिना । जयन्तः पाकशासनिरित्यमरः । यथा च ननन्दतुः तथा तत्समौ ताभ्याम् उमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्याञ्च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमार-जयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः । मागधी प्राक् व्याख्याता ॥ २३ ॥

रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकौ ।

विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः
परस्परस्योपरि पर्य्यचीयत ॥ २४ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ २५ ॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः
सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।
उपान्तसम्मीलितलोचनो नृप-
श्चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ ॥ २६ ॥

अमंस्त चानेन परार्द्ध्यजन्मना
स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम् ।

पुमान् स्त्रियेत्येकशेषः । तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भावबन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयम् अन्योन्यविषयं यत् प्रेम बभूव तत् एकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा । एके मुख्यान्यकेवलादित्यमरः । सुतेन विभक्तमपि कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्य्यचीयत वृद्धेः कर्म्मकर्त्तरि लिट् । अकृत्रिमत्वात् स्वयमेव उपचितमित्यर्थः । यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते अत्र तु तयोः प्रागेकैककर्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ॥ २४ ॥

उवाचेति । सोऽर्भकः शिशुः । पोतः पाकोऽर्भकोडिम्भः पृथुकः शावकः शिशुरित्यमरः । धात्र्या उपमात्रा । धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृष्विति विश्वः । प्रथममुदितम् उपदिष्टं वचः उवाच तदीयाम् अङ्गुलिम् अवलम्ब्य ययौ च प्रणिपातस्य शिक्षया उपदेशेन नम्रोऽभूच्च इति यत् तेन पितुः मुदं ततान ॥२५॥

तमिति । शरीरयोगजैः सुखैः त्वचि त्वगिन्द्रिये अमृतं निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव तं पुत्रम् अङ्कम् आरोप्य मुदाविर्भावात् उपान्तयोः प्रान्तयोः सम्मीलितलोचनः सन् नृपः चिरात् सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ रसः स्वादः ॥ २६ ॥

अमंस्तेति । स्थितेरभेत्ता मर्यादापालकः स नृपः परार्द्ध्यजन्मना उत्कृष्ट-

स्वमूर्त्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्त्तिना
पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः ॥ २७ ॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकै-
रमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः ।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं
नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ २८ ॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो
विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।

जन्मना अनेन रघुणा अन्वयं वंशं प्रजानां पतिः ब्रह्मा गुणाः सत्त्वादयः तेषु अग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्त्तते व्याप्रियते इति गुणाग्र्यवर्त्ती तेन स्वस्य मूर्त्तिभेदेन अवतारविशेषेण विष्णुना आत्मनः सर्गं सृष्टिमिव स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तम् अमंस्त मन्यते स्म । अनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः । अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादयः । गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे । सत्त्वे सत्त्वादिसन्ध्यादिविद्यादिहरितादिष्विति विश्वः । शेषं सुगमम् ॥ २७ ॥

स इति । चूडा कार्य्या द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्म्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्या श्रुतिचोदनात् इति मनुस्मरणात् तृतीये वर्षे वृत्तचूलो निष्पन्नचूडाकर्म्मा सन् । डलयोरभेदः । स रघुः । प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भञ्च कारयेदिति वचनात् पञ्चमे वर्षे चलकाकपक्षकैः चञ्चलशिखण्डकैः । बालानान्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकइति हलायुधः । सवयोभिः स्निग्धैः । स्निग्धो वयस्यः सवया इत्यमरः । अमात्यपुत्रैरन्वितः सन् लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद्ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातं नद्यामुखं द्वारम् । मुखन्तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोरिति यादवः । तेन कश्चित् मकरादिः समुद्रमिव अविशत् प्रविष्टः ज्ञातवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथेति । गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः इति मनुस्मरणात् अथ गर्भैकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितोविद्वांसोगुरवो विनिन्युः शिक्षितवन्तः । ते गुरवोऽत्र अस्मिन् रघौ अत्रन्ध्ययत्नाश्च बभूवुः तथाहि क्रिया शिक्षा । क्रिया तु निष्कृतौ

अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते
क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति॥ २९॥
धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभि-
र्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥ ३०॥
त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवी-
मशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः
क्षितावभूदेकधनुर्द्धरोऽपि सः॥ ३१॥

शिक्षाचिकित्सोपायकर्म्मस्विति यादवः। वस्तुनि पात्रभूते उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति। क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यमिति कौटिल्यः॥ २९॥

धियइति। अत्र कामन्दकः। शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाइति। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती। एताविद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवइति च। उदारधीरुत्कृष्टबुद्धिः स रघुः समग्रैः धियोगुणैः चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे चेति उत्तरपदसमासः। चतस्रोविद्याः हरितां दिशाम् ईश्वरः सूर्य्यः पवनातिपातिभिः हरिद्भिर्निजाश्वैः। हरित् ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोरिति विश्वः। चतस्रोदिशइव क्रमात् ततार। चतुरर्णवोपमत्वं दिशामपि द्रष्टव्यम्॥ ३०॥

त्वचमिति। स रघुः। कार्ष्णरौरववास्तानि चर्म्माणि ब्रह्मचारिणः। वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि चेति मनुस्मरणात् मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुर्महाकृष्णसारइति यादवः। त्वचं चर्म्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत् समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायात् अशिक्षत अभ्यस्तवान्। आख्यातोपयोगइत्यपादानसंज्ञा। पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति नेति तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिवः केवलं पृथिवीश्वरएव नाभूत् किन्तु क्षितौ स दिलीपः एकधनुर्धरोऽप्यभूत्॥ ३१॥

महोन्नतां वत्सतरः स्पृशन्निव
द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः
पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं
विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद्गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं
तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ ३३ ॥

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः
कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।

महोन्नतामिति । रघुः क्रमात् यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् महान् उच्चा महोक्षोमहर्षभः । अचतुरादिसूत्रेण निपातनात् अकारान्तत्वम् । तस्य भावः तत्ता तां स्पृशन् गच्छन् वत्सतरोदम्य इव । दम्यवत्सतरौ समावित्यमरः । द्विपेन्द्रभावं महागजत्वं श्रयन् व्रजन् कलभः करिपोतइव गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ॥ ३२ ॥

अथेति । गौर्नादित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमस्विति केशवः । गावो लोमानि केशाः दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन् इति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोड़शादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना केशान्तः षोड़शे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततइति । अथ गुरुः पिता । गुरुर्गीष्पतिपित्रादावित्यमरः । अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयत् कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुं दक्षस्य सुता रोहिण्यादयः तमोनुदं चन्द्रमिव । तमोनुदोऽपि चन्द्रार्काविति विश्वः । सत्पतिम् अवाप्य आबभुः । रघुरपि तमोनुत् । अत्र मनुः वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेदिति ॥ ३३ ॥

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह

युवेति । युवा युगो नाम धुर्य्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः । यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिष्वित्यमरः । युगवत् व्यायतौ

वपुःप्रकर्षादजयद्गुरुं रघु-
स्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां
नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ
नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं
तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी
नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥

दीर्घौ बाहू यस्य सः अंसावस्य स्तइत्यंसलो बलवान् । मांसलश्चेति वृत्तिकारः । बलवान्मांसलोऽसल इत्यमरः । वत्सांसाभ्यां कामबलइति लच्प्रत्ययः । कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः विशालग्रीवः । परिणाहोविशालतेत्यमरः । रघुः वपुषः प्रकर्षात् आधिक्यात् यौवनकृतात् गुरुं पितरम् अजयत् तथापि विनयात् नम्रत्वेन नीचैः अल्पकोऽदृश्यत । अनौद्धत्यञ्च विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह

ततइति । तत आत्मना चिरंधृतां नितान्तगुर्वीम् । वोतोगुणवचनादिति ङीष् । प्रजानां धुरं पालनप्रयासं लघयिष्यता लघुं करिष्यता । तत्करोति तदाचष्टइति लघुशब्दात् णिच् ततो लृटः सद्वेति शतृप्रत्ययः । नृपेण दिलीपेन असौ रघुः निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्रइति हेतोः युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तम् । भजोण्विप्रत्ययः । चक्रे कृतः । द्विविधोविनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्चेति कौटिल्यः । तदुभयसम्पन्नत्वात् पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः । अत्र कामन्दकः । विनयोपग्रहान् भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान् । अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते । विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेदिति ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रेति । गुणान् विनयादीन् सौरभ्यादींश्चाभिलष्यतीति गुणाभिलाषिणी श्रीः राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रोदिलीपएव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मादपादानादनन्तरं सन्निहितं युवराजइति संज्ञा अस्य सञ्जाता युवराजसंज्ञि-

विभावसुः सारथिनेव वायुना
घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः
कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे
धनुर्द्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः
शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ॥ ३८ ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना
तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां
जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

नम्। तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। आत्मनः पदं स्थानम् आस्पदम्। आस्पदं प्रतिष्ठायामिति निपातः। स रघुरित्यास्पदं तदास्पदं कमलाञ्छिरोत्पन्नात् नवावतारम् अचिरोत्पन्नम् उत्पलमिव अंशेन अगच्छत्। स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥ ३६ ॥

विभावसुरिति। सारथिना सहायभूतेन। एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम्। वायुना विभावसुर्वह्निरिव। सूर्य्यवह्नी विभावसू इत्यमरः। घनव्यपायेन सारथिना गभस्तिमान् सूर्य्यइव कटो गण्डः। गण्डः कटोमदोदानमित्यमरः। तस्य प्रभेदः स्फुटनं मदोदय इत्यर्थः तेन करीव पार्थिवोदिलीपस्तेन रघुणा अतितरामत्यन्तं सुदुःसहः सुष्ठु असह्यो बभूव ॥ ३७ ॥

नियुज्येति। शतक्रतुः इन्द्रः उपमा यस्य सः शतक्रतूपमः स दिलीपः शतं वै तुल्याराजपुत्रा देवा आशापालाइत्यादिश्रुत्या। राजसुतैरनुद्रुतम् अनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गरक्षणे नियुज्य एकेन क्रतुना अपूर्णम् एकोनम् क्रतूनाम् अश्वमेधानां शतम् अपविघ्नम् अपगतविघ्नं यथा तथा आप ॥३८ ॥

ततइति। ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्त्तुम्। क्रियार्थोपपदस्येत्यादिना चतुर्थी।

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं
कुमारसैन्यं सपदि स्थितञ्च तत्।
वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयागता
श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने
प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम्।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो
बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

स पर्व्वतः पर्व्वतपक्षशातनं
ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं
हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम् ॥ ४२ ॥

उत्सृष्टं मुक्तम् अनर्गलम् अप्रतिबन्धम् अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः अपर्य्यावर्त्तयन्तोऽश्वमनुचरन्तीत्यापस्तम्बस्मरणात्। तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणाम् अग्रतएव शक्रोगूढ़विग्रहः सन् जहार किलेत्यैतिह्ये ॥ ३९ ॥

विषादेति। तत् कुमारसैन्यं सेना सपदि विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः तदुक्तं विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोरिति। तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यज्ञानं यस्य तत् तथोक्तं विस्मितम् अश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्य्याविष्टं सत् स्थितं तस्थौ। अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छया आगता। रघोः स्वप्रसादलब्धत्वादनुजिघृक्षयेति भावः। नन्दिनी नाम वशिष्ठधेनुश्च ददृशे। द्वौ चकारावविलम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

तदिति। सतां पुरस्कृतः पूजितः दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्याः नन्दिन्याः यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रव एव जलं मूत्रमित्यर्थः तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा अतीन्द्रियेषु इन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीययेति समासः द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगति समासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम्। भावेषु अपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव ॥ ४१ ॥

सइति। नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौद्धत्यं

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभि-
र्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः ।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः
स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव ॥ ४३ ॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभि-
स्त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे ।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः
क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे ॥ ४४ ॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विष-
स्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
सचेत् स्वयं कर्म्मसु धर्म्मचारिणां
त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥ ४५ ॥

रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः । किरणप्रग्रहौ रश्मी इत्यमरः । संयतं बद्धम् अश्वं हरन्तं पर्व्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्व्वतः पूर्व्वस्यां दिशि ददर्श ॥ ४२॥

शतैरिति । रघुस्तमश्वहर्त्तारम् अनिमेषवृत्तिभिः निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैः हरिभिः हरिद्वर्णैः । हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोरिति विश्वः । वाजिभिः अश्वैश्च हरिमिन्द्रं विदित्वा । हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिष्विति विश्वः । एनमिन्द्रं गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गभीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निव अवोचत् ॥ ४३ ॥

मखेति । हे देवेन्द्र मनीषिभिः त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजां प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे तथापि अजस्रदीक्षायां नित्यदीक्षायां प्रयतस्य मद्गुरोः क्रिया-विघाताय क्रतुविघाताय क्रियां विहन्तुमित्यर्थः । तुमर्थाच्च भाववचनादिति चतुर्थी । कथं प्रवर्त्तसे ॥ ४४ ॥

त्रिलोकेति । त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । तद्धितार्थेत्यादिना उत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्यनियामकेन दिव्यचक्षुषा अतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः क्रतुविघातकाः सदा नियम्याः ननु शिक्ष्याः खलु, स त्वं कर्म्मसु

तदङ्गमग्र्यं मघवन् महाक्रतो-
रमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वराः
मलीमसामाददते न पद्धतिम्॥ ४६॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं
वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम्।
निवर्त्तयामास रथं सविस्मयः
प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम्॥ ४७॥

यदात्थ राजन्यकुमार तत्तथा
यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया
भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः॥ ४८॥

क्रतुषु स्वयम् अन्तरायो विघ्नः भवसि चेत् विधिः अनुष्ठानं च्युतः च्यतः लोके सत्कर्म कथैवास्तमियादित्यर्थः॥ ४५॥

तदिति। हे मघवन् तत् तस्मात्कारणात् महाक्रतोः अश्वमेधस्य अग्र्यं श्रेष्ठम् अङ्गं साधनम् अमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं प्रतिदातुम् अर्हसि तथाहि श्रुतेः पथोदर्शयितारः सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वरा महान्तः मलीमसां मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते न स्वीकुर्व्वते असन्मार्गं नावलम्बन्तइत्यर्थः। मलीमसन्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितमित्यमरः॥ ४६॥

इतीति। इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वचोनिशम्य आकर्ण्य दिवौकसः स्वर्गौकसः। दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे चेति विश्वः। तेषाम् अधिपतिर्देवेन्द्रः रघुप्रभावात् सविस्मयः सन् रथं निवर्त्तयामास उत्तरं प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे च॥ ४७॥

यदिति। हे राजन्यकुमार क्षत्रियकुमार। मूर्द्धाभिषिक्तो राजन्योबाहुजः क्षत्रियोविराड़ित्यमरः। यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि। ब्रुवः पञ्चानामित्यादिना आहादेशः। तत्तथा सत्यं किन्तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम्। ततः किमतआह भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धम् अशेषं सर्व्वं मम तद्यशः इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्त्तुम् उद्यत उद्युक्तः॥ ४८॥

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो
महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं
द्वितीयगामी न हि शब्द एष नः ॥ ४९ ॥
अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा
पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः
पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥ ५० ॥
ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं
पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।

किं तद्यशइत्याह

हरिरिति । पुरुषेषूत्तमइति सप्तमीसमासः न निर्द्धारणइति षष्ठीसमासनिषेधात् कर्म्मधारये तु सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैरित्युत्तमपुरुषइति स्यात् । यथा हरिर्विष्णुरेकएव पुरुषोत्तमः स्मृतः यथा च त्र्यम्बकः शिवएव महेश्वरः स्मृतः नापरः अपरः पुमान् न तथा मां मुनयः शतक्रतुं विदुः विदन्ति । विदोलटोवेति झेर्ज्जुसादेशः : नोऽस्माकं हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः एष त्रितयोपि शब्दोद्वितीयगामी न हि । द्वितीयाप्रकरणे गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानात् समासः ॥ ४९ ॥

अतइति । यतः अहमेव शतक्रतुरतः त्वदीयस्य पितुः अयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मया अपहारितोऽपहृतः । अपहारितइति स्वार्थे णिच् । तवात्र अश्वे प्रयत्नेन अलं प्रयत्नोमाकारोत्यर्थः । निषेध्यस्य निषेधं प्रति करणत्वात् तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः न निधेहि निपूर्वाद्धाङ्धातोर्लुङ् नमाङ्योग इत्यड़ागमप्रतिषेधः । महदाक्रन्दनं विनाशमूलं भवेदिति भावः ॥ ५० ॥

तत इति । ततः तुरगस्य रक्षिता रघुः प्रहस्य प्रहासं कृत्वा अपभयः निर्भीकः सन् पुनः पुरन्दरं बभाषे किमिति हे देवेन्द्र यदि एषः अश्वमोचनरूपस्ते तव सर्गोनिश्चयः । सर्गः स्वभावनिर्मोक्ष निश्चयाध्यायसृष्टिष्वित्यमरः । तर्हि शस्त्रं

गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एव ते
न खल्वनिर्ज्जित्य रघुं कृती भवान् ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः
करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढ़विशेषशोभिना
वपुःप्रकर्षेण विड़म्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्रिणा
हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्त्तलाञ्छने
धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् । ५३ ॥

दिलीपसूनोः स वृहद्भुजान्तरं
प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।

गृहाण भवान् रघुं माम् अनिर्जित्य कृतमनेनेति कृती कृतकृत्योन खलु। इष्टादिभ्यश्चेति इनि प्रत्ययः। रघुमित्यनेनात्मनोदुर्ज्जयत्वं सूचितम् ॥ ५१ ॥

स इति। स रघुः उन्मुखः सन् मघवन्तम् इन्द्रम् एवम् उक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः आलीढ़े नालीढ़ाख्येन स्थानकभेदेन विशेषशोभिना अतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विड़म्बितेश्वरः अनुकृतपिनाकी सन् अतिष्ठत्। आलीढ़लक्षणमाह यादवः। स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम्। त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति। अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढ़न्तु ततोऽग्रतः। दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढ़ं विपर्य्यय इति ॥ ५२ ॥

रघोरिति। रघोः अवष्टम्भमयेन स्तम्भरूपेण। अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपीति विश्वः। पत्रिणा वाणेन हृदि हृदये क्षतोविद्धः अतएव अमर्षणः असहनः क्रुद्ध इत्यर्थः गोत्रभित् इन्द्रोऽपि। सम्भावनीये चौरेऽपि गोत्रः क्षौणीधरे मत इति विश्वः। नवाम्बुदानाम् अनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्त्तं क्षणमात्रं लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि दिव्ये धनुषीत्यर्थः अमोघम् अवन्ध्यं सायकं वाणं समधत्त संहितवान् ॥ ५३ ॥

पपावनास्वादितपूर्व्वमाशुगः
कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

हरेः कुमारोपि कुमारविक्रमः
सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्नविशेषकाङ्किते
स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा
शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः
प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं
गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।

दिलीपेति । भीमानां भयङ्कराणाम् असुराणां शोणिते रुधिरे उचितः परिचितः स इन्द्रमुक्तः आशुगः सायकः दिलीपसूनोः रघोः वृहत् विशालं भुजान्तरं वक्षः प्रविश्य अनास्वादितपूर्व्वं पूर्वमनास्वादितम् । सुप्सुपेति समासः मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ ॥ ५४ ॥

हरेरिति । कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रमइव विक्रमोयस्य स तथोक्तः । सप्तम्युपमानपूर्व्वस्येत्यादिना समासः । कुमारोरघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशाः अङ्गुलयोयस्य स तस्मिन् शच्याः पत्नविशेषकैः अङ्किते शचीपत्नविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान निखातवान् । निष्कण्टक राज्ये तस्यायं महानभिभवइति भावः ॥ ५५ ॥

जहारेति । अन्येन मयूरपत्रिणा मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्य इन्द्रस्य महाशनिध्वजं महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार चिच्छेद च स शक्रः सुरश्रियः प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणात् अवतारणात् छेदनादिव तस्मै रघवे भृशम् अत्यर्थं चुकोप तं हन्तुमियेषेत्यर्थः । क्रुधद्रुहेत्यादिना सम्प्रदानाच्चतुर्थी ॥ ५६ ॥

तयोरिति । जयैषिणोरन्योन्यजयाकाङ्क्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः गरुत्मन्तः पक्षवन्तः । गरुत्पक्षच्छदाः पत्रमित्यमरः । आशीविषा आशिषि दंष्ट्रायां विषं

बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणो
रधोमुखैरूर्द्धमुखैश्च पत्रिभिः ॥ ५७ ॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभि-
स्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः
स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥ ५८ ॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते
प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम्।
रघुः शशाङ्कार्द्धमुखेन पत्रिणा
शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥ ५९ ॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः
प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः।

येषां ते आशीविषाः सर्पाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाहिदं-ष्ट्रयोरित्यमरः। तद्वत् भीमदर्शनाः सपक्षाः सर्पा इव भयावहा इत्यर्थः तैः अधो-मुखैरूर्द्धमुखैश्च धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः। पत्रिभिर्बाणैः उपा-न्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धादेवा इन्द्रस्य सैनिकाश्च रघोर्यस्मिंस्तत्तथोक्तं तुमुलं सङ्कुलं युद्धं बभूव ॥ ५७ ॥

अतीति। वासवः अतिप्रबन्धेन अतिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिः अस्त्रवृष्टिभिः दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहस्तस्य दुःखेनाप्यसह्यस्येत्यर्थः तेजसः प्रतापस्य आश्रयं तं रघुम् अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युतं निर्गतं वह्निमिव निर्वा-पयितुं न शशाक। रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः ॥ ५८ ॥

तत इति। ततः रघुः हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णव-धीरनादिनीं प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्तां वेवेष्टि व्याप्नो-तीति विट् व्यापकम् ओजो यस्य स तस्य विडौजसः इन्द्रस्य। पृषोदरादित्वा-त्साधुः। शरासनज्यां धनुर्मौर्व्वीं शशाङ्कस्य अर्द्धः खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्रिणा अलुनात् अच्छिनत् ॥ ५९ ॥

स इति। विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैरः स इन्द्रः चापम् उत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः

महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं
स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥
रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताड़ितः
पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां
सहोत्थितः सैनिकहर्षनिस्वनैः ॥ ६१ ॥
तथापि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे
विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः।
तुतोष वीर्य्यातिशयेन वृत्रहा
पदं हि सर्व्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥
असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया
न मे त्वदन्येन विसोढ़मायुधम्।

शत्रोः प्रणाशनाय वधाय महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः। तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेदे उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधम् आददे जग्राह ॥ ६० ॥

रघुरिति। रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं वक्षसि ताड़ितः सन् सैनिकानाम् अश्रुभिः सह भूमौ पपात तस्मिन् पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःखम् अवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां ये हर्षेण निस्वनाः क्ष्वेड़ाः तैः सह उत्थितश्च तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

तथापीति। तथापि वज्रपातेऽपि शस्त्राणाम् आयुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोः वीर्य्यातिशयेन वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा। ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्। तुतोष। स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः। कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदम् अङ्घ्रिर्निधीयते गुणैः सर्वत्र संक्रम्यत इत्यर्थः। गुणाः शत्रूनप्यावर्ज्जयन्तीति भावः ॥ ६२ ॥

असङ्गमिति। सारवत्तया अद्रिष्वप्यसङ्गम् अप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढ़म् अतो मां प्रीतं सन्तुष्टम् अवेहि तुरङ्गमात् ऋते तुरङ्गं वर्ज्ज-

अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्
किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥ ६३ ॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं
सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं
प्रियम्वदः प्रत्यवदत् सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो
ततः समाप्ते विधिनैव कर्म्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः
क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगत-
स्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव सन्देशहराद्विशाम्पतिः
शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

यित्वा । अध्यारादितरर्त्ते इति पञ्चमी । किमिच्छसीति स्फुटं वासवः आह । तुरङ्गमादन्यददेयं नास्तीति भावः ॥ ६३ ॥

ततइति । ततः निषङ्गात् तूणीरात् असमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभिः रञ्जिता अङ्गुलयो येन तम् इषुं प्रतिसंहरन्निवर्त्तयन् नाप्रहरत्त प्रहरेदिति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियम्वदः प्रियवशे वदः खच् इति खच्प्रत्ययः अरुर्द्विषेत्यादिना मुमागमः । नरेन्द्रसूनुः रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् नतु प्राहरदिति भावः ॥ ६४ ॥

अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र अश्वम् अमोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्हि अजस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्म्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत् फलं तेन फलेन अशेषेण कृत्स्नेन युज्यतां युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ॥ ६५ ॥

यथेति । सदोगतः सदोगृहं गतः त्रिलोचनस्येश्वरस्य एकांशतया अष्टानाम-

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघो-
र्यथागतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं
सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्त्तत ॥ ६७ ॥

तमभ्यनन्दत् प्रथमं प्रबोधितः
प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन् हर्षजड़ेन पाणिना
तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ॥ ६८ ॥

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां
महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये
ततान सोपानपरम्परामिव ॥ ६९ ॥

न्यतममूर्त्तित्वात् दुरासदोऽस्मादृशैः दुष्प्राप्योविशाम्पतिः यथा इमं वृत्तान्तं तव सन्देशहरात् वार्त्ताहरादेव शृणोति च हे लोकेश इन्द्र तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

तथेति । मातलिसारथिरिन्द्रः रघोः सम्बन्धिनं कामं मनोरथं तथेति तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान् प्रतिश्रुतवान् । भाषायां सदवसश्रुवइति क्वसुप्रत्ययः । यथागतं ययौ सुदक्षिणासूनुः रघुरपि नातिप्रमनाः विजयलाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्टः सन् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । नृपस्य सदोगृहं प्रति न्यवर्त्तत ॥ ६७ ॥

तमिति । हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितोज्ञापितोवृत्तान्तमिति शेषः प्रजेश्वरोदिलीपः हर्षजड़ेन हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितं तस्य रघोरिदं तदीयम् अङ्गं शरीरं परामृशन् सन् तं रघुम् अभ्यनन्दत् ॥ ६८ ॥

इतीति । महनीयशासनः पूजनीयाज्ञः क्षितीशः इति अनेन प्रकारेण । इति हेतुप्रकरणप्रकर्षादिसमाप्तिष्वित्यमरः । महाक्रतूनाम् अश्वमेधानां नवभिः अधिकां नवतिम् एकोनशतम् आयुषः क्षये सति दिवं स्वर्गम् समारुरुक्षुः आरोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पङ्क्तिमिव ततान ॥ ७९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ।

अथेति । अथ विषयेभ्योव्यावृत्तात्मा निवृत्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम् । ककुद्वत् ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्गे राजलक्ष्मणीति विश्वः । श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोः छायां शिश्रिये श्रितवान् वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः । तथाहि गलितवयसां वृद्धानाम् इक्ष्वाकूणाम् इक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम् । तद्राजसंज्ञकत्वादणो लुक् । इदं वनगमनं कुलव्रतम् । देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः तथा च याज्ञवल्क्यः । सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वानुगतोवनम् । वानप्रस्थोब्रह्मचारी साग्निः सोपासनोव्रजेदिति । हरिणीवृत्तमेतत् ॥ ७० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशटीकायां सञ्जीवनीसमाख्यायां तृतीयः सर्गः ।

रघुवंशम्।

चतुर्थः सर्गः।

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः॥ १॥
दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम्।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः॥ २॥
पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः॥ ३॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे।
सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात्॥

स इति। स रघुर्गुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञः कर्म्म प्रजापरिपालनात्मकम्। पुरोहितादित्वाद्यक्। प्रतिपद्य प्राप्य दिनान्ते सायंकाले सविता सूर्य्येण निहितं तेजः प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव अधिकं बभौ। सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते। आदित्योवा अस्तं यन् अग्निमनुप्रविशति। अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशतीत्यादिः श्रुतिः प्रमाणम्॥ १॥

दिलीपेति। दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थितं तं रघुं निशम्याकर्ण्य पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जातः प्रधूमितोऽग्निः सन्तापाग्निरुत्थितइव प्रज्वलितइव पूर्व्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः। राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचारान्न समानकर्तृकत्वविरोध इति॥ २॥

पुरुहूतेति। पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वजः। स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्तं भविष्योत्तरे, एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर। पर्ज्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशय इति। चतुरस्रम् ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम्।

समम् एव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलञ्चारिमण्डलम्॥ ४॥
छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम्।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम्॥ ५॥
परिकल्पितसान्निध्या काले काले च वन्दिषु।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती॥ ६॥

श्राङ्कः शक्रध्वजं नाम पौरलोके सुखावहम्। पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नव-मभ्युत्थानम् अभ्युन्नतिमभ्युदयञ्च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः उत् ऊर्द्ध्वं प्रस्थिता उल्लसिताश्च नयनपङ्क्तयोयासां ताः सप्रजाः ससन्तानाः प्रजाः जनाः। प्रजा स्यात् सन्ततौ जने इत्युभयत्राप्यमरः। ननन्दुः॥ ३॥

सममिति। द्विरदइव द्विरदैश्च गच्छतीति द्विरदगामिना। कर्त्तर्य्युपमाने-इति सुप्यजाताविति च णिनिः। तेन रघुणा समं युगपदेव द्वयं समाक्रान्तम् अधिष्ठितं किं तत् द्वयं पितुरागतं पित्र्यम्। पितुर्यदिति यत्प्रत्ययः। सिंहास-नम् अखिलमरेर्मण्डलं राष्ट्रञ्च॥ ४॥

सिंहासनारोहणानन्तरं तस्य लक्ष्मीसन्निधानमाह

छायेति। अत्र रघोस्तेजोविशेषेण स्वयं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमित्युत्प्रेक्षते पद्मा लक्ष्मीः। लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रियेत्य-मरः। स्वयमदृश्या किल। किलेति सम्भावनायाम्। सती छायामण्डललक्ष्येण कान्तिपुञ्जानुमेयेन न तु स्वरूपतो दृश्येन। छायामण्डलमित्यनेनानातपत्रत्वं लक्ष्यते। छाया सूर्य्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातप इत्युभयत्राप्यमरः। पद्मात-पत्रेण पद्ममेवातपत्रं तेन करणभूतेन साम्राज्यकर्म्मणि मण्डलाधिपत्ये दीक्षितम् अभिषिक्तं तं भेजे। अन्यथा कथमेतादृशी कान्तिसम्पत्तिरिति भावः॥ ५॥

सम्प्रति सरस्वतीसान्निध्यमाह

परिकल्पितेति। सरस्वती च कालेकाले सर्वेष्वपि योग्यकालेषु। नित्यवी-प्सयोरिति वीप्सायां द्विर्वचनम्। वन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या कृतसन्निधाना सती स्तुत्यं स्तोत्रार्हं तं रघुम् अर्थ्याभिरर्थादनपेताभिः। धर्म्मपथ्यर्थन्यायादनपेतइति यत्प्रत्ययः। स्तुतिभिः स्तोत्रै रुपतस्थे देवताबुद्ध्या पूजितवतीत्यर्थः। देवता-त्वञ्च विष्णुः पृथिवीपतिरिति वा लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसन्धेयम्। एवञ्च सति उपाद्देवपूजा सङ्गतिकरणमित्रकरण पथिष्विति वक्तव्यादात्मनेपदं सिध्यति॥ ६॥

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाप्यनन्यपूर्व्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

स हि सर्व्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम् ।
पूर्व्वमेवाभवत् पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः ॥ १० ॥

मन्विति । वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिः मन्वादिभिर्मान्यैः पूज्यैः राजभिः भुक्ता यद्यपि भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । अप्यर्थे यदि वार्थे स्यादिति केशवः । तथापि तस्मिन् राज्ञि अन्यः पूर्व्वो यस्याः सा अन्यपूर्व्वा न भवतीत्यनन्यपूर्व्वा अनन्योपभुक्तेवासीत् तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तावतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अत्र कारणमाह

सहीति । हि यस्मात् कारणात् स रघुः युक्तदण्डतया यथापराधदण्डतया सर्व्वस्य लोकस्य मन आददे जहार क इव अतिशीतोऽत्युष्णोवा न भवतीति नातिशीतोष्णः । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान् वायुरिव मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते इति ॥ ८ ॥

मन्देति । तेन रघुणा प्रजाः गुरौ दिलीपविषये सहकारोऽतिसौरभश्चूतः । आम्रश्चूतोरसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभ इत्यमरः । तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदये इव ततोपि गुणाधिकतया हेतुना मन्दोत्कण्ठाः अल्पोत्सुकाः कृताः । गुणोत्तरश्च उत्तरोविषयः पूर्व्वं विस्मारयतीति भावः ॥ ९ ॥

नयेति । नयविद्भिर्नीतिशास्त्रज्ञैः नवे तस्मिन् राज्ञि विषये तदधिकृत्येत्यर्थः सत् धर्म्मयुद्धादिकम् असत् कूटयुद्धादिकञ्च उपदर्शितं तस्मिन् राज्ञि पूर्व्वः पक्षएवाभवत् संक्रान्तइत्यर्थः उत्तरः पक्षो नाभवत् न संक्रान्तइत्यर्थः । तत्र सदसतोर्म्मध्ये सदेवाभिमतं नासत् तदुद्भावनन्तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः । पक्षः साधनयोग्यार्थः । पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिष्विति केशवः ॥ १० ॥

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः ।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत् ॥ ११ ॥
यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ॥ १२ ॥
कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्य्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥
लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत् पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

पञ्चानामिति । पृथिव्यादीनां पञ्चानां भूतानामपि गुणाः गन्धादयः उत्कर्षमतिशयं पुपुषुः । अत्रोत्प्रेक्षते तस्मिन् रघौ नाम नवे महीपाले सति सर्वं वस्तुजातं नवमिवाभवत् । तदेव भूतजातमिदानीमपूर्व्वगुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः ॥ ११ ॥

यथेति । यथा चन्दयत्याह्लादयतीति चन्द्रः । चदिधातोरौणादिको रप्रत्ययः । प्रह्लादनादाह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोभूत् यथाच तपतीति तपनः सूर्य्यः । नन्द्यादित्वाल्लुप्रत्ययः । प्रतापात्सन्तापजननादित्यर्थः तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनात् अन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत् । यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात् कनिन्प्रत्ययान्तो नतु रञ्जेः तथापि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

काममिति । विशाले तस्य रघोर्लोचने कामं कर्णान्तयोर्व्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते चक्षुष्मत्ता तु चक्षुःफलन्त्वित्यर्थः सूक्ष्मान् कार्य्यार्थान् कर्त्तव्यार्थान् दर्शयति प्रकाशयतीति सूक्ष्मकार्य्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव । शास्त्रं दृष्टिर्व्विवेकिनामिति भावः ॥ १३ ॥

लब्धेति । अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनाम् अनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेनं रघुं पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना । श्रियोऽपि विशेषणमेतत् । शरत् द्वितीया पार्थिवश्रीः राजलक्ष्मीरिव समुपस्थिता प्राप्ता । रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोपि तुलया मानव्यवस्थापनम् । साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तिकरणं त्यागः समानेर्च्चनं कार्य्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे ॥ १४ ॥

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥
वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजार्थसाधने तौ हि पर्य्यायोद्यतकार्म्मुकौ ॥ १६ ॥
पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥
प्रसादसुमुखे तस्मिन् चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत् समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥
हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।

निर्वृष्टेति । निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः । कर्त्तरि क्तः । अतएव लघवः तैर्मेघैर्मुक्त-वर्त्मा त्यक्तमार्गः अतएव सुदुःसहः तस्य रवोर्भानोश्च प्रतापः पौरुषमातपश्च । प्रतापौ पौरुषातपाविति यादवः । युगपत् दिशोव्यानशे व्याप ॥ १५ ॥

वार्षिकमिति । इन्द्रोवर्षासु भवं वार्षिकं वर्षानिमित्तमित्यर्थः । वर्षाभ्यष्ठ-गिति ठक्प्रत्ययः । धनुः संजहार रघुर्जैत्रं जयशीलम् । जेतृशब्दात् तृणन्तात् प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थे अण्प्रत्ययः । धनुर्दधौ हि यस्मात् ताविन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्य्यायेणोद्यते कार्म्मुके याभ्यां तौ पर्य्यायोद्यतकार्म्मुकौ । पाठान्तरे पर्य्यायेणोद्यमोविश्रमश्च ययोस्तौ पर्य्यायोद्यम-विश्रमौ । द्वयोः पर्य्यायकरणादक्लेशइति भावः ॥ १६ ॥

पुण्डरीकेति । पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः ऋतुः शरदृतुः पुण्डरीकनिभातपत्रं काशनिभचामरं तं रघुं विड़म्बयामास अनुचकार तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभान्तु न प्राप । शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव दृश्यते इति शाश्वतः ॥ १७ ॥

प्रसादेति । प्रसादेन सुमुखे तस्मिन् रघौ विशदप्रभे निर्म्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयोविषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा तुल्यभोगेति यावत् । रसोगन्धे रसः स्वादे इति विश्वः । आसीत् ॥ १८ ॥

हंसेति । हंसानां श्रेणीषु पङ्क्तिषु तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि सन्ति येषु कुमुद्वन्ति । कुमुद्वान् कुमुदप्रायइत्यमरः, कुमुदनड़वेतसेभ्योड्मतुप् । तेषु कुमुदप्राये-

विभूतयस्तदीयानां पर्य्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥
इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥
प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥
मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

ष्वित्यर्थः वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः सम्पदः पर्य्यस्ता इव प्रसारिताः किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः ॥ १९ ॥

इक्ष्विति । इक्षूणां छाया इक्षुच्छायम् । छाया बाहुल्यइति नपुंसकत्वम् । तत्र निषण्णाः इक्षुच्छायनिषादिन्यः । स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोः छाया इति विग्रहः अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात् । शालीन् गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः शस्यपालिकाः स्त्रियः । कर्म्मण्यण् टिड्ढाणञित्यादिना ङीप् । गोप्तुः रक्षकस्य रवोः गुणेभ्यः उदयो यस्य तद्गुणोदयं गुणोत्पन्नम् आकुमारं कुमारादारभ्य कथोद्घातः कथारम्भो यस्य तत् कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः यशो जगु र्गायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतोरघोर्याः कथाः इन्द्रविजयादयः ततः आरभ्य आकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः । आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन् कर्म्मणि गानक्रियाविशेषणमेतत् । स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भइत्यमरः । आकुमारकथोद्भूतमिति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैः उद्भूतं यद्यशः तद्यशआरभ्य यशोजगुरिति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

प्रससादेति । महौजसः कुम्भयोनेरगस्त्यस्य । अगस्त्यः कुम्भसम्भवइत्यमरः । उदयादम्भः प्रससाद प्रसन्नं बभूव महौजसोरघोरुदयात् अभिभवाशङ्कि द्विषतां मनश्चुक्षुभे कालुष्यं प्राप । अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्तीत्यागमः ॥ २१॥

मदेति । मदोदग्रामदेनोद्धताः ककुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः महाककुदइत्यर्थः । यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलानि उद्रुजन्तीति कूलमुद्रुजाः । उदि कूले रुजिवहोरिति खश्प्रत्ययः । अचतुरेत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं विलाससुभगं तस्य रघोरुत्साहवतोवपुष्मतः परभञ्जकस्य विक्रमं शौर्य्यमनुप्रापुरनुचक्रुः ॥ २२ ॥

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥
सरितः कुर्व्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्द्दमान् ।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत् ॥ २४ ॥
तस्मै सम्यक् हुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ ।
प्रदक्षिणार्च्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ ॥ २५ ॥
स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः ।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया ॥ २६ ॥

प्रसवैरिति । मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । उपमानाच्चेतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणाम् । सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छद इत्यमरः । प्रसवैः पुष्पैः आहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः । गजेऽपि नागमातङ्गावित्यमरः । असूययेव आहतिनिमित्तया स्पर्द्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुः मदं ववृषुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः । करात् कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्याञ्च मदस्रुतिरिति पालकाव्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

सरित इति । सरितो गाधाः सुप्रतराः कुर्व्वती पथो मार्गांश्च आश्यानकर्द्दमान् शुष्कपङ्कान् कुर्व्वती । संयोगादेरातो धातोर्यण्वत इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम् । शरत् शरदृतुः तं रघुं शक्तेः उत्साहशक्तेः प्रथमं प्राक् यात्रायै चोदयामास प्रेरयामास । प्रभावमन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत् स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः ॥ २४ ॥

तस्मा इति । वाजिनामश्वानां नीराजनाविधौ नीराजनाख्ये शान्तिकर्म्मणि सम्यग्विधिवत् हुतो होमसंसिद्धो वह्निः प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम् । तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादव्ययीभावः । प्रदक्षिणं यार्च्चिर्ज्वाला तस्याः व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ । उक्तमाहवयात्रायाम् इङ्गः प्रदक्षिणगतो हुतभुक् नृपस्य धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोतीति । वाजिग्रहणं गजादीनामप्युपलक्षणं तेषामपि नीराजनाविधानात् ॥ २५ ॥

स इति । गुप्तौ मूलं स्वनिवासस्थानं प्रत्यन्तः प्रान्तदुर्गञ्च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिः उद्धृतपृष्ठशत्रुः सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा अयान्वितः शुभदैवान्वितः । अयः शुभावहो विधिरित्यमरः । स रघुः षड्विधं मौलभृत्यादिरूपं बलं

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्म्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥
स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनवर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्ज्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥
रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्व्वन् व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥
प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

सैन्यम् । मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं वलमिति कोषः । आदाय दिशां जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे चचाल ॥ २६ ॥

अवाकिरन्निति । वयोवृद्धाः पौरयोषितः तं रघुं प्रयातं लाजैराचारलाजैः मन्दरोद्धूतैः पृषतैर्विन्दुभिः क्षीरोर्म्मयः क्षीरसमुद्रोर्म्मयः अच्युतं विष्णुमिव अवाकिरन् पर्य्यक्षिपन् ॥२७॥

सइति । प्राचीनवर्हिर्नाम कश्चिन्महाराजः इति केचित् । प्राचीनवर्हिरिन्द्रः । पर्य्यन्योमवद्या वृषा हरिहयः प्राचीनवर्हिस्तथेतीन्द्रपर्य्यायेषु हलायुधाभिधानात् । तेन तुल्यः सरघुः अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिर्ध्वजैः अहितान् रिपून् तर्ज्जयन्निव भर्त्सयन्निव । तर्ज्जिभर्त्सोरनुदात्तत्त्वेऽपि च चिङोङित्करणेनानुदात्तेन्निमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात् परस्मैपदमिति वामनः । प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ ॥ २८ ॥

रजोभिरिति । किं कुर्व्वन् स्यन्दनोद्धूतैः रजोभिः घनसन्निभैर्वर्णतः क्रियातः परिमाणतश्च मेघतुल्यैः गजैश्च यथाक्रमं व्योम आकाशं भुवस्तलमिव भूतलञ्च व्योमेव कुर्वन् ययाविति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २९ ॥

प्रतापइति । अग्रे प्रतापस्तेजोविशेषः । स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजमित्यमरः । ततः शब्दः सेनाकलकलः तदनन्तरं परागोधूलिः । परागः पुष्परजसि धूलिस्नानीययोरपीति विश्वः । पश्चाद्रथादि चतुरङ्गवलम् इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव । स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे चेति हैमः । सा चमूर्ययौ । रथानीकमिति पाठे इति शब्दाध्याहारेण योज्यम् ॥ ३० ॥

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥
स सेनां महतीं कर्षन् पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥
त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥
पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्तान् जनपदान् जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

मर्विति । स रघुः शक्तिमत्त्वात्समर्थत्वात् मरुपृष्ठानि निर्ज्जलस्थानानि । समानौ मरुधन्वानावित्यमरः । उदम्भांस्युद्भूतजलानि चकार नाव्याः नौभिस्तार्य्याः नदीः । नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्य्ये इत्यमरः । नौवयोधर्म्म विषमूलेत्यादिना यत्प्रत्ययः । सुप्रतराः सुखेन तार्य्याश्चकार विपिनान्यरण्यानि । अटव्यरण्यं विपिनमित्यमरः । प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार । शक्त्युत्कर्षात् तस्यागम्यं किमपि नासीदिति भावः ॥ ३१ ॥

सइति । महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः हरस्य जटाभ्यो-भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् । सापि पूर्वसागरगामिनी । भगीरथ इव बभौ । भगीरथो नाम कश्चित् कपिलदग्धानां सागराणां नप्ता तत्पावनाय हरकिरीटात् गङ्गाप्रवर्त्तयिता राजा यत्सम्बन्धाद्गङ्गा च भागीरथीति गीयते ॥ ३२ ॥

त्याजितैरिति । फलं फले धने वीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोरिति केशवः । फलं लाभं दृक्षपक्षे प्रसवञ्च त्याजितैः । त्यजेर्ण्यन्तात् द्विकर्म्मकादप्रधाने कर्म्मणि क्तः । उत्खातैः स्वपदात् त्याजितैः अन्यत्रोत्पाटितैः बहुधा भग्नैरणे जितैः अन्यत्र छिन्नैः नृपैः पादपैः दन्तिनो गजस्येव तस्य रघोः मार्ग उल्बणः प्रकाश आसीत् । प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्बणं विशदं स्फुटमिति यादवः ॥ ३३ ॥

पौरस्त्यानिति । जयी जयनशीलः । जिदृक्षिविश्रीत्यादिना इनि प्रत्ययः । स रघुरेवं पुरोभवान् पौरस्त्यान् प्राच्यान् । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यगिति त्यक्प्रत्ययः । तांस्तान् सर्व्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । जनपदान् देशान् आक्रामन् तालीवनैः श्यामं महोदधेः उपकण्ठमन्तिकं प्राप ॥ ३४ ॥

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात् सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥
वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्द्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥
स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥
स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।

अनम्राणामिति । अनम्राणाम् । कर्म्मणि षष्ठी । समुद्धर्त्तुरुन्मूलयितुः तस्मात् रघोः सकाशात् । भीत्यर्थानां भयहेतुरित्यपादानत्वात् पञ्चमी । सिन्धुरयान्नदीवेगादिव सुह्मैः सुह्मदेशीयैः । सुह्मादयः शब्दाः जनपदवचनाः क्षत्रियमाचक्षते । वैतसीं वेतसः सम्बन्धिनीं वृत्तिं प्रणतिमित्यर्थः आश्रित्य आत्मा संरक्षितः । अत्र कौटिल्यः बलीयसाभियुक्तोदुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतोवेतसधर्म्मातिष्ठेत इति ॥ ३५ ॥

वङ्गानिति । नेता नायकः स रघुः नौभिः साधनैरुद्यतान् सन्नद्धान् वङ्गान् राज्ञः तरसा बलेन । तरसी बलरंहसी इति यादवः । उत्खायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

आपादेति । आपादपद्मात् अङ्घ्रिपद्मपर्यन्तं प्रणताः अतएवोत्खाताः पूर्व्वमुद्धृता अपि प्रतिरोपिताः पश्चात् स्थापिताः ते वङ्गाः कलमाइव शालिविशेषा इव । शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्मं पादपद्ममूलपर्य्यन्तम् प्रणताः । पादोबुध्नतुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्व्वता इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैर्धनैः अन्यत्र शस्यैः संवर्द्धयामासुः । फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । शस्यइति केशवः ॥ ३७ ॥

सइति । स रघुर्बद्धाद्विरदा एव सेतवोयैस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीम् । करभामिति केचित् पठन्ति । तीर्त्वा उत्कलैः राजभिरादर्शितपथः सन्दर्शितमार्गः सन् कलिङ्गाभिमुखोययौ ॥ ३८ ॥

अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥
प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्व्वतः ॥ ४० ॥
द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्द्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥
ताम्बूलीनां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवञ्च पपुर्यशः ॥ ॥ ४२ ॥
गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्म्मविजयी नृपः ।

स इति । स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्व्वतविशेषस्य । महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमान्नृक्षपर्व्वतः । विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वता इति विष्णुपुराणात् । मूर्द्ध्नि तीक्ष्णं दुःसहं प्रतापं यन्ता सारथिः गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्द्ध्नि तीक्ष्णं निशितमङ्कुशमिव न्यवेशयत् निक्षिप्तवान् । त्वग्भेदाच्छोणितस्रावात् मांसस्य क्रथनादपि । आत्मानं योन जानाति स स्याद्गम्भीरवेदिता इति राजपुत्रीये । चिरकालेन योवेत्ति शिक्षां परिचितामपि । गम्भीरवेदी विज्ञेयः सगजो गजवेदिभिरिति मृगचर्म्मीये ॥ ३९ ॥

प्रतीति । गजसाधनः सन् कालिङ्गः कलिङ्गानां राजा । द्व्यञ्मगधकलिङ्गेत्यादिना अण्प्रत्ययः । अस्त्रैरायुधैस्तं रघुं पक्षाणां छेदे उद्यतम् उद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्व्वतइव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ॥ ४० ॥

द्विषामिति । काकुत्स्थो रघुः तत्र महेन्द्राद्रौ द्विषां नाराचदुर्द्दिनं नाराचानां वाणविशेषाणां दुर्द्दिनं लक्षणया वर्षमुच्यते विषह्य सहित्वा सन् यथाशास्त्रं मङ्गलस्नातइव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्तइव जयश्रियं प्रतिपेदे प्राप । यत्तु सर्वौषधिस्नानं तन्माङ्गल्यमरोचकमिति यादवः ॥ ४१ ॥

ताम्बूलीनामिति । तत्र महेन्द्राद्रौ युध्यन्तइति योधाः । पचाद्यच् । रचिताः कल्पिताः आपानभूमयः पानभूमयः पानयोग्यप्रदेशाः यैस्ते तथोक्ताः सन्तः नारिकेलासवं नारिकेलमद्यं ताम्बूलीनां नागवल्लीनां दलैः पपुः तत्र विजह्रुरित्यर्थः शात्रवं यशश्च पपुः जह्रुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

गृहीतेति । धर्म्मविजयी धर्म्मार्थं विजयशीलः स नृपो रघुः गृहीतश्चासौ

श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

प्रतिमुक्तस्तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रियं जहार धर्म्मविजयीति भावः। मेदिनीन्तु न जहार शरणागतवात्सल्यादिति भावः ॥ ४३ ॥

तत इति। ततः प्राचीविजयानन्तरं फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता। ब्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः। वेलायाः समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैव अगस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशम् अनाशास्यजयः अयत्नसिद्धत्वात् अप्रार्थनीयजयः सन् ययौ। अगस्त्योदक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थितः। वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्द्दनः इति ब्रह्मपुराणे ॥ ४४ ॥

स इति। स रघुः गजानां दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना। गन्धस्येत्यादिना इकारादेशः समासान्तः। यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्त्तव्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशस्तथापि निरङ्कुशाः कवयः। तथा माघकाव्ये ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततगास्ततगानगिरोऽलिभिः। नैषधे च अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा इति। न कर्म्मधारयान्मत्वर्थीयइति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्यएव। सेनायां समवेताः सैन्याः। सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते इत्यमरः। सेनाया वेति ण्यप्रत्ययः। तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं सरितां पत्युः समुद्रस्य शङ्कनीयां न विश्वसनीयामिवाकरोत्। सम्भोगलिङ्गदर्शनाद्भर्तुरविश्वासोभवतीति भावः ॥ ४५ ॥

बलैरिति। विजिगीषोर्विजेतुमिच्छोः गताध्वनस्तस्य रघोः बलैः सैन्यैः। बलं शक्तिर्बलं सैन्यमिति यादवः। मारीचेषु मरीचवनेषु उद्भ्रान्ताः हारीताः पक्षिविशेषाः यासु ताः। तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवइत्यमरः। मलयाद्रेरुपत्यकाः आसन्नभूमयः। उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्द्ध्वमधित्यकेत्यमरः। उपा-

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत् करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

धिष्यां त्यकन्नित्यादिना त्यकन्प्रत्ययः । अध्युषिताः उपत्यकास्वूषितमित्यर्थः । उपान्वध्याङ्वसः इति कर्म्मत्वम् ॥ ४६ ॥

ससञ्जुरिति । अश्वैः क्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णव उत्पतनशीलाः । अलं कृञित्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । फलरेणवः फलरजांसि तुल्यगन्धिषु समानगन्धिषु । सर्वधनीतिवदिन्यन्तो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः सक्ताः । गजगण्डे कटो कटाविति कोषः ॥ ४७ ॥

भोगीति । चन्दनानां चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनात् निम्नेषु समर्पितं सञ्जितं त्रिपदीच्छेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि । त्रिपदी पादबन्धनमिति यादवः । करिणां ग्रीवासु भवं ग्रैवं कण्ठबन्धनम् ग्रीवाभ्योऽण् चेत्यण्प्रत्ययः । नास्रसत् न स्रस्तमभूत् । द्युद्भ्यो लुङीति परस्मैपदे पुषादित्वादङ् अनिदितामिति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

दिशीति । दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजोमन्दायते मन्दं भवति । लोहितादित्वात् क्यष्प्रत्ययः वा क्यष इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्द्यादिति भावः । तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः । पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः । रघोः प्रतापं न विषेहिरे न सोढ़वन्तः । सूर्य्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

ताम्रपर्णीति । ते पाण्ड्याः ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम् । सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीव वरे त्रिष्वित्यमरः । स्वं स्वकीयं सञ्चितं यश इव तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रत्वादौपम्यं । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।

स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥

असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।

नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।

रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत् सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।

अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

मुरलामारुतोद्धूतमगमत् कैतकं रजः ।

स इति असह्येति च । युग्ममेतत् । असह्यविक्रमः स रघुः तटेषु सानुष्वालीनचन्दनौ व्याप्तचन्दनद्रुमौ । गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियामित्यमरः । स्तनपक्षे प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ तस्याः दक्षिणस्याः दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकामं यथेच्छं निर्विश्योपभुज्य । निर्वेशो भृतिभोगयोरित्यमरः । उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः । उदन्वानुदधौ चेति निपातः । उदन्वता दूरान्मुक्तं दूरतस्त्यक्तम् । स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेनेति समासः । पञ्चम्याः स्तोकादिभ्य इत्यलुक् । स्रस्तांशुकं मेदिन्याः नितम्बमिव स्थितं सह्यं सह्याद्रिम् अलङ्घयत् प्राप्तः अतिक्रान्तो वा ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

सम्प्रति । प्रतीचीं दिशमभिययावित्याह

तस्येति । अपरान्तानां पाश्चात्यानां जये उद्यतैरुद्युक्तैः । अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च सूर्यरिकादयः इति यादवः । विसर्पद्भिर्गच्छद्भिः तस्य रघोरनीकैः सैन्यैः । अनीकन्तु रणे सैन्ये इति विश्वः । अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत् । सैन्यं द्वितीयोऽर्णव इव दृश्यत इति भावः ॥ ५३ ॥

भयेति । तेन रघुणा भयेन उत्सृष्टविभूषाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः सेनारजः चूर्णस्य कुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः । एतेन योषितां पलायनं चमूनाञ्च तदनुधावनं ध्वन्यते ॥ ५४ ॥

मुरलेति । मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी । मुरवीति केचित् पठन्ति । तस्यामारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं केतकीसम्बन्धि रजः तद्योधवारवाणानां

तद्योधवारवाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्म्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥
खर्ज्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥
अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।

रघुभटकञ्चुकानाम् । कञ्चुको वारवाणोऽस्त्रीत्यमरः । अयत्नपटवासताम् अयत्न-सिद्धश्रमवासनाद्रव्यत्वमगमत् । पिष्टातः पटवासक इत्यमरः ॥ ५५ ॥

अभ्यभूयतेति । चरतां गच्छतां वाहानां वाजिनाम् । वाजिवाहार्वगन्ध-र्वहयसैन्धवसप्तय इत्यमरः । गात्रशिञ्जितैः गात्रेषु शब्दायमानैः । कर्त्तरि क्तः । सञ्जितै रिति वा पाठः सञ्जतेर्व्वत्त्वात्कर्म्मणि क्तः । वर्म्मभिः कवचैः पवनेनोद्धूतानां राज-तालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः । मर्म्मर इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैः गात्रध्वनिभिरित्यर्थः । मर्म्मरः मरमरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम् ॥ ५६ ॥

खर्जूरीति । खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम् । खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमा इत्यमरः । स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु । अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोरित्यमरः । नद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रावेण सुगन्धिषु । गन्धस्येत्यादिना इकारः । कटेषु गण्डेषु पुन्नागेभ्यः नागकेशरेभ्यः पुन्नागपुष्पाणि विहाय । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शिलीमुखाः अलयः पेतुः । अलि-वाणौ शिलीमुखावित्यमरः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिशयादिति भावः ॥ ५७ ॥

अवकाशमिति । उदन्वानुदधिः रामाय जामदग्न्याय अभ्यर्थितोयाचितः सन् अवकाशं स्थानं ददौ किलेति प्रसिद्धौ । रघवे तु अपरान्तमहीपालव्याजेन करं बलिं ददौ । बलिहस्तांशवः करा इत्यमरः । अपरान्तानां समुद्रमध्यदेशवर्त्ति-त्वात् तैर्दत्ते करे समुद्रदत्तत्वोपचारः । करदानञ्च भीत्या न तु याच्ञयेति रामा-द्रघोरुत्कर्षः ॥ ५८ ॥

मत्तेति । तत्र स रघुः मत्तानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव । भावे क्तः । व्यक्तानि स्फुटानि विक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णावलि-

त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः ।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥
संग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्यैरश्वसाधनैः ।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥
भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम् ।

स्थानानि यस्मिन् तं तथोक्तं त्रिकूटमेव उच्चैर्ज्जयस्तम्भं चकार । गाढ़प्रकाशस्त्रिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णवर्णस्तम्भइव रघोर्ज्जयस्तम्भोऽभूदित्यर्थः ॥ ५९ ॥

पारसीकानिति । ततः स रघुः संयमी योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव पारसीकान् राज्ञोजेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे नतु निर्द्दिष्टेनापि जलपथेन समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

यवनीति । स रघुः यवनीनां यवनस्त्रीणाम् । जातेरस्त्रीविषया दयोपधादिति ङीष् । मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि । उपमितसमासः । तेषां मधुना मद्येन यो मदोमदरागः । कार्य्यकारणभावयोरभेदेन निर्द्देशः । तं न सेहे कमिव अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदयः प्रायेण प्रावृषि पद्मविकाशस्याप्रसक्तत्वात् अब्जानां सम्बन्धिनं बालातपमिव । अब्जहितत्वादब्जसम्बन्धित्वं सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

संग्राम इति । तस्य रघोरश्वसाधनैः वाजिसैन्यैः । साधनं सिद्धिसैन्ययोरिति हैमः । पाश्चात्यैर्यवनैः सह । दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् । सहार्थे तृतीया । शृङ्गाणां विकाराः शार्ङ्गाणि धनूंषि तेषां कूजितैः शब्दैः । शार्ङ्गं पुनर्धनुषि शार्ङ्गिणः । जये च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतइति केशवः । अथवा शार्ङ्गैः शृङ्गसम्बन्धिभिः कूजितैः विज्ञेया अनुमेयाः प्रतियोधाः प्रतिभटा यस्मिन् तस्मिन् रजसि तुमुलः संग्रामः सङ्कुलं युद्धमभूत् । तुमुलं रणसङ्कुलइत्यमरः ॥ ६२ ॥

भल्लेति । स रघुः भल्लापवर्ज्जितैः बाणविशेषक्षत्तैः । स्नुहीदलफलोभल्लइति यादवः । श्मश्रुलैः प्रवृद्धरुखरोमवद्भिः । सिध्मादिभ्यश्चेति लच्प्रत्ययः । तेषां पाश्चात्यानां शिरोभिः सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तैः । सरघा मधुमक्षिकेत्यमरः । क्षुद्राः सरघाः । क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिकेत्यमरः ।

तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ।

प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् ॥ ६४ ॥

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम् ।

आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु ॥ ६५ ॥

ततः प्रतस्थे कौवेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम् ।

शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव ॥ ६६ ॥

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।

दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धान् लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

क्षुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि मधूनि । मधु क्षौद्रं माक्षिकादीत्यमरः । क्षुद्रा भ्रमरवटरपादपादञ्दति संज्ञायामञ्प्रत्ययः । तेषां पटलैः सञ्चयैरिव । पटलं तिलके नेत्ररोगे छन्दसि सञ्चये । पटिके परिवारे चेति हैमः । महीं तस्तार आच्छादयामास ॥ ६३ ॥

अपनीतेति । शेषाः हतावशिष्टाः अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्याः सन्तः । शीर्षण्यञ्च शिरस्त्रे इत्यमरः । शरणागतलक्षणमेतत् । तं रघुं शरणं ययुः तथाहि महात्मनां संरम्भः कोपः । संरम्भः सम्भ्रमे कोपइति विश्वः । प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतीकारो यस्य सः महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं नतु जीवितमिति भावः ॥ ६४ ॥

विनयन्तइति । तस्य रघोर्योधाः भटाः आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षावलयानां भूमिषु । मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति चेत्यमरः । मधुभिर्द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैः विजयश्रमं युद्धखेदं विनयन्ते स्म अपनीतवन्तः । कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणीत्यात्मनेपदं लट्स्म इति भूतार्थे लट् ॥ ६५ ॥

ततइति । ततोरघुः भास्वान् सूर्य्यइव शरैर्बाणैः उस्रैः किरणैरिव । किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिघृष्णयः इत्यमरः । उदीच्यानुदग्भवान् नृपान् रसानुदकानीव उद्धरिष्यन् कौवेरीं कुवेरसम्बन्धिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे । अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा यथाह दण्डी एकानेकेवशब्दत्वात् सा वाक्यार्थोपमा द्विधेति ॥ ६६ ॥

विनीतेति । सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः । देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामित्यमरः । सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्त्तनैर्विनी-

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥
काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्य्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्द्धमानताः ॥ ६९ ॥
तेषां सदश्वभूयिष्ठा स्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोशलेश्वरम् ॥ ७० ॥
ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।

ताध्वश्रमाः तस्य रघोर्वाजिनोऽश्वाः लग्नाः कुङ्कुमकेसराः कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्काः येषां तान् यद्वा लग्नकुङ्कुमा केसराः सटा येषां तान् । अथ कुङ्कुमं काश्मीरजन्मेत्यमरः । केसरो नागकेसरे तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषु बकुलद्रुमे । पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्यादिति हैमः । स्कन्धान् । स्कन्धः प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे चेति हैमः । दुधुवुः कम्पयन्तिस्म ॥ ६७ ॥

अत्रेति । तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमं भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः रघुचेष्टितं रघुव्यापारः हूणा जनपदाख्याः क्षत्रियाः तेषामवरोधाः अन्तःपुरस्त्रियः तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नः ताड़नादिकृतारुण्यस्य आदेशि उपदेशकं बभूव । अथवा पाटलः आदेशी आदेष्टा यस्य तद्बभूव स्वयं लेख्याप्यतइत्यर्थः ॥ ६८ ॥

काम्बोजा इति । काम्बोजा राजानः समरे तस्य रघोर्वीर्य्यं प्रभावम् । वीर्य्यं तेजःप्रभावयो रिति हैमः । सोढुमनीश्वराः अशक्ताः सन्तः गजानामालानं बन्धनम् । भावे ल्युटि विभाषा लीयतेरित्यात्वम् । तेन परिक्लिष्टैः परिक्षतैरक्षोटैर्वृक्षविशेषैः सार्द्धमानताः ॥ ६९ ॥

तेषामिति । तेषां काम्बोजानां सद्भिरश्वैः भूयिष्ठा बहुला स्तुङ्गाः द्रविणानां हिरण्यानाम् । हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमित्यमरः । राशय एवोपदा उपायनानि । उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदेत्यमरः । कोशलेश्वरं कोशलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वदसकृत् विविशुः । मुहुः पुनःपुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समादित्यमरः । तथापि उत्सेकाः गर्वास्तु न विविशुः सत्यपि गर्वकारणे न जगर्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

तत इति । ततोऽनन्तरम् अश्वसाधनः सन् गौर्य्यागुरुं पितरं शैलं हिमवन्तम् उद्धूतैरश्वखुरोद्धूतैः धातूनां गैरिकादीनां रेणुभि स्तत्कूटांस्तस्य शृङ्गाणि ।

वर्द्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥
शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्त्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥
भूर्जेषु मर्म्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥
विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥
सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।

कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गमित्यमरः । वर्द्धयन्निव आरोह । उत्पतद्धूलिदर्शनाद्गिरिशिखरवृद्धिभ्रमोजायत इति भावः ॥ ७१ ॥

शशंसेति । तुल्यसत्वानां सैन्यैः समानबलानां गुहासु शेरते इति गुहाशयास्तेषाम् । अधिकरणे शेतेरित्यच् प्रत्ययः । दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा इत्यमरः । सिंहानां हरीणाम् । सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्य्यक्षः केसरी हरिरित्यमरः । सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यपि असम्भ्रमम् अन्तःक्षोभविरहितम् नञः प्रसज्यप्रतिषेधेपि समास इष्यते । शशंस कथयामास । सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते । वाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः । असम्भ्रान्तत्वे हेतुः तुल्यसत्वानामिति । नहि समबलः समबलाद्बिभेतीति भावः ॥ ७२ ॥

भूर्ज्जेष्विति । भूर्ज्जेषु भूर्ज्जपत्रेषु । भूर्ज्जपत्रो भुजो भूर्ज्जोमृदुत्वक् चर्म्मिका मतेति यादवः । मर्म्मरः शुष्कपत्रध्वनिः । मर्म्मरः शुष्कपर्णानामिति यादवः । अयञ्च शुक्लादिशब्दवद्गुणिनि वर्त्तते प्रयोज्यते च मर्म्मरैरगुरुधूपगन्धिभिरिति । अतोमर्म्मरीभूताः मर्मरशब्दवन्तोभूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः श्रोत्रसुखास्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः शीतला इत्यर्थः । मरुतो वाताः मार्गे तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

विशश्रमुरिति । सैनिकाः सेनायां समवेताः । प्राग्वहतीय ठक्प्रत्ययः । नमेरूणां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिर्वासितोत्सङ्गाः सुरभिततलाः दृषदः शिला अध्यास्याधिष्ठाय । अधिशीङ्स्थासां कर्म्मेति कर्म्म । दृषत्सु अधिरुह्येत्यर्थः विशश्रमुः विश्रान्ताः ॥ ७४ ॥

आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।

गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पार्वतीयैर्गणैरभूत् ।

नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

शरैरुत्सवसङ्केतान् स कृत्वा विरतोत्सवान् ।

जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु ।

सरलेति । सरलेषु देवदारुविशेषेषु आसक्तानि यानि मातङ्गानां गजानां ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयाणि कण्ठशृङ्खलानि । ग्रीवाभ्योऽण् चेति चकारात् ढञ् प्रत्ययः । तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभासः ओषधयः ज्वलन्त्यो ज्योतिर्लताविशेषाः नक्तं रात्रौ नेतुर्नायकस्य रघोः अस्नेहदीपिकाः तैलनिरपेक्षाः प्रदीपाः आसन् ॥ ७५ ॥

तस्येति । तस्य रघोरुत्सृष्टेषु उज्झितेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिः गजग्रैवैः क्षताः निष्पिष्टाः त्वचो येषां ते देवदारवः किरातेभ्यो वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणं । वर्ष्म देहप्रमाणयोरित्यमरः । शशंसुः कथितवन्तः । देवदारुस्कन्ध त्वक्क्षतैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयतइत्यर्थः ॥७६॥

तत्रेति । तत्र हिमाद्रौ रघोः पर्व्वते भवैः पार्व्वतीयैः । पर्व्वताच्च इति छप्रत्ययः । गणैरुत्सवसङ्केताख्यैः सप्तभिः । गणानुत्सवसङ्केतानजयत्सप्त पाण्डव-इति महाभारते । नाराचानां वाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दिपालानाम् अश्मनाञ्च निष्पेषेण सङ्घर्षेण उत्पतिता अनला यस्मिं स्तत् तथोक्तम् । क्षेपणीयो-भिन्दिपालः खड्गो दीर्घो महाफलइति यादवः । घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत् । युद्ध मायोधनं जन्यमित्यमरः ॥ ७७ ॥

शरैरिति । स रघुः शरैर्बाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम गणान् विरतोत्सवान् कृत्वा जित्वेत्यर्थः किन्नरान् बाह्वोः स्वभुजयो र्जयोदाहरणं जयख्यापकं प्रबन्धविशेषं गापयामास । गतिबुद्धीत्यादिना किन्नराणां कर्म्मत्वम् ॥ ७८ ॥

परस्परेणेति । तेषु गणेषु उपायनयुक्ताः पाणयो येषां तेषु सत्सु परस्परेणान्योन्यं राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः हिमाद्रिणापि राज्ञः सारो बल-

राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम्।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम्।

रूपो विज्ञातः। एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्घ्यत्वं गणानामभूतपूर्व्वश्च पराजय इति ध्वन्यते ॥ ७९ ॥

तत्रेति। स रघुस्तत्र हिमाद्रौ अक्षोभ्यमधृष्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रिय मादधानो जनयन्निवावरुरोह अवततार कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः। नहि शूराः परेण पराजितमभियुज्यन्तइति भावः ॥ ८० ॥

चकम्पइति। तस्मिन् रघौ तीर्णा लौहित्या नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति प्राग्ज्योतिषाणाम् जनपदानामीश्वरः तस्य रघोः गजानामालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे कम्पितवान् ॥ ८१ ॥

नेति। स प्राग्ज्योतिषेश्वरः रुद्धार्कमावृतसूर्य्यम्। अधारावर्षञ्च तद्दुर्दिनञ्च धारावृष्टिं विना दुर्दिनभूतम् अस्य रघोः रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे पताकिनीं सेनां कुतएव प्रसेहे न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

तमिति। कामरूपाणां नाम देशानामीशः अत्याखण्डलविक्रमम् अतीन्द्रपराक्रमं तं रघुं भिन्नाः स्रवन्मदाः कटा गण्डाः येषां तैः नागैः गजैः साधनैः भेजे नागान् दत्त्वा शरणं गतइत्यर्थः। कीदृशैर्नागैः यैरन्यान् रघुव्यतिरिक्तान् नृपानुपरुरोध। शूराणामपि शूरो रघु रिति भावः ॥ ८३ ॥

कामरूपेश्वर इति। कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवतां तस्य रघोः पादयो-

रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च्च पादयोः ॥ ८४ ॥

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्त्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

स विश्वजितमाजह्ने यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभि-
र्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान्।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान्
राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥ ८७ ॥

च्छायां कनकमयपादपीठव्यापिनीं कान्तिं रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेन आनर्च्च अर्च्चयामास ॥ ८४ ॥

इतीति। जिष्णुर्ज्जयशीलः। ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुरिति ग्स्नुप्रत्ययः। स रघुः इति इत्थं दिशो जित्वा रथैरुद्धतं रजः छत्रशून्येषु रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः। राज्ञां मौलिषु किरीटेषु। मौलिः किरीटे धम्मिल्ले चूड़ाकङ्केलिमूर्द्धजे इति हैमः। विश्रामयन् संक्रामयन्नित्यर्थः न्यवर्त्तत निवृत्तः ॥ ८५ ॥

सइति। स रघुः सर्व्वस्वं दक्षिणा यस्य तं सर्व्वस्वदक्षिणम्। विश्वजित्सर्व्वस्वदक्षिण इतिश्रुतेः। विश्वजितं नाम यज्ञम् आजह्ने कृतवानित्यर्थः। युक्तञ्चैतदित्याह सतां साधूनां वारिमुचां मेघानामिव आदानमर्ज्जनं विसर्गाय त्यागाय हि पात्रविनियोगायेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

सत्रान्तइति। काकुत्स्थोरघुः सत्रान्ते यज्ञान्ते। सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि चेत्यमरः। सचिवानाम् अमात्यानां सखा इति सचिवसखः सन्। सचिवोऽष्टतकेऽमात्यइति हैमः। तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सखित्वव्यपदेशः। राजाहःसखिभ्यष्टच्। गुर्वीभिर्महतीभिः। गुरुर्म्म हत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्म्मदेशक इति हैमः। पुरस्क्रियाभिः पूजाभिः शमितं पराजयेन व्यलीकं दुःखं वैलक्ष्यं वा येषां तान्। दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकमिति यादवः। चिरविरहेणोत्सुका उत्कण्ठिताः अवरोधाः अन्तःपुराङ्गना येषां तान् राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः क्षत्रियास्तान्। राजश्वशुराद्यदित्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः। मूर्द्धाभिषिक्तो राजन्यो

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं
सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रु-
र्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ।

बाहुजः क्षत्रियो विराडित्यमरः । स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेने अनु-
ज्ञातवान् ॥ ८७ ॥

त इति । ते राजानो रेखा एव ध्वजाश्च कुलिशानि चातपत्राणि च ध्वजा-
द्याकाररेखा इत्यर्थः तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तं प्रसादेनैव लभ्यं प्रसादलभ्यं
सम्राजः सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्काराः
ताभिः करणैः अङ्गुलीषु, मौलिषु केशबन्धनेषु याः स्रजो माल्यानि ताभ्यः च्युतै-
र्मकरन्दैः पुष्परसैः । मकरन्दः पुष्परस इत्यमरः । रेणुभिः परागैश्च । परागः
सुमनोरज इत्यमरः । गौरं गौरवर्णं चक्रुः ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः ।

रघुवंशम्।

पञ्चमः सर्गः।

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं
निःशेषविश्राणितकोषजातम्।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी
कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः॥ १॥
स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्
पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम्।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम्॥

तमिति। विश्वजिति विश्वजिन्नाम्नि अध्वरे यज्ञे। यज्ञःसवोऽध्वरोयाग-इत्यमरः। निःशेषं विश्राणितं दत्तम्। श्रणदाने चुरादिः। कोषाणामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम्। कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोरित्यमरः। जातं जनिसमूहयोरिति शाश्वतः। एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति। तं क्षितीशं रघुम् उपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः। ऋष्यन्धकेत्यण् इनोऽपवादः। गुरुदक्षिणार्थी। पुष्करादिभ्योदेशे इत्यत्र अर्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः। अप्रत्याखेयत्र इति भावः। प्रपेदे प्राप। अस्मिन् सर्गे वृत्तमुपजातिः। तल्लक्षणन्तु स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः, उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततोगौ। अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः इति॥१॥

सइति। अनर्घशीलोऽमल्यस्वभावः असाधारणस्वभावइत्यर्थः। मूल्ये पूजाविधावर्घ इति, शीलं स्वभावे सद्वृत्ते इति चामरशाश्वतौ। यशसा कीर्त्त्या प्रकाशत इति प्रकाशः। पचाद्यच्। अतिथिषु साधुरातिथेयः। पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञिति ढञ्। स रघुः हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम्। दाण्डिनायन,दिस्तृत्रेण

श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः
प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञ-
स्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्
कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां
कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं
लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

निपातः। वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात्। यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वा-दिति भावः। मृण्मये मृद्विकारे पात्रे अर्घार्थमिदं अर्घ्यम्। पादार्घाभ्याञ्चेति यत्। पूजार्थं द्रव्यं निधाय श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धं श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम्। श्रुतं शास्त्रावधृतयोरित्यमरः। अतिथिमभ्यागतं कौत्सम्। अतिथिर्ना गृहागते इत्यमरः। प्रत्युज्जगाम ॥ २ ॥

तमिति। विधिज्ञः शास्त्रज्ञोऽकरणे प्रत्यवायभीरुरित्यर्थः। मानधनानाम् अग्रयायी अग्रेसरः अपयशोभीरुरित्यर्थः। कृत्यवित् कार्य्यज्ञः आगमनप्रयोजन-मवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित् विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः। द्वौ विशौ वैश्यमनुजावि-त्यमरः। विष्टरभाजम् आसनगतम् उपविष्टमित्यर्थः। विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनमित्यमरः। वृक्षासनयोर्विष्टर इति निपातः। तं तपोधनं विधि-वद्विध्यर्हं यथाशास्त्रमित्यर्थः तदर्हमिति वत् प्रत्ययः। अर्च्चयित्वा आरात् समीपे आराद्दूरसमीपयोरित्यमरः। कृताञ्जलिः सन् इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥ ३ ॥

अप्यग्रणीरिति। हे कुशाग्रबुद्धे सूक्ष्मबुद्धे। कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्म-दर्शी च यः पुमानिति हलायुधः। मन्त्रकृतां मन्त्रस्रष्टृणाम्। सुकर्म्मपापम-न्त्रेति क्विप्। ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठः ते तव गुरुः कुशली अपि क्षेमवान् किम् अपि प्रश्ने। गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपीत्यमरः। यतो यस्माद्गुरोः सकाशात् त्वया अशेषं ज्ञानं लोकेनोष्णरश्मेः सूर्य्यात् चैतन्यं प्रबोध इव आप्तं स्वीकृतम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसापि शश्वत्
यत् सम्भृतं वासवधैर्य्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः
कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः
संवर्द्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः
श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वा-
दभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला
कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

कायेनेति । कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसापि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्य्यं लुम्पतीति वासवधैर्य्यलोपि स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः । यत्तपःशश्वदसकृत् । मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः इत्यमरः । सम्भृतं सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोः त्रिविधं वाङ्मनःकायजं तत्तपः अन्तरायैः विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सरःशापैः व्ययं नाशं नापाद्यते कच्चित् न नीयते किम् । कच्चित् कामप्रवेदने इत्यमरः ॥ ५ ॥

आधारेति । आधारबन्धप्रमुखैरालबालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः । आधारआलवालेऽम्बुबन्धेऽधिकरणेऽपि चेति विश्वः । सुतेभ्योनिर्गतोविशेषोऽतिशयोयस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा संवर्द्धितानां श्रमच्छिदां वः आश्रमपादपानां वाय्वादिः आदिशब्दाद्दावानलादि रुपप्लवो बाधकः न कच्चिन्नास्ति किम् ॥ ६ ॥

क्रियेति । क्रियानिमित्तेष्वपि अनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिः वत्सलत्वान्मृगस्नेहादभग्नकामा अप्रतिहतेच्छा तेषां मुनीनाम् अङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघा अव्यसना कच्चित् अनपायिनी किमित्यर्थः । दुःखैनोव्यसनेष्वघमिति यादवः । तं हि व्यालभयाद्दशरात्रमङ्क एव धारयन्ति ॥ ७ ॥

निर्व्वर्त्त्यते यैर्नियमाभिषेको
येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि
शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

नीवारपाकादि कडङ्गरीयै-
रामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं
वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं
सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।

निर्व्वर्त्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिः निर्व्वर्त्त्यते निष्पाद्यते येभ्योजलेभ्यः उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणाञ्जलयः । पितृदानं निवापः स्यादित्यमरः । निर्व्वर्त्त्यन्ते उञ्छानां प्रकीर्णोद्धृतधान्यानां षष्ठैः षष्ठभागैः पालकत्वाद्राजग्राह्यैरङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वोयुष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चिदनुपप्लवानि किमित्यर्थः । उञ्छोधान्यांशकादानं कणिशाद्यर्ज्जनं शिलमिति यादवः । षष्ठाष्टमाभ्याञ्चेति षष्ठशब्दाद्भागार्थेऽञ् प्रत्ययः । अतएवापूरणार्थत्वात् पूरणगुणेत्यादिना न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । सिकता येषु सन्ति सैकतानि । सिकताशर्कराभ्यां चेत्यन्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

नीवारेति । कालेषु योग्यकालेषु उपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्या भागा यस्य तत्तथोक्तं वने भवं वन्यं शरीरस्थितेर्जीवितस्य साधनं वो युष्माकम् । पच्यत इति पाकः फलं धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । आदिशब्दाच्छ्यामाकादिधान्यसंग्रहः । जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः । तत आगत इत्यण् । कडङ्गरीयैः कडङ्गरं बुषमर्हन्तीति कडङ्गरीयाः । कडङ्गरोबुषं क्लीवे धान्यत्वचि तुषः पुमानित्यमरः । कडङ्गरदक्षिणाच्छ चेति छप्रत्ययः । तैर्गोमहिषादिभिः नामृश्यते कच्चित् न भक्ष्यते किमित्यर्थः ॥ ९ ॥

अपीति । किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा विद्यामुपदिश्येत्यर्थः गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम् । क्रियार्थोपपदेत्यादिना चतुर्थी ।

कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं
सर्व्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥
तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं
मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा
प्राप्तोऽसि सम्भावयितुं वनान्माम् ॥ ११ ॥
इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य
रघोरुदारामपि गां निशम्य
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाश-
स्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

अनुमतोऽपि अनुज्ञातः किं हि यस्मात् ते तव सर्वेषाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्य्य-वानप्रस्थयतीनामुपकारे क्षमं शक्तम्। क्षमं शक्ते हिते त्रिष्वित्यमरः। द्वितीय माश्रमं गार्हस्थ्यं संक्रमितुं प्राप्तुम् अयं कालः। विद्याग्रहणानन्तर्य्यात्तस्येति भावः। कालसमयवेलासु तुमुन् इति तुमुन्। सर्व्वोपकारक्षममित्यत्र मनुः। यथा मातरमाश्रित्य सर्व्वे जीवन्ति जन्तवः। वर्त्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमा इति ॥ १० ॥

कुशलप्रश्नं विधायागमनप्रयोजनप्रश्नं चिकीर्षुराह

तवेति। अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्तस्य। अर्हः प्रशंसायामिति शतृप्रत्ययः। तवाभिगमेनागममात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टं किन्तु नियोगक्रियया आज्ञाकरणेनोत्सुकं सोत्कण्ठम्। इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक इत्यमरः। प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया चेति सप्तम्यर्थे तृतीया। शासितुः गुरोराज्ञया अपि आत्मना स्वतोवा। प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानमिति तृतीया। मां सम्भावयितुं वनात् प्राप्तोऽसि गुर्व्वर्थं स्वार्थं वागमनमित्यर्थः ॥ ११ ॥

इतीति। अर्घ्यपात्रेण मृण्मयेनानुमितोव्ययः सर्व्वस्वत्यागोयस्य तस्य रघोः इति उक्तप्रकारामुदाराम् औदार्य्ययुक्तामपि गां वाचं मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे इत्येवंरूपाम्। स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले। लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौरित्यमरः। निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्य्य-

सर्व्वत्र नो वार्त्तमवेहि राजन् !
नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्य्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः
कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥

भक्तिः प्रतीच्येषु कुलोचिता ते
पूर्व्वान् महाभाग तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेत-
स्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ १४ ॥

शरीरमात्रेण नरेन्द्र तिष्ठन्
आभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।

सिद्धिं प्रति दुर्व्वलाशः स्वसयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः सन् तं रघुम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ॥ १२ ॥

सर्व्वत्रेति । हे राजन् त्वं सर्व्वत्र नोऽस्माकं वार्त्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि । वार्त्तं वल्गु न्यरोगे चेत्यमरः । वार्त्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयमिति यादवः । न चैतदाश्चर्य्यमित्याह नाथ इति । त्वयि नाथे ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः । तथाहि अर्थान्तरं न्यस्यति सूर्य्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः । तमिस्रं तिमिरं रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षनिशायां चेति विश्वः । तमिस्रमिति पाठे तमिस्रं तिमिरम् । तमिस्रं तिमिरं तम इत्यमरः । लोकस्य जनस्य । लोकस्तु भुवने जन इत्यमरः । दृष्टेरावरणाय कथं कल्पते दृष्टिमावरितुं नालमित्यर्थः । कृपेरलमर्थत्वात् तद्योगे नमःस्वस्तीत्यादिना चतुर्थी । अलमिति पर्य्याप्त्यर्थग्रहणमिति भगवान् भाष्यकारः । कल्पेत सम्पद्येतेत्यर्थः कॢपि सम्पद्यमाने चतुर्थीति वक्तव्यात् ॥ १३ ॥

तवार्हतइत्यादिनोक्तं यत्तन्न चित्रमित्याह

भक्तिरिति । प्रतीच्येषु पूज्येषु । पूज्यः प्रतीच्यइत्यमरः । भक्तिरनुरागविशेषः ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता । अभ्यस्तेऽभ्युचितं न्याय्यमिति यादवः । हे महाभाग सार्व्वभौम तया भक्त्या पूर्व्वानतिशेषे अतिवर्त्तसे । किन्तु सर्व्वत्र वार्त्तं चेत्तर्हि कथं खेदखिन्न इव दृश्यसे अतआह व्यतीतेति । अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकालः सन् अर्थिभावात् त्वाम् अभ्युपेत इति मे विषादः ॥ १४ ॥

आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः
स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्
अकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति।
पर्य्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः
कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥

तदन्यतस्तावदनन्यकार्य्यो
गुर्व्वर्थमाहर्त्तुमहं यतिष्ये।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं
शरद्घनं नार्द्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥

शरीरेति। हे नरेन्द्र तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता स्पर्द्धिर्येन स तथोक्तः। योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यादृ-शनेष्वपीति हलायुधः। शरीरमात्रेण तिष्ठन् आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्याः मुनिप्रमुखाः। अरण्यान्मनुष्य इति वुञ्प्रत्ययः। तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य सः स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टः। प्रकृत्यादित्वात्तृतीया। नीवार इवाभासि शोभसे ॥ १५ ॥

स्थानइति। भवानेकनराधिपः सार्व्वभौमः सन् मखजं मखजन्यं न वि-द्यते किञ्चन यस्येत्यकिञ्चनः। मयूरव्यंसकादित्वात् तत्पुरुषः। तस्य भावः तत्त्वं निर्द्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति स्थाने युक्तम्। युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने इत्यमरः। तथाहि सुरैर्देवैः पर्य्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयो वृद्धेरुपचयात् श्लाघ्यतरोहि वरः खलु। मणिः शाणालीढ़ः समरविजयी हेतिनिहितो मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः। कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपा इति भावः। अत्र कामन्दकः। धर्म्मार्थं क्षीणकोशस्य क्षीणत्वमपि शोभते। सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधो-रिवेति ॥ १६ ॥

तदिति। तत्तस्मात्तावदनन्यकार्य्यः यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे इति विश्वः। प्रयोजनान्तररहितोऽहम् अन्यतोवदान्यान्तरात् गुरुधनमाहर्त्तुम्

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं
शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् गुरवे प्रदेयं
त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ १८ ॥

ततो यथावद्विहिताध्वराय
तस्मै स्मयावेशविवर्ज्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी
विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

समाप्तविद्येन मया महर्षि-
र्विज्ञापितोऽभूद्गुरुदक्षिणायै ।

अर्ज्जयितुं यतिष्ये उद्योक्ष्ये ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु । नमःस्वस्तीत्यादिना चतुर्थी । तथाहि चातकोपि, धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरमिति हेतो-रनन्यगतिकोऽपीत्यर्थः, निर्गलितः अम्बु एव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्द्दति न याचते । अर्द्द गतौ याचने चेति धातुः । याचनार्थे रणेऽर्द्दनमिति यादवः ॥१७॥

एतावदिति । एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातुं कामो यस्य तं प्रतियातुकामं गन्तु-कामम् । तुम् काममनसोरपीति मकारलोपः । महर्षेर्व्वरतन्तोः शिष्यं कौत्सं न्टपतिः रघुः निषिध्य निवार्य्य, हे विद्वन् त्वया गुरवे प्रदेयं वस्तु किं किमात्मकं कियत् किंप्ररिमाणं वा इत्येवं तं कौत्सम् अन्वयुङ्क्त अपृच्छत् । प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा चेत्यमरः ॥ १८ ॥

तत इति । ततो यथावद्यथार्हम् । अर्हार्थे वतिः । विहिताध्वराय विधि-वदनुष्ठितयज्ञाय सदाचारायेत्यर्थः । स्मयावेशविवर्ज्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय अनुद्धतायेत्यर्थः । वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्य्यादीनाञ्च गुरवे नियामकाय । वर्णाःस्युर्ब्राह्मणादय इति । ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थोभिक्षुश्चतु-ष्टये । आश्रमोऽस्त्रीति चामरः । सर्व्वकार्य्यनिर्व्वाहकायेत्यर्थः । तस्मै रघवे विच-क्षणो विद्वान् वर्णी ब्रह्मचारी । वर्णिनोब्रह्मचारिणइत्यमरः । वर्णाद्ब्रह्मचारि-णीति इनिप्रत्ययः । स कौत्सः प्रस्तुतं प्रकृतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिः गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीका-रार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव

स मे चिरायास्खलितोपचारां
तां भक्तिमेवागणयत् पुरस्तात् ॥ २० ॥

निर्बन्धसञ्जातरुषार्थकार्श्य-
मचिन्तयित्वा गुरुणाहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे
कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥

सोऽहं सपर्य्याविधिभाजनेन
मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धु-
मल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्ति-
रावेदितोवेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं
जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥

पुरस्तात् प्रथममगणयत् संख्यातवान् भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्तवानित्यर्थः। अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणाम् अगणयदिति योज्यम् ॥ २० ॥

निर्बन्धेति। निर्बन्धेन प्रार्थनातिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा अर्थकार्श्यं दारिद्र्यम् अचिन्तयित्वा अविचार्य्य अहं वित्तस्य धनस्य चतस्रोदश च कोटीः चतुर्द्दश कोटीर्मे मह्यम् आहर आनयेति विद्यापरिसंख्यया विद्यापरिसंख्यानुसारेणैवोक्तः। अत्र मनुः अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्म्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्द्दशेति ॥ २१ ॥

सोहमिति। सोऽहं सपर्य्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्दएव शेषोयस्य तं मत्वा निःस्वं निश्चित्येत्यर्थः श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्य अल्पेतरत्वादतिमहत्त्वात् संप्रत्युपरोद्धुं निर्बन्धुं नाभ्युत्सहे ॥ २२ ॥

इत्थमिति। द्विजराजकान्तिः चन्द्रकान्तिः। द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकर इत्यमरः। तस्मात् सोमो राजानो ब्राह्मणानामिति श्रुतेः। द्विजराज-

गुर्व्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा
रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे
मा भूत् परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये
वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्
यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः
प्रत्यग्रहीत् सङ्गरमग्रजन्मा ।

कान्तित्वे नार्थावाप्तिवैराग्यं वारयति। एनसः पापात् निवृत्ता इन्द्रियवृत्तिर्यस्य सः जगदेकनाथो रघुः वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेन इत्थम् आवेदितोनिवेदितः सन् एनं कौत्सं भूयः पुनर्ज्जगाद ॥ २३ ॥

गुर्व्वर्थमिति । श्रुतस्य पारं दृष्टवान् श्रुतपारदृश्वा । दृशेःक्वनिबिति क्वनिप्। गुर्व्वर्थं गुरुदक्षिणार्थं यथा तथा अर्थी याचकः । विशेषणद्वयेनापि अस्याप्रत्याख्येयत्वमाह । रघोः सकाशात् कामं मनोरथम् अनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं गतः । स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्य दानशौण्डा बहुप्रदे इत्यमरः । इत्येवंरूपः अयं परीवादस्यापवादस्य नवो नूतनः प्रथमोऽवतारः आविर्भावो मे माभूत् मास्तु । रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् । तथाच सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते इति भावः ॥ २४ ॥

स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन् द्वित्राणि द्वे त्रीणि वा अहानि दिनानि। संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये इति बहुव्रीहिः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणादिति डच् । सोढुमर्हसि हे अर्हन् मान्य त्वदर्थं तव प्रयोजनं साधयितुं यावत् यते यतिष्ये। यावत् पुरा निपातयोर्लट् इति भविष्यदर्थे लट् ॥ २५ ॥

तथेतीति। अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः सन् तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम्। अथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु सङ्गर इत्यमरः । तां गिरमिति

गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य
निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुवेरात्॥ २६॥
वशिष्ठमन्त्रोक्षणजात् प्रभावा-
दुदन्वदाकाशमहीधरेषु।
मरुत्सखस्येव वलाहकस्य
गतिर्विजघ्ने न हि तद्रथस्य॥ २७॥
अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे
रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम्।
सामन्तसम्भावनयैव धीरः
कैलासनाथं तरसा जिगीषुः॥ २८॥
प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै
सविस्मयाः कोषगृहे नियुक्ताः।

केचित् पठन्ति। तथेति प्रत्यग्रहीत्। रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनाम् अवेक्ष्य कुवेरादर्थं निष्क्रष्टुम् आहर्त्तुं चकमे इयेष॥ २६॥

वशिष्ठेति। वशिष्ठस्य यत् मन्त्रेणोक्षणम् अभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तज्जात् प्रभावात् सामर्थ्याद्धेतोः उदन्वदाकाशमहीधरेषु उदन्वत्युदधौ आकाशे महीधरेषु वा मरुत्सखस्य। मरुतः सखा इति तत्पुरुषः बहुव्रीहौ समासान्ताभावात्। ततो वायुसहायस्येति लभ्यते। वारीणां वाहको वलाहकः। पृषोदरादित्वात्साधुः। तस्येव मेघस्येव तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि॥ २७॥

अथेति। अथ प्रदोषे रजनीमुखे तत्काले यानाधिरोहणविधानात् प्रयतो-धीरो रघुः समन्ताद्भवः सामन्तो राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथं कुवेरं तरसा वलेन जिगीषुः जेतुमिच्छुः सन् कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथम् अधिशिश्ये रथे शयितवानित्यर्थः। अधिशीङ्स्थासां कर्म्मेति कर्म्मत्वम्॥ २८॥

प्रातरिति। प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डारिकाः सविस्मयाः सन्तः कोषगृहस्य मध्ये नभस्तोनभसः। पञ्चम्यास्त-

हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये
वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं
लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव
पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्य-सत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं
प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।

सिल्प्रत्ययः । पतितां हिरण्मयीं सुवर्णमयीम् । दाण्डिनायनेत्यादिना निपातनात्साधु । वृष्टिं शशंसुः कथयामासुः ॥ २९ ॥

तमिति । भूपतिः रघुः अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात् कुबेराल्लब्धं वज्रेण कुलिशेन भिन्नं सुमेरोः पादं प्रत्यन्तपर्व्वतमिव स्थितम् । पादाः प्रत्यन्तपर्व्वता इत्यमरः । शृङ्गं सुमेरोरिति क्वचित् पाठः । तं भासुरं भास्वरम् । भञ्जभासमिदो घुरजिति घुरच् । हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ नतु चतुर्द्दशकोटिमात्रमित्येवकारार्थः ॥ ३० ॥

जनस्येति । तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनः अयोध्यावासिनः । साकेतः स्यादयोध्यायां कोशला नन्दिनी च सेति यादवः । जनस्य अभिनन्द्यसत्त्वौ स्तुत्यव्यवसायौ अभूताम् । द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुष्वित्यमरः । कौ द्वौ गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निस्पृहोऽर्थी अर्थिकामात् अर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः । प्रे दाज्ञ इति कप्रत्ययः । नृपश्च ॥ ३१ ॥

अथेति । अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः संप्रस्थितः प्रस्थास्यमानः सन् । आशंसायां भूतवच्चेति भविष्यदर्थे क्तः । उष्ट्राणां क्रमेलकानां वामीनां वड़वानाञ्च

स्पृशन् करेणानतपूर्वकायं
संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥
किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भू-
र्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो
मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥
आशास्यमन्यत् पुनरुक्तभूतं
श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते ।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं
भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥
इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा
राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम् ।

प्रतैः वाञ्छितार्थं प्रापितधनम् आनतपूर्व्वकायं विनयनम्रमित्यर्थः प्रजेश्वरं रघुं करेण स्पृशन् वाचमुवाच ॥ ३२ ॥

किमिति। वृत्ते स्थितस्य। न्यायेनार्ज्जनमर्थस्य वर्द्धनं पालनं तथा। सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधमिति कामन्दकः। तस्मिन् वृत्ते स्थितस्य प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भूः कामान् सूत इति कामसूर्यदि। सत्सूद्विषद्रुहेत्यादिना क्विप्। अत्र कामप्रसवने किं चित्रं न चित्रमित्यर्थः। किन्तु तव प्रभावो महिमा अचिन्तनीयः येन त्वया द्यौरपि मनीषितम् अभिलषितं दुग्धा। दुहेर्द्विकर्म्मकत्वादप्रधाने कर्म्मणि क्तः। प्रधानकर्म्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्म्मणाम् अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्म्मण इति स्मरणात् ॥ ३३ ॥

आशास्यमिति। सर्वाणि श्रेयांसि शुभानि अधिजग्मुषः प्राप्तवतः ते तव अन्यत् पुत्रातिरिक्तम् आशास्यम् आशीःसाध्यम् आशंसनीयं वा पुनरुक्तभूतं सर्वं सिद्धमित्यर्थः। किन्तु ईड्यं स्तुत्यं भवन्तं भवतः पितेव आत्मगुणानुरूपं त्वया तुल्यगुणमित्यर्थः पुत्रं लभस्व प्राप्नुहि ॥ ३४ ॥

इत्थमिति। अग्रजन्मा ब्राह्मणः। अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे भ्रातरि ब्रह्मणि

राजापि लेभे सुतमाशु तस्मा-
दालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्त्ते किल तस्य देवी
कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना
तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्य्यं
तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात् स्वाद्बिभिदे कुमारः
प्रवर्त्तितो दीपइव प्रदीपात् ॥ ३७ ॥

स्यादिति विश्वः । इत्थं राज्ञे आशिषं प्रयुज्य दत्त्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप । राजापि जीवलोको जीवसमूहः । जीवः प्राणिनि गीष्पताविति विश्वः । अर्कादालोकं प्रकाशमिव चैतन्यमिति पाठे ज्ञानमिव तस्माद्दशरथेराशु सुतं लेभे प्राप ॥ ३५ ॥

ब्राह्म इति । तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे । तस्येदमित्यण् । ब्रह्मदेवताके अभिजिन्नामके मुहूर्त्ते किल ईषदसमाप्तं कुमारं कुमारकल्पं स्कान्दसदृशम् । ईषदसमाप्ताविल्यादिना कल्पप्प्रत्ययः । कुमारं पुत्रं सुषुवे । कुमारोबालके स्कान्दे इति विश्वः । अतो ब्राह्ममुहूर्त्तोत्पन्नत्वात् पिता रघुः ब्रह्मणोविधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रम् अजम् अजनामकं चकार । अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रवोः सुते इति विश्वः ॥ ३६ ॥

रूपमिति । ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा । ओजस्तेजसि धातूनामवष्टम्भ-प्रकाशयोः । ओजोबले च दीप्तौ चेति विश्वः । रूपं वपुः । अथ रूपं नपुंसकं । स्वभावाकृतिसौन्दर्य्ये वपुषि श्लोकशब्दयोरिति विश्वः । तदेव पैतृकमेव, वीर्य्यं शौर्य्यं तदेव, नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव तादृगेवेत्यर्थः । कुमारो बालकः प्रवर्त्तित उत्पादितो दीपः प्रदीपात् स्वोत्पादकदीपादिव स्वात् स्वकीयात् । पूर्व्वादिभ्योनवभ्यो वेति स्वाङ्गावोवैकल्पिकः । कारणाज्जनकात् न बिभिदे भिन्नोनाभूत् सर्वात्मना तादृशएवाभूदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

उपात्तविद्यं विधिवद्गुरुभ्य-
स्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां
धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥ ३८ ॥

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां
स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन
भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य
दारक्रियायोग्यदशञ्च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनं
ऋद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥

उपात्तेति । गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रम् उपात्तविद्यं लब्धविद्यम् । यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमजं प्रति साभिलाषापि श्रीः धीरा स्थिरोन्नतचित्ता । स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति संज्ञितमिति भूपालः । कन्या पितुरिव गुरोः रघोः अनुज्ञामाचकाङ्क्ष इयेष । यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः । अनुज्ञाशब्दात् पितृपारतन्त्र्यसुपमासामर्थ्यात् पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते ॥ ३८ ॥

अथेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं कुमारस्याजस्य आनयने उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञा आप्तो-हितोदूतो रघवे विसृष्टः प्रेषितः । क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी ॥ ३९ ॥

तमिति । असौ रघुस्तं भोजं श्लाघ्यसम्बन्धम् अनूचानत्वादिगुणयोगात् स्पृहणीयसम्बन्धं विचिन्त्य विचार्य्य पुत्रञ्च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्य-वयसं विचिन्त्य ससैन्यमेनं पुत्रम् ऋद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजस्य राज-धानीं पुरीं प्रस्थापयामास । धीयतेऽस्यामिति धानी । करणाधिकरणयोश्चेति अधिकरणे ल्युट् प्रत्ययः । राज्ञां धानीति विग्रहः ॥ ४० ॥

तस्योपकार्य्यारचितोपचारा
वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनो
र्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

स नर्म्मदारोधसि सीकरार्द्रै
र्मरुद्भिरानर्त्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा
क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

अथोपरिष्टाद्भ्रमरैर्भ्रमद्भिः
प्राक् सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।

तस्येति । उपकार्य्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु । सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्य्योपकारिकेत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामी उपक्रियते उपकरोति वा पटमण्डपादि राजसदनमिति । रचिता उपचाराः शयनादयो येषु ते तथोक्ताः जानपदानां जनपदेभ्यः आगतानाम् उपदाभिः उपायनैः वन्याः वने भवा इतरे येषां ते वन्येतराः अवन्या इत्यर्थः । न बहुव्रीहाविति सर्व्वनामसंज्ञानिषेधः । तत्पुरुषे सर्व्वनामसंज्ञा दुर्व्वारैव । तस्य मनुजेन्द्रसूनोः अजस्य मार्गे निवासा-वासनिका उद्यानान्याक्रीड़ाः । पुमानाक्रीड़उद्यानमित्यमरः । तान्येव विहाराः विहारस्थानानि तत्कल्पास्तत्सदृशा इत्यर्थः । ईषदसमाप्ताविति कल्पप्प्रत्ययः । बभूवुः ॥ ॥ ४१ ॥

सइति । विलङ्घिताध्वा अतिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः शीतलैरित्यर्थः मरुद्भिर्व्वातैः आनर्त्तिताः कम्पिताः नक्तमालाः चिरविल्वाख्यवृक्षभेदाः । चिरविल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके इत्यमरः । यस्मिन् तस्मिन् निवेशार्हे इत्यर्थः । नर्म्मदायाः रोधसि रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिः धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत् सैन्यं निवेशयामास ॥ ४२ ॥

अथेति । अथ उपरिष्टादूर्द्ध्वम् । उपर्य्युपरिष्टादिति निपातः । भ्रमद्भिर्म्मदलोभादिति भावः । भ्रमरैः प्राक् उन्मज्जनात् पूर्व्वं सूचितोज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशोयस्य स तथोक्तः निर्द्धौतदाने क्षालितमदे अतएवामले गण्डभित्ती यस्य स

निर्धौतदानामलगण्डभित्ति-
र्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥
निःशेषविक्षालितधातुनापि
वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्द्ध्वरेखाशबलेन शंसन्
दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥
संहारविक्षेपलघुक्रियेण
हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन् बृहतस्तरङ्गान्
वार्य्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥

तथोक्तः। दानं गजमदे त्याग इति शाश्वतः। प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती। प्रशंसावचनैश्चेति समासः। भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः। तथा च गणरत्नमहोदधौ। मतल्लिकोद्घमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तय इति। भित्तिः प्रदेशो वा। भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपीति विश्वः। निर्द्धौतदानेन अमला गण्डभित्तिर्यस्येति वा। वन्योगजः सरित्तोनर्म्मदायाः सकाशात्। पञ्चम्यास्तसिल् प्रत्ययः। उन्ममज्ज उत्थितः ॥ ४३ ॥

निःशेषेति। कथम्भूतो गजः। निःशेषविक्षालितधातुनापि धौतगैरिकादिनापि नीलाभिः ऊर्द्ध्वाभिः रेखाभिः तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्वुरेण। चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्वुरे इत्यमरः। अश्मभिः पाषाणैः विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन ऋक्षवान्नाम कश्चित् तत्रत्यः पर्व्वतः तस्य तटेषु वप्रक्रियां वप्रक्रीड़ाम् उत्खातकेलिमित्यर्थः। उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीड़ा निगद्यते इति शब्दार्णवः। शंसन् कथयन् सूचयन्नित्यर्थः। युग्मम् ॥ ४४ ॥

संहारेति। संहारविक्षेपयोः सङ्कोचनप्रसारणयोः लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण लघु क्षिप्रमरं द्रुतमित्यमरः। हस्तेन शुण्डादण्डेन। हस्तोनक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपीति विश्वः। सशब्दं सघोषं बृहतस्तरङ्गान् भिन्दन् विदारयन् तीराभिमुखः स गजः वारी गजबन्धनस्थानम्। वारी तु गजबन्धनीति यादवः। वार्य्या अर्गलायाः विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ ॥ ४५ ॥

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां
जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीड़ितवारिराशिः
सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्यो-
र्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन
पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाह-
मसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः
सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

स छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं
भग्नाक्षपर्य्यस्तरथं क्षणेन ।

शैलेति । शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि वृन्दानि तरसा कर्षन् पश्चात् तटमुत्ससर्प पूर्वं तेन गजेनोत्पीड़ितोनुन्नोवारिराशिर्यस्य सः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

तस्येति । तस्यैकनागस्यैकाकिनोगजस्य कपोलभित्त्योः जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मददुर्द्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीः वन्येतरेषां ग्राम्याणाम् अनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्दिदीपे वद्द्धे ॥ ४७ ॥

सप्तच्छदेति । सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत् कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारोयस्य तम् । कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येपि प्रकीर्त्तिता इति यादवः । असह्यं तदीयं मदमाघ्राय सेनागजेन्द्राः विलङ्घितस्तिरस्कृतः आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रोमहान् यत्नोयैस्ते तथोक्ताः सन्तः । आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिन इत्यमरः । विमुखाः पराङ्मुखाः बभूवुः ॥ ४८ ॥

स इति । स गजः छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धाः द्रुताः पलायिताः युग्

रामापरित्राणविहस्तयोधं
सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥ ४९ ॥

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो
वन्यः करीति श्रुतवान् कुमारः ।
निवर्त्तयिष्यन् विशिखेन कुम्भे
जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः ॥ ५० ॥

स विद्धमात्रः किल नागरूप-
मुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्त्ति
कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं
कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य्य पुष्पैः ।

वहन्तीति युग्याः वाहाः यस्मिन् सचासौ शून्यश्च तं भग्नाः अक्षाः रथावयवा दारुविशेषाः । अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियमिति शाश्वतः । येषां ते भग्नाक्षाः अतएव पर्य्यस्ताः पतिता रथाः यस्मिन् तं रामाणां स्त्रीणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ताः व्याकुलाः । विहस्तव्याकुलौ समावित्यमरः । योधा यस्मिन् तं सेनानिवेशं शिविरं क्षणेन तुमुलं सङ्कुलं चकार ॥ ४९ ॥

तमिति । नृपतेः राज्ञः वन्यः करी अवध्य इति श्रुतवान् शास्त्रात् ज्ञातवान् कुमारः आपतन्तमभिधावन्तं तं गजं निवर्त्तयिष्यन् नतु प्रहरिष्यन् अतएव नात्यायतमनतिदीर्घम् यथा स्यात् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । कृष्टशार्ङ्गः ईषदाकृष्टचापः सन् विशिखेन वाणेन कुम्भे जघान । अत्र चाक्षुषः लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्य्यात् दूयं हि श्रीर्य्यैं करिण इति । अतएव युद्धादन्यत्रेति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम् ॥ ५० ॥

स इति । स गजो विद्धमात्रः ताड़ितमात्रः किल नतु प्रहृतः तथापि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य तेन वृत्तान्तेन विस्मितैः तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन् स्फुरतः प्रभामण्डलस्य मध्यवर्त्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥५१॥

अथेति । अथ प्रभावेनोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्थैः कल्पवृक्षोत्पन्नैः पुष्पैः

उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः
संवर्द्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

मतङ्गशापादवलेपमूला-
दवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं
प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चात्
मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगात्
शैत्यं हि यत् सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते
भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना
तदेत्यवोचत् स तपोनिधिर्माम् ॥ ५५ ॥

कुमारमजमवकीर्य्य अभिद्रुष्य दशनप्रभाभिः दन्तकान्तिभिः संवर्द्धिताः उरःस्थले ये तारहाराः स्थूलमुक्ताहारास्ते येन स तथोक्तः वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता । वाचोग्मिनिरिति ग्मिनिः । सपुरुषः उवाच ॥५२॥

मतङ्गेति । अवलेपमूलाद्गर्व्वहेतुकात् । अवलेपस्तु गर्व्वे स्याल्लेपने दूषणेपि चेति विश्वः । मतङ्गस्य मुनेः शापात् मतङ्गजत्वमवाप्तवानस्मि मां प्रियदर्शनस्य प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्व्वपतेः गन्धर्व्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । स्त्रियां मूर्त्तिस्तनुस्तनूरित्यमरः । तन्वादेर्व्वाऽूङिति केचित् । प्रियंवदं प्रियंवदाख्यम् अवेहि जानीहि । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । प्रियवशे वदः खजिति खच्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

स इति । स महर्षिश्च प्रणतेन मया अनुनीतः सन् पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत् तथाहि जलस्य उष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात् सम्पर्कात् नतु प्रकृत्या उष्णत्वं यत् शैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः विधेयप्राधान्यात् सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकिति । इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सः अजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन

संमोचितः सत्ववता त्वयाहं
शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्य्यां
वृथा हि मे स्यात् स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥

संमोहनं नाम सखे! ममास्त्रं
प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्व्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तु-
र्नचारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्त्तं
दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं
मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥ ५८ ॥

लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयो-क्ष्यसे सङ्गंस्यसे इति स तपोनिधिर्माम् अवोचत् ॥ ५५ ॥

संमोचित इति । चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्ववता बलवता त्वया अहं शापात् संमोचितः मोक्षं प्रापितः भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्य्यां चेत् मे स्वपदोपलब्धिः स्वस्थानप्राप्तिः । पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु इत्य-मरः । वृथा स्यादि । तदुक्तं प्रतिकर्त्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरमिति ॥५६॥

संमोहनमिति । हे सखे । सखिशब्देन समप्राणतोक्ता । यथोक्तम् अत्यागस-हनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत् । एकक्रियं भवेन्मित्रं समप्राणः सखा मत इति । प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकं संमोह्यतेऽनेनेति संमोहनं नाम ममास्त्रम् आदत्स्व गृहाण यतोऽस्त्रात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोऽरिहिंसा नच विज-यश्च हस्ते हस्तगतो विजयो भवतीत्यर्थः ॥५७॥

वधलज्जितः कथमस्त्रग्रहणपरः स्यामिति चेत्तत्राह

अलमिति । किञ्च मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तया अलम् कुतः यद्यतो हेतोः त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्त्तं दयापरः कृपालुरभूः तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहारः सएव रौक्ष्यं पारुष्यं तन्न प्रयोज्यं न कर्त्तव्यम् ॥ ५८ ॥

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं
सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं
जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥ ५९ ॥

एवं तयोरध्वनि दैवयोगा-
दासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्
सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे
तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्र-
श्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी
नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।

तथेति । ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः । उपमितसमासः । सोम ओषधिचन्द्रयो-रिति शाश्वतः । पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः । अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽजस्तथेति, सोमउद्भवो-यस्याः सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्म्मदायाः । रेवा तु नर्म्मदा सोमोद्भवा मेखलकन्यकेत्यमरः । पवित्रं पयः उपस्पृश्य पीत्वा आचम्येत्यर्थः । उदङ्मुखः सन् निगृहीतशापात् निवर्त्तितशापात् उपकृतादित्यर्थः । तस्मात् प्रियंवदादस्त्र-मन्त्रं जग्राह ॥ ५९ ॥

एवमिति । एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद्दैववशात् अचिन्त्यहेतुं अनिर्द्धार्य्यहेतुकं सख्यं सखित्वम् । सख्युर्य इति यप्रत्ययः । आसेदुषोः प्राप्तवतो स्तयोर्म्मध्ये एको गन्धर्व्वः चैत्ररथस्य कुवेरोद्यानस्य प्रदेशान् । अस्योद्यानं चैत्ररथमित्यमरः । अपरो-ऽजः सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान् विदर्भान् विदर्भदेशान् ययौ ॥ ६० ॥

तमिति । नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवांसं स्थितं तमजं तस्याजस्या-गमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरुः प्रहर्षो यस्य सः क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराजः प्रवृद्धोर्म्मिरूर्म्मिमाली समुद्रः चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥ ६१ ॥

मेने यथा तत्र जनः समेतो-
वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां
प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्य्यां
बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥ ६३ ॥

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं
कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ
निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥ ६४ ॥

प्रवेश्येति । एनमजम् अग्रयायी सेवाधर्म्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा प्रीत्या अर्पितश्रीः तथा तेन प्रकारेणोपाचरत् उपचरितवान् यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतोमिलितोजनो वैदर्भं भोजमागन्तुं प्राघुणिकं मेने अजं गृहेशं गृहपतिं मेने ॥ ६२ ॥

तस्येति। रघुप्रतिनिधिः रघुकल्पो रघुतुल्य इत्यर्थः । उक्तञ्च दण्डिना सादृश्यवाचकप्रस्तावे । कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधी अपीति । सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः । कर्त्तरि क्तः । तस्य भोजस्याधिकारोनियोगः तस्य पुरुषैरधिकृतैरित्यर्थः । प्रदिष्टां निर्द्दिष्टां प्राग् द्वारस्य वेद्यां विनिवेशितः प्रतिष्ठापितः पूर्णकुम्भो यस्यास्तां स्थापितमङ्गलकलसामित्यर्थः । रम्यां रमणीयां नवोपकार्य्यां नूतनं राजभवनम् । उपकार्य्या राजसद्मन्युपचारचितेऽन्यवदिति विश्वः । मदनो बाल्यात्परां शैशवादनन्तरां दशामिव यौवनमिवेत्यर्थः अध्युवास अधिष्ठितवान् तत्रोषितवानित्यर्थः । उपान्वध्याङ् वस इति कर्म्मत्वम् ॥ ६३ ॥

तत्रेति । तत्रोपकार्य्यायां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः संमेलितो राजलोको येन तत् कमनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम् । ललामोऽस्त्री ललामापि प्रभावे पुरुषे ध्वजे । श्रेष्ठभूषाशुण्डशृङ्ग पुच्छचिह्नाश्वलिङ्गिष्विति यादवः । लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः । लभेः सनन्तादुप्रत्ययः । अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषा असमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ।

तं कर्णभूषणनिपीड़ितपीवरांसं
शय्योत्तरच्छदविमर्द्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं
प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥ ६५ ॥

रात्रिर्गता मतिमतां वर मुञ्च शय्यां
धात्रा द्विधैव ननु धूर्ज्जगतो विभक्ता ।
तामेकतस्तव बिभर्त्ति गुरुर्विनिद्र-
स्तस्या भवानपरधुर्य्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥

निद्रावशेन भवताप्यनपेक्षमाणा
पर्य्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।

राजानं कामिनं चौरं प्रविशन्ति प्रजागरा इति भावः । अभिमुखीशब्दोऽङीषन्तः च्व्यन्तोवा ॥ ६४ ॥

तमिति । कर्णभूषणाभ्यां निपीड़ितौ पीवरौ पीनावंसौ यस्य तं शय्यायां उत्तरच्छदस्योपर्य्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्षेण कृशो विरलोऽङ्गरागोयस्य तं न त्वङ्गनासङ्गादिति भावः । प्रथितप्रबोधं प्रकृष्टज्ञानं तमेनमजं सवयसः समानवयस्काः उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजाः वन्दिपुत्रा वैतालिका इति वा पाठः वैतालिका बोधकरा इत्यमरः । वाग्भिः स्तुतिपाठैः उषसि प्राबोधयन् प्रबोधयामासुः ॥ ६५ ॥

रात्रिरिति । हे मतिमतां वर । निर्द्धारणे षष्ठी । रात्रिर्गता शय्यां मुञ्च विनिद्रो भवेत्यर्थः । विनिद्रत्वे फलमाह धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भारः । धूः स्याद्यानमुखे भारे इति यादवः । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः । एवकारः तृतीयनिषेधार्थः । विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत् किमत आह । तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरुः पिता विनिद्रः सन् बिभर्त्ति तस्याः धुरो भवान् धुरं वहतीति धुर्य्यो भारवाही तस्य पदं वहनस्थानम् अपरं यद्धुर्य्यपदं तदवलम्बी ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः । न ह्युभयवाह्यम् एको वहतीति भावः ॥ ६६ ॥

निद्रेति । चन्द्रारविन्दराजवदनादयो लक्ष्मीनिवासस्थानानीति प्रसिद्धिमाश्रित्योच्यते । निद्रावशेन निद्राधीनेन स्त्र्यन्तरासङ्गो ध्वन्यते । भवता पर्य्युत्सुकत्व-

लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी
सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥ ६७ ॥

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त-
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरञ्च पद्मम् ॥ ६८ ॥

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां
संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः ।

अपि त्वय्यनुरक्तत्वमपीत्यर्थः । प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया चेति सप्तम्यर्थे तृतीया । अपिशब्दस्त्वद्विषयानुरागस्यानुपेक्ष्यत्वद्योतनार्थः । निशि खण्डिता भर्त्तुरन्यासङ्गज्ञानकलुषिता अबलेव नायिकेव । ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायितेति दशरूपके । अनपेक्षमाणा अविचारयन्ती सती उपेक्षमाणेत्यर्थः लक्ष्मीः येन चन्द्रेण सह त्वदाननसदृशत्वादिति भावः । विनोदयति विनोदं करोति । विनोदशब्दात् तत् करोति तदाचष्ट इति णिच् । सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति भावः । स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गतः सन् अस्तं गच्छन्नित्यर्थः अतएव त्वदाननरुचिं विजहाति त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः । अतो निद्रां विहाय तां लक्ष्मीमनन्यशरणां परिगृहाणेति भावः । अथवा निद्रावशेन भवतानपेक्ष्यमाणा अनिरीक्ष्यमाणा । कर्म्मणि शानच् । लक्ष्मीः प्रयोजककर्त्री, येन चन्द्रेण प्रयोज्येन पर्य्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम् । कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं मनस्तापज्वरादिकृदित्यलङ्कारे । विनोदयति निरासयतीति योजना । शेषं पूर्ववत् । नाथस्तु अर्थोपपत्तिमपश्यन् दूरं पलायाञ्चक्रे ॥ ६७ ॥

तदिति । तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणात् । वल्गुना मनोज्ञेन । वल्गुस्यामे मनोज्ञे च वल्गुभाषितमन्यवदिति विश्वः । युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मीलितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलाम् अन्योन्यसादृश्यम् अधिरोहतां प्राप्नुताम् । प्रार्थनायां लोट् । के द्वे अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तथोक्तम् । तारकाक्ष्णः कनीनिकेत्यमरः । तव चक्षुः अन्तः प्रचलितभ्रमरं चलद्भृङ्गं पद्मञ्च । युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः ॥ ६८ ॥

वृन्तादिति । विभातवायुः स्वाभाविकं नैसर्गिकं ते तव मुखमारुतस्य निश्वास-

स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुः
सौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥ ६९ ॥
ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः ।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥ ७० ॥
यावत् प्रतापनिधिराक्रमते न भानु-
रह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर याते
किंवा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥ ७१ ॥

पवनस्य सौरभ्यं तादृक् सौगन्ध्यमित्यर्थः परगुणेनान्यदीयगुणेन साङ्क्रामिकगन्धेने-त्यर्थः ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव । आपज्ञप्यृधामीदिति ईकारादेशः । अनोकहानां वृक्षाणां श्लथं शिथिलं पुष्पं वृन्तात् पुष्पबन्धनात् । वृन्तं प्रसवबन्धनमित्यमरः । हरति आदत्ते अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसि जातैः सरसिजैः कमलैः सह । तत्पुरुषे कृति बहुलमिति सप्तम्या अलुक् । संसृज्यते सङ्गच्छते । सृजेर्दैवादिकात् कर्त्तरि लट् ॥ ६९ ॥

ताम्रेति । ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु तरुपल्लवेषु पतितं निर्धौता या हार-गुलिका मुक्तामणयः तद्वद्विशदं हिमाम्भः लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया । पर-भागो गुणोत्कर्षे इति यादवः । अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिः दन्तकान्तिसहितं लीलास्मितमिवाभाति शोभते ॥ ७० ॥

यावदिति । प्रतापनिधिस्तेजोनिधिः भानुर्यावन्नाक्रमते नोद्गच्छति । आङ उद्गमन इत्यात्मनेपदम् । भानावनुदित एवेत्यर्थः । अह्नाय झटिति । द्राक् झटि-त्यञ्जसाह्नायेत्यमरः । अरुणेनानूरुणा । सूरसूतोऽरुणोऽनूरुरित्यमरः । तावत् तमो निरस्तम् । तथाहि हे वीर त्वयि आयोधनेषु युद्धेषु । युद्धमायोधनं जन्य-मित्यमरः । अग्रसरतां धुरःसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपून् स्वय-मुच्छिनत्ति किं वा नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः । न खलु योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः ॥ ७१ ॥

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः
स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगात्
भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥ ७२ ॥

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु
निद्रां विहाय वनजाक्ष वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि
लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥ ७३ ॥

शय्यामिति । उभाभ्यां पक्षाभ्यां पार्श्वाभ्यां विनीता निद्रा येषां ते उभयपक्षविनीत निद्राः । अत्र समासविषये उभशब्दस्थाने उभय शब्दप्रयोग एव साधुः इत्यनुसन्धेयम् । यथाह कैयटः उभादुदात्तोनित्यमिति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषये उभयशब्दस्य प्रयोगो मा भूत् उभयशब्दस्यैव यथा स्यात् उभयपुत्र इत्यादि भवतीति । मुखराण्युत्थानचलनाच्छब्दायमानानि शृङ्खलानि निगडानि कर्षन्तीति तथोक्ताः ते तव स्तम्बे रमन्तीति स्तम्बेरमाः हस्तिनः । स्तम्बकर्णयोरमिजपोरित्यच् प्रत्ययः । हस्तिसूचकयोरिति वक्तव्यात् । इभः स्तम्बेरमः पद्मीत्यमरः । तत्पुरुषे कृति बहुलमिति सप्तम्या अलुक् । शय्यां जहति त्यजन्ति । येषां स्तम्बेरमाणां दन्ताःकोशा इव दन्तकोशाः दन्तकुट्मलाः तरुणारुणरागयोगात् बालार्कारुणसम्पर्काद्धेतो भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति धातुरक्ता इव भान्तीत्यर्थः ॥ ७२ ।

दीर्घेष्विति । हे वनजाक्ष नीरजाक्ष । वनं नीरं वनं सत्वमिति शाश्वतः । दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिताः बद्धाः वनायुदेश्या वनायुदेशे भवाः । पारसीका वनायुजा इति हलायुधः । अमी वाहाः अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यानि आस्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि । सैन्धवोऽस्त्री सितशिवं मानिमन्यच्च सिन्धुज इत्यमरः । वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति । उक्तञ्च सिद्धयोगसंग्रहे पूर्वाह्णकाले चाश्वानां प्रायशोलवणं हितम् । शूलमोह विबन्धघ्नं लवणं सैन्धवं वरमित्यादि ॥ ७३ ॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं न स्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पञ्जरस्थः ॥ ७४ ॥
इति विरचितवाग्भि र्वन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ।
मदपटु निनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥ ७५ ॥
अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं
दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।

भवतीति । म्लानः पुष्पोपहारः पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति । प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः । अपि च अयं मञ्जुवाक् मधुरवचनः पञ्जरस्थः ते तव शुकः त्वत्प्रबोधनिमित्ते प्रयुक्तामुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति अनुकृत्य वदतीत्यर्थः । इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्त्तन्तेऽतः प्रबोद्धव्य मिति भावः ॥ ७४ ॥

इतीति । इतीत्थं विरचितवाग्भिः वन्दिपुत्रैः वैतालिकैः । पुत्रग्रहणं समानवयस्कत्वद्योतनार्थम् । सपदि विगतनिद्रः कुमारः तल्पं शय्याम् तल्पं शय्याट्टदारेष्वित्यमरः । उज्झाञ्चकार विससर्ज । इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छ इत्याम् प्रत्ययः । कथमिव, मदेन पटु मधुरं निनदद्भिः राजहंसैः बोधितः सुप्रतीकाख्यः सुरगजः ईशानदिग्गजः गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं पुलिनमिव । तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयमित्यमरः । सिकताशर्कराभ्यां चेत्यण् प्रत्ययः । सुप्रतीकग्रहणं प्रायशः कैलासवासिनस्तस्य नित्यं गङ्गातटविहार-सम्भवादित्यनुसन्धेयम् ॥ ७५ ॥

अथेति । अथोत्थानानन्तरम् अञ्चितानि चारूण्यक्षिपक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रे दृष्टमवगतं दिवसमुखोचितं प्रातःकालोचितं विधिमनुष्ठानम् अवसाय्य समाप्य । स्यतेर्ण्यन्तात् ल्यप् । कुशलैः प्रसाधनदक्षैर्विरचितोऽनुकूलः स्वयंवरो-

कुशलविरचितानुकूलवेषः
क्षितिपसमाजमगात् स्वयंवरस्थम् ॥ ७६ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
अजस्वयंवराभिगमनो नाम पञ्चमः सर्गः ।

चितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन् स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहम् अगात् अगमत् । इणोगा लुङीति गादेशः । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् तल्लक्षणम् अयुजि नयुगरेफतोयकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा इति ॥ ७६ ॥

इति श्रीमहोपाध्याय कोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

षष्ठः सर्गः ।

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेशान्
सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्य-
दाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं
प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां
मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कण्ठे वपुष्यथ ।
कामारिं कामतातं वा कञ्चिद्देवं जगामहे ॥

स इति । सोऽजः तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहासनस्थान् मनोज्ञवेशान् मनोहरनेपथ्यान् वैमानिकानां विमानैश्चरताम् । चरतीति ठक्प्रत्ययः । मरुतामसराणाम् । मरुतौ पवनामरावित्यमरः । आकृष्टलीलान् गृहीतसौभाग्यान् आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । नरलोकं पालयन्तीति नरलोकपालाः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । तान् भूपालान् अपश्यत् । सर्गेऽस्मिन्नुपजातिः छन्दः ॥ १ ॥

रतेरिति । रतिः स्मरप्रियायाञ्च रागे च सुरते स्मृता इति विश्वः । रतेः कामप्रियायाः गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजम् आलोकयतां नृपाणां मनः इन्दुमतीनिराशं वैदर्भीनिस्पृहं बभूव । इन्दुमती सलतिमेनं विहाय नास्मान् वरिष्यतीति निश्चिक्युरित्यर्थः । सर्वातिशयसौन्दर्य्यमस्येति भावः ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः
क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम्।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशाव-
स्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्न-
मासेदिवान् रत्नवदासनं सः।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्ति-
र्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु
प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः
पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

वैदर्भेति। असौ कुमारो वैदर्भेण भोजेन निर्दिष्टं प्रदर्शितं मञ्चं पर्यङ्कं क्लृप्तेन सुविहितेन सोपानपथेन मृगराजशावः सिंहपोतः। पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुरित्यमरः। शिलानां विभङ्गैर्भङ्गीभिः तुङ्गमुन्नतं नगोत्सङ्गं शैलाग्रमिव आरुरोह ॥ ३ ॥

परार्ध्येति। परार्ध्याः श्रेष्ठाः वर्णाः नीलपीतादयोयस्य तेनास्तरणेन कम्बलादिना उपपन्नं सङ्गतं रत्नवद्रत्नखचितमासनं सिंहासनम् आसेदिवान् अधिष्ठितवान् सोऽजः मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन सेनान्या सह। सेनानीरग्निभूर्गुह इत्यमरः। भूयिष्ठमत्यर्थम् उपमेयकान्तिरासीत्। मयूरस्य विचित्ररूपत्वात् तत्साम्यं रत्नासनस्य तद्द्वारा च तदारूढयोरपीति भावः ॥ ४ ॥

तास्विति। तासु राजपरम्परासु श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या पयोमुचां मेघानां पङ्क्तिषु विद्युतेव सहस्रधा विभक्तः तरङ्गेषु तरणिरिव स्वयमेकएव प्रत्येकं संक्रामित इत्यर्थः प्रभाविशेषस्योदयेनाविर्भावेन दुर्निरीक्ष्यो दुर्दर्शनः आत्मा श्रियः स्वरूपं व्यरुचत् व्यद्योतिष्ट। द्युद्भ्यो लुङीति परस्मैपदं द्युतादित्वादङ्प्रत्ययः। तस्मिन् समये प्रत्येकं संक्रान्तलक्ष्मीकतया तेषां किमपि दुरासदं तेजः प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानां-
मुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव
कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्
विहाय सर्व्वान् नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षाः
गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

अथ स्तुते वन्दिभिरन्वयज्ञैः
सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ
धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

तेषामिति । महार्हासनसंस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् उदारनेपथ्यभृताम् उज्ज्वलवेशधारिणां तेषां राज्ञां मध्ये कल्पद्रुमाणां मध्ये पारिजात इव सुरद्रुमविशेष इव । पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनमित्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा रराज । भृन्नेति पाठेऽतिशयेनेत्यर्थः । अत्र कल्पद्रुमशब्दः पञ्चान्यतमविशेषवचनः उपकल्पयन्ति मनोरथानिति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रोपलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् । कल्पा इति द्रुमाः कल्पद्रुमा इति विग्रहः ॥ ६ ॥

नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान् नृपतीन् विहाय तस्मिन्नजे निपेतुः स एव सर्वोत्कर्षेण ददृशे इत्यर्थः । कथमिव मदोत्कटे मदेनोद्भिन्नगण्डे निर्भरमदे वा वन्ये गन्धद्विपे गन्धप्रधाने द्विपे गजे रेचिताः रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षाः यैस्ते त्यक्तपुष्पवृक्षा इत्यर्थः द्विरेफा भृङ्गा इव । द्विपस्य वन्यविशेषणं द्विरेफाणां पुष्पवृक्ष-त्यागसम्भावनार्थं कृतम् ॥ ७ ॥

अथेति, पुरेति, मनुष्येति च त्रिभिर्विशेषकम् । अथ अन्वयज्ञैः राजवंशाभिज्ञैः वन्दिभिः स्तुतिपाठकैः । वन्दिनः स्तुतिपाठकाः इत्यमरः । सोमार्कवंश्ये सोमसूर्य्यवंशभवे नरदेवलोके स्तुते सति, विवेशेत्युत्तरेण सम्बन्धः एवमुत्तरत्रापि

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां
कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तान्
तूर्य्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयान-
मध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं
पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥ १० ॥

तस्मिन् विधानातिशये विधातुः
कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्राः
देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

योज्यम् । सञ्चारिते समन्तात् प्रचारितेऽगुरुसारोयोनिः कारणं यस्य तस्मिन् धूमे च वैजयन्तीः पताकाः समुत्सर्पति सति अतिक्रम्य गच्छति सति ॥ ८ ॥

किञ्च, पुरस्योपकण्ठे समीपे उपवनान्याश्रयोयेषां तेषां कलापिनां वर्हिणाम् उद्धतनृत्यहेतौ मेघध्वनिसादृश्यात्ताण्डवकारणे प्रध्माताः पूरिताः शङ्खा यत्र तस्मिन् मङ्गलार्थे मङ्गलप्रयोजनके तूर्य्यस्वने वाद्यघोषे परितः सर्व्वतः दिगन्तान् मूर्च्छति व्याप्नुवति सति ॥ ९ ॥

पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा । अथ स्वयंवरा पतिंवरा च वर्य्या चेत्यमरः । संज्ञायां भृतवृजीत्यादिना खच्प्रत्ययः । क्लृप्तविवाहवेषा कन्या इन्दुमती मनुष्यैर्वाह्यं परिवारेण परिजनेन शोभि चतुरस्रयानं चतुरस्रवाहनं शिविकामध्यास्य आरुह्य मञ्चान्तरे मञ्चमध्ये योराजमार्गस्तं विवेश ॥ १० ॥

तस्मिन्निति । नेत्रशतानामेकलक्ष्ये एकदृश्ये कन्यामये कन्यारूपे तस्मिन् विधातुर्विधानातिशये सृष्टिविशेषे नरेन्द्राः अन्तःकरणैर्निपेतुः आसनेषु देहैः केवलं देहैरेव स्थिताः देहानपि विस्मृत्य तत्रैव दत्तचित्ता बभूवुरित्यर्थः । अन्तःकरणकर्तृके निपतने नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेशः आदरातिशयार्थः ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां
महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां
शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥

कश्चित् कराभ्यामुपगूढ़नाल-
मालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तः परिवेषबन्धि
लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ १३ ॥

तामिति । तामिन्दुमतीं प्रति अभिव्यक्तमनोरथानां प्ररूढ़ाभिलाषाणां महीपतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः । प्रणयः प्रार्थना प्रेम वा । प्रणयास्त्वमी विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाण इत्यमरः । प्रणयेष्वग्रदूत्यः प्रथमदूतिकाः । प्रणयप्रकाशकत्वसाम्यात् दूतीत्वव्यपदेशः । विविधाः शृङ्गारचेष्टाः शृङ्गारविकाराः पादपानां प्रवालशोभाः पल्लवसम्पद इव बभूवुः । अत्र शृङ्गारलक्षणं रससुधाकरे । विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः । नीता सदस्यरस्यत्वं रतिः शृङ्गार उच्यते। रतिरिच्छाविशेषः तच्चोक्तं तत्रैव । यूनोरन्योन्यविषयस्थायिनीच्छा रतिः स्मृतेति । चेष्टाशब्देन तदनुभावविशेषा उच्यन्ते तेऽपि तत्रैवोक्ताः । भावं मनोगतं साक्षात् स्वहेतुं व्यञ्जयन्ति ये । तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः । ते चतुर्द्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवा इति । तत्र गात्रारम्भसम्भवान् चेष्टाशब्दोक्तानतुभावान् कश्चिदित्यादिभिः श्लोकैर्वक्ष्यति । शृङ्गाराभासश्चायम् एकत्रैव प्रतिपादनात् तदुक्तम् एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यक्शब्दगतोपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मत इति ॥ १२ ॥

शृङ्गारचेष्टा बभूवुरित्युक्तं ता एव दर्शयति

कश्चिदिति । कश्चिद्राजा कराभ्यां पाणिभ्याम् उपगूढ़नालं गृहीतनालम् आलोलैः चञ्चलैः पत्रैः अभिहतास्ताड़िताः द्विरेफाः भ्रमराः येन तत्तथोक्तं रजोभिः परागैरन्तःपरिवेषं मण्डलं बध्नातीति अन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार । करस्थलीलारविन्दवत् त्वयाहं भ्रमयितव्य इति नृपाभिप्रायः । हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणक इति इन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

विस्रस्तमंसादपरोविलासी
रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं
निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः॥ १४॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः
किञ्चित्समावर्ज्जितनेत्रशोभः।
तिर्य्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण
पादेन हैमं विलिलेख पीठम्॥ १५॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्द्धे
तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः।

विस्रस्तमिति। विलसनशीलोविलासी। वौ कषलसकत्थस्रम्भ इति घिणुन्-प्रत्ययः। अपरोराजा अंसाद्विस्रस्तं रत्नानुविद्धं रत्नखचितं यदङ्गदं केयूरं तस्य कोटिलग्नं प्रालम्बमृजुलम्बिनीं स्रजम्। प्रालम्बमृजुलम्बि स्यात् कण्ठादित्यमरः। प्रावारपाठे उत्तरीयवस्त्रम्। उत्कृष्योद्धृत्य साचीकृतं चारु वक्त्रं यस्य स तथोक्तः सन् यथावकाशं स्वस्थानं निनाय। प्रावारोत्क्षेपणच्छलेनाहं त्वामेवं परिरप्स्ये इति नृपाभिप्रायः। गोपनीयं किञ्चिदङ्गेऽस्ति ततोऽयं प्रावृणुतइति इन्दुमत्यभिप्रायः॥ १४॥

आकुञ्चितेति। ततः पूर्वोक्तादन्योऽपरोराजा किञ्चित् समावर्ज्जितनेत्रशोभः ईषदर्वाक्पातितनेत्रशोभः सन् आकुञ्चिताः आभुग्नाः अग्राङ्गुलयोयस्य तेन तिर्य्यग्विसंसर्पिण्योनखप्रभाः यस्य तेन च पादेन हैमं हिरण्मयं पीठं पादपीठं विलिलेख लिखितवान्। पादाङ्गुलीनामाकुञ्चनेन त्वं मत्समीपमागच्छेति नृपाभिप्रायः। भूमिविलेखकोऽयमपलक्षणकइति इन्दुमत्याशयः। भूमिविलेखनन्तु लक्ष्मीविनाशहेतु॥ १५॥

निवेश्येति। कश्चिद्राजा वामं भुजम् आसनार्द्धे सिंहासनैकदेशे निवेश्य संस्थाप्य तत्सन्निवेशात् तस्य वामभुजस्य सन्निवेशात् संस्थापनात् अधिकोन्नतोऽसो वामांस एव यस्य स तथोक्तः विवृत्ते परावृत्ते त्रिके त्रिकप्रदेशे भिन्नहारः लुण्ठितहारः सन्। पृष्ठवंशाधरे त्रिकमित्यमरः। सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् वामपार्श्व-

कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः
सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥
विलासिनी-विभ्रमदन्तपत्र-
मापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशै-
र्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्
करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धा-
नुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ १८ ॥
कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि
स्वसन्निवेशात् व्यतिलङ्घिनीव ।

वर्त्तिनैव मित्रेण सम्भाषितुं प्रवृत्त इत्यर्थः । अतएव विवृत्तत्रिकत्वं घटते । त्वया वामाङ्के निवेशितया सह एवं वार्त्तां करिष्ये इति नृपाभिप्रायः । परं दृष्ट्वा पराङ्मुखोऽयं न कार्य्यकर्त्ता इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

विलासिनीति । अन्योयुवा विलासिन्याः प्रियायाः विभ्रमार्थं दन्तपत्रं दन्तपत्रभूतम् आपाण्डुरं केतकबर्हं केतकदलम् । दलेपि बर्हमित्यमरः । प्रियानितम्बे उचितसन्निवेशैः अभ्यस्तनिक्षेपणैः नखाग्रैः विपाटयामास विदारयामास । अहं तव नितम्बे एवं नखव्रणादीन् दास्यामीति नृपाशयः । तृणच्छेदकवत् पत्रपाटकोऽयमपलक्षणइतीन्दुमत्याशयः ॥ १७ ॥

कुशेशयेति । कश्चिद्राजा कुशेशयं शतपत्रमिव आताम्रं तलं यस्य तेन । शतपत्रं कुशेशयमित्यमरः । रेखारूपो ध्वजो लाञ्छनं यस्य तेन करेण अङ्गुलिषु भवान्यङ्गुलीयानि ऊर्मिकाः । अङ्गुलीयकमूर्मिकेत्यमरः । जिह्वामूलाङ्गुलेश्छ इति छप्रत्ययः । रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभया अनुविद्धान् व्याप्तानक्षान् पाशान् । अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते इत्यमरः । सलीलमुदीरयामास उच्चिक्षेप । अहं त्वया सहैवं रंस्ये इति नृपाभिप्रायः । अक्षचातुर्य्यं कापुरुषोऽयमिति इन्दुमत्यभिप्रायः । अक्षैर्मा दीव्येदिति श्रुतिनिषेधात् ॥ १८ ॥

वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं
व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा
पुंवत् प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक् सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य
नीत्वा कुमारीमवदत् सुनन्दा ॥ २० ॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखाना-
मगाधसत्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः
परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

कश्चिदिति । कश्चित् यथाभागं यथास्थानम् । अवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशात् व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलिते इव किरीटे वज्राणां किरीटगतानामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्ये इति नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपलक्षणइतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

ततइति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वेपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यण् प्रत्ययः । टिड्ढाणञित्यादिना ङीप् । प्राक् प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीं मगधेश्वरस्य सन्निकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत् पुंसा तुल्यम् । तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिरिति वतिप्रत्ययः । अवदत् ॥ २० ॥

असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्त्तिनोनिर्देशः एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः । तत्र साधुरिति यत्प्रत्ययः । शरणं भवितुमर्हः शरण्यइति नाथनिरुक्तिर्निर्मूलैव । अगाधसत्वोगम्भीरस्वभावः । सत्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोरिति विश्वः । मगधाः जनपदाः तेषु प्रतिष्ठा आस्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः । प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदमित्यमरः । प्रजारञ्जने लब्धवर्णोविचक्षणः यद्वा प्रजारञ्जनेन लब्धोत्कर्षः परान् शत्रून् तापयतीति परन्तपः परन्तपाख्यः । द्विषत्परयोस्तापेरिति

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणा-
मजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्
मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं
पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।

खच्प्रत्ययः खचि ह्रस्व इति ह्रस्वः अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् इति मुमागमः ।
नामेति प्रसिद्धौ यथार्थनामा शत्रुसन्तापनादिति भावः ॥ २१ ॥

काममिति । अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु भूमिमनेन राजन्वतीं शोभन-राजवतीमाहुः नैतादृक् कश्चिदस्तीत्यर्थः । सुराज्ञि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवानित्यमरः । राजन्वान् सौराज्ये इति निपातनात्साधुः । तथाहि नक्षत्रै-रश्विन्यादिभिः ताराभिः साधारणैर्ज्योतिर्भिः ग्रहैर्भौमादिभिश्च सङ्कुलापि रात्रिः चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती नान्येन ज्योतिषेत्यर्थः ॥ २२ ॥

क्रियेति । अयं परन्तपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धादनुष्ठानसातत्यात् अविच्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थः अजस्रं नित्यम् आहूतसहस्रनेत्रः सन् चिरं शच्या अलकान् पाण्डुकपोलयोर्लम्बान् स्रस्तान् । पचाद्यच् । मन्दारैः कल्पद्रुमकु-सुमैः शून्यान् चकार । प्रोषितभर्तृका हि केशसंस्कारं न कुर्व्वन्ति, प्रोषिते मलिना कृशेति, क्रीड़ां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृकेति च स्मरणात् ॥ २३ ॥

अनेनेति । वरेण्येन वरणीयेन । वृणोतेरौणादिकएण्यप्रत्ययः । अनेन राज्ञा गृह्यमाणं पाणिमिच्छसि चेत् पाणिग्रहणमिच्छसि चेदित्यर्थः प्रवेशे प्रवेश-काले प्रासादवातायनसंस्थितानां राजभवनगवाक्षस्थितानां पुष्पपुराङ्गनानां पाट-

प्रासादवातायनसंश्रितानां
नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चि-
द्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी
प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥
तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता
राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा
पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥
जगाद चैनामयमङ्गनाथः
सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।

स्त्रीपुराङ्गनानां नेत्रोत्सवं कुरु । सर्वोत्तमानां तासामपि दर्शनीया भविष्यसीति भावः ॥ २४ ॥

एवमिति । एवं तया सुनन्दयोक्ते सति तं परन्तपमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिनी दूर्वाङ्का दूर्वाचिह्ना मधूकमाला गुड़पुष्पमाला यस्याः सा । मधूके तु गुड़पुष्प-मधुद्रुमावित्यमरः । वरणे शिथिलप्रयत्नेति भावः । तन्वी इन्दुमती एनं नृपमभाषमाणा ऋज्वा भावशून्यया प्रणामक्रिययैव प्रत्यादिदेश परिजहार ॥ २५ ॥

तामिति । सैव नान्या चित्तज्ञत्वादिति भावः । वेत्रग्रहणे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा तां राजसुतां राजान्तरम् अन्यराजानं निनाय । नयतिर्द्विकर्म्मकः । कथमिव समीरणोत्था वातोत्पन्ना तरङ्गलेखा ऊर्म्मिपङ्क्तिः मानसे सरसि या राजहंसी तां पद्मान्तरमिव ॥ २६ ॥

जगादेति । एनामिन्दुमतीं जगाद । किमिति, अयमङ्गनाथो ऽङ्गदेशाधीश्वरः सुराङ्गनाभिः प्रार्थिता कामिता यौवनश्रीर्यस्य स तथोक्तः । पुरा किलैनमिन्द्रसहायार्थमिन्द्रपुरगामिनम् अकामयन्त अप्सरस इति प्रसिद्धिः । किञ्च सूत्रकारैर्गजशास्त्रज्ञैः पालकादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगजः । किलेत्यैतिह्ये । अतएव भूमिगतोऽपि ऐन्द्रं पदं ऐश्वर्य्यं भुङ्क्ते भूलोकएव स्वर्गसुख-

विनीतनागः किल सूत्रकारै-
रैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥
अनेन पर्य्यासयताश्रुविन्दून्
मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीना-
मुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥ २८ ॥
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थ-
मस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या
त्वमेव कल्याणि ! तयोस्तृतीया ॥२९॥
अथाङ्गराजादवतार्य्य चक्षु-
र्याहीति जन्यामवदत् कुमारी ।

मनुभवतीत्यर्थः । गजाश्वरोदेवर्षिसेव्यत्वं ऐन्द्रपदशब्दार्थः । पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणात् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमालोक्य स्वयमशक्तैरिन्द्राभ्यनुज्ञया आनीतैर्देवर्षिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान् वशीकृत्य भुवि सम्प्रदायं प्रावर्त्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमान् अश्रुविन्दून् । अस्रमश्रुणीति विश्वः । पर्य्यासयता प्रस्तारयता भर्तृवधादिति भावः । अनेनाङ्गनाथेन उन्मुच्यापिच्य सूत्रेण विना हाराएव प्रत्यर्पिताः । अविच्छिन्नाश्रुविन्दुप्रवर्त्तनाद्दुत्सूत्रहारार्पणमेव कृतमित्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

निसर्गेति । निसर्गतः स्वभावतो भिन्नास्पदं भिन्नाश्रयं सहावस्थानविरोधीत्यर्थः श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयम् अस्मिन्नङ्गनाथे एकत्र संस्था स्थितिर्यस्य तदेकसंस्थम् उभयमिह सङ्गतमित्यर्थः । हे कल्याणि ! वह्वादिभ्यश्चेति ङीप् । कान्त्या सून्टतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या संसर्गार्हा त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया । समानगुणयोर्युवयोः दाम्पत्यं युज्यतएवेति भावः । दक्षिणनायकत्वञ्चास्य ध्वन्यते तदुक्तं तुल्योऽनेकत्र दक्षिण इति ॥ २९ ॥

ज्ञातौ न काम्यो नच वेद सम्यक्
द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः॥ ३०॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भि-
र्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ।
निदर्शयामास विशेषदृश्य-
मिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै॥ ३१॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहु-
र्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः।

अथेति। अथ कुमारी अङ्गराजाच्चक्षुरवतार्य अपनीयेत्यर्थः जन्यां मातृसखीं सुनन्दां याहि गच्छेत्यवदत्। अथवा जनीं वधूं वहन्तीति जन्याः वधूबन्धवः तान् यात गच्छतेत्यवदत्। जन्या मातृसखीमुदोः। जन्योवरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहि-तेपि चेति पक्षद्वये विश्वः। अथवा जन्या वधूभृत्याः। भृत्याश्चापि नवोढ़ाया इति केशवः। संज्ञायां जन्या इति यत्प्रत्ययान्तोनिपातः। यदवाह वृत्तिकारः जनीं वधूं वहन्तीति जन्या जामातुर्वयस्या इति, यच्चामरः जन्याः स्निग्धा वरस्य ये इति तत्सर्व्वे उपलक्षणार्थमित्यविरोधः। न चायमङ्गराजनिषेधोदृश्यदोषान्नापि द्रष्टृदोषा-दित्याह नेत्यादिना असावङ्गराजः काम्यः कमनीयोनेति न किन्तु काम्यएवेत्यर्थः। सा कुमारी च सम्यक् द्रष्टुं विवेक्तुं न वेदेति न, वेदेत्यर्थः। किन्तु लोकोजनो भिन्नरुचिर्हि रुचिरमपि किञ्चित् कस्मैचिन्न रोचते किं कुर्मो न ह्योच्छा नियन्तुं शक्यतइत्यर्थः॥ ३०॥

ततइति। ततोऽनन्तरं प्रतिहारभूमौ द्वारदेशे नियुक्ता दौवारिकी। स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारइत्यमरः। द्विषद्भिः शत्रुभिः दुष्प्रसहं दुःसहं शूरमित्यर्थः विशे-षेण दृश्यं दर्शनीयं रूपवन्तमित्यर्थः। परमन्यं नृपं नवोत्थानं नवोदयमिन्दुमिव इन्दुमत्यै निदर्शयामास॥ ३१॥

अवन्तीति। उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुः विशालवक्षाः तनुवृत्तमध्यः कृशवर्तुल-मध्योऽयं राजा अवन्तिनाथः अवन्तिदेशाधीश्वरः त्वष्ट्रा विश्वकर्म्मणा। भर्त्तु-स्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा संज्ञादेव्या प्रार्थितेनेति शेषः। चक्रभ्रमं चक्राकार-शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम्। भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुन्दाख्ये शिल्पियन्त्रके इति विश्वः। आरोप्य यत्नेनोल्लिखितः दृष्णतेजाः सूर्य्य इव विभाति। अत्र मार्क-

आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजा-
स्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्ते-
रग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां
प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥
असौ महाकालनिकेतनस्य
वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभि-
र्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥ ३४ ॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन
रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु
विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ ३५ ॥

श्लेयः । विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता । भ्रममारोप्य तत्तेजःशात-नायोपचक्रमे इति ॥ ३२ ॥

अस्येति । समग्रशक्तेः शक्तित्रयसम्पन्नस्य अस्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु यात्रासु अग्रेसरैर्वाजिभिरश्वैरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताद्भवानां राज्ञां ये शिखामणयः चूड़ामणयः तेषां प्रभाप्ररोहास्तमयं तेजोऽङ्कुरनाशं कुर्व्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः पराजीयन्तइति भावः ॥ ३३ ॥

असाविति । अ ावन्तिनाथः महाकालं नाम स्थानविशेषः तदेव निकेतनं स्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्य अदूरे समीपे वसन् अतएव हेतोः तमिस्रपक्षे कृष्णपक्षेऽपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् रात्रीर्निर्विशत्यनुभवति किल । नित्यज्योत्स्नाविहारत्वमेतस्यैव नान्यस्येति भावः ॥ ३४ ॥

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भाविव ऊरू यस्याः सा रम्भोरूस्तस्याः सम्बोधनं हे रम्भोरु । ऊरूत्तरपदादौपम्यइत्यूङ्प्रत्ययः नदीत्वाद्ध्रस्वः । यूना अनेन पार्थिवेन सह सिप्रा नाम तत्रत्या नदी तस्यास्तरङ्गाणामनिलेन कम्पितासूद्या-

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे
प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्य्या
कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥३६॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभा-
मनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातु-
र्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥३७॥

संग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहु-
रष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।

नानां परम्परासु पङ्क्तिषु विहर्तुं ते तव मनसो रुचिः कच्चित् स्पृहास्ति किमि-त्यर्थः । अभिष्वङ्गे स्पृहायाञ्च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियामित्यमरः ॥ ३५ ॥

तस्मिन्निति । उत्तमसौकुमार्य्या उत्कृष्टाङ्गमार्दवा सा इन्दुमती अभिद्यो-तितानि उल्लासितानि बन्धवएव पद्मानि येन तस्मिन् प्रतापेन तेजसा संशोषिताः शत्रव एव पङ्काः कर्द्दमाः येन तस्मिन् तस्मिन्नवन्तिनाथे कुमुद्वती । कुमुदनड्वेत-सेभ्यो ड्मतुप् इति ड्मतुप्प्रत्ययः । भानुमत्यंशुमतीव भावं चित्तं न बबन्ध न तत्रानु-रागमकरोदित्यर्थः । बन्धूनां पद्मत्वेन शत्रूणां पङ्कत्वेन च रूपणं राज्ञः सूर्य्यसा-म्यार्थम् ॥ ३६ ॥

तामिति । सुनन्दा तामरसान्तराभां पद्मोदरतुल्यकान्तिं कनकगौरीमित्यर्थः गुणैरनूनामधिकामित्यर्थः शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती । वयसि दन्तस्य दतृिति दत्रादेशः उगितश्चेति ङीप् । तां तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं मधुरनिर्माणं स्त्रियमित्यर्थः । अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः । ऋक्-पूरब्धूःपथामानक्षे इत्यप्रत्ययः समासान्तः ऊदनोर्देशे इत्यूदादेशः । तेषां राज्ञोऽनू-पराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूयः पुनर्जगाद ॥ ३७ ॥

संग्रामेति । संग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूताः सहस्रं बाहवो यस्य स तथोक्तः युद्धादन्यत्र द्विभुज एव दृश्यत इत्यर्थः । अष्टादशसु द्वीपेषु निखाताः स्थापिताः यूपाः येन स तथोक्तः । सर्व्वक्रतुयाजी सार्वभौमश्चेति भावः । जरा-युजादिसर्व्वभूतरञ्जनादनन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य स तथोक्तः योगी ब्रह्मविद्या-

अनन्यसाधारणराजशब्दो
बभूव योगी किल कार्त्तवीर्य्यः ॥३८॥

अकार्य्यचिन्तासमकालमेव
प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां
प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥३९॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य
विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन
लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात्॥४०॥

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः
प्रतीपइत्यागमवृद्धसेवी ।

नित्यर्थः । स किल भगवतो दत्तात्रेयाल्लब्धयोगइति प्रसिद्धिः । कृतवीर्य्यस्यापत्यं पुमान् कार्त्तवीर्य्योनाम राजा बभूव किलेति । अयञ्चास्य महिमा सर्वोपि दत्तात्रेयवरप्रसादलब्धइति भारते दृश्यते ॥ ३८ ॥

अकार्य्येति । विनेता शिक्षको यः कार्त्तवीर्य्यः कार्य्यस्यासत्कार्य्यस्य चिन्तायाः अहं चौर्य्यादिकं करिष्यामीति बुद्धेः समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः प्रादुर्भवन् सन् प्रजानाम् । प्रजा स्यात् सन्ततौ जने इत्यमरः । अन्तःशरीरेषु अन्तःकरणेषु । शरीरशब्देनेन्द्रियं लक्ष्यते । अविनयमपि प्रत्यादिदेश मानसापराधमपि निवारयामासेत्यर्थः । अन्ये तु वाक्कायापराधमात्रप्रतिकर्त्तार इति भावः ॥ ३९ ॥

ज्याबन्धेति । ज्याया मौर्व्या बन्धेन बन्धनेन निष्पन्दा निश्चेष्टा भुजा यस्य तेन विनिःश्वसती ज्याबन्धोपरोधात् दीर्घं निःश्वसती वक्त्रपरम्परा दशमुखी यस्य तेन निर्जितवासवेनेन्द्रविजयिना । अत्रेन्द्रादयोऽप्यनेन जितप्रायाएवेति भावः । लङ्केश्वरेण दशास्येन यस्य कार्त्तवीर्य्यस्य कारागृहे बन्धनागारे । कारा स्याद्बन्धनालये इत्यमरः । आप्रसादादनुग्रहपर्य्यन्तम् उषितं स्थितम् । नपुंसके भावे क्तः । एतत्प्रसादएव तस्य मोक्षोपायो नतु क्षात्त्रमिति भावः ॥ ४० ॥

येन श्रियः संश्रयदोषरूढं
स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥४१॥
आयोधने कृष्णगतिं सहाय-
मवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य
सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥४२॥
अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहो-
र्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां
रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥

तस्येति । आगमवृद्धसेवी श्रुतवृद्धसेवी प्रतीप इति ख्यातइति शेषः एषः भूपतिस्तस्य कार्त्तवीर्य्यस्यान्वये वंशे जातः । येन प्रतीपेन संश्रयस्याश्रयस्य पुंसो दोषै व्यसनादिभिः रूढ़स्तुत्पन्नं श्रियः सम्बन्धि स्वभावलोला प्रकृतिचञ्चलेत्येवंरूपमयशोदुष्कीर्त्तिः प्रमृष्टं निरस्तम् । दुष्टाश्रयत्यागशीलायाः श्रियः प्रकृतिचापलप्रवादोमूढ़जनपरिकल्पितइत्यर्थः । अयन्तु दोषराहित्यान्न कदाचिदपि त्यज्यतइति भावः ॥ ४१ ॥

आयोधन इति । यः प्रतीपः आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहायमवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं संहाररात्रिमित्यर्थः रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः । द्वयोः कुठार स्वधितिः परशुश्च परश्वध इत्यमरः । शितां तीक्ष्णां धारां मुखम् । खड्गादीनाञ्च निशितमुखे धारा प्रकीर्त्तितेति विश्वः । उत्पलपत्रस्य सारइव सारोयस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते । एतन्नगरजिगीषयागतान् रिपून् स्वयमेव धक्ष्यामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा, दह्यन्ते च तथागताः शत्रवइति भारते कथानुसन्धेया ॥ ४२ ॥

अस्येति । दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्कलक्ष्मीर्भव एनं वृणीष्वेत्यर्थः । अनेनायं विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते । माहिष्मती नामास्य नगरी तस्यावप्रः प्राकारएव नितम्बः तस्य काञ्चीं रशनाभूतां जलानां वेण्या प्रवाहेन रम्याम् । ओघः प्रवाहो वेणी चेति हलायुधः । रेवां नर्मदां प्रासादजालैः गवाक्षैः । जालं समूह आनायो गवाक्षक्षारकावपीत्यमरः । प्रेक्षितुं काम इच्छा अस्ति यदि ॥ ४३ ॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि
न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः
शशीव पर्य्याप्तकलो नलिन्याः ॥ ४४ ॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेण-
मुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्त्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं
शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

नीपान्वयः पार्थिवएष यज्वा
गुणै र्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवेत्य सत्वै-
र्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा
कान्तिर्हिमांशोरिव सन्निविष्टा ।

तस्यादिति । प्रकामं प्रियं प्रीतिकरं दर्शनं यस्य सोऽपि दर्शनीयोऽपीत्यर्थः स क्षितीशः शरदा प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः निरस्तमेघावरणः पर्य्याप्तकलः पूर्णकलः शशी नलिन्याइव तस्या इन्दुमत्याः रुचये न बभूव रुचिं नाजीजनदित्यर्थः । लोकोभिन्नरुचिरिति भावः ॥ ४४ ॥

सेति । लोकान्तरे स्वर्गादावपि गीतकीर्त्तिम् आचारेण शुद्धयोरुभयोः वंशयोर्मातापितृकुलयोः दीपं प्रकाशकम् । उभयवंशेत्यत्रोभयपच्चवन्निर्व्वाहः । शूरसेनानां देशानामधिपतिं सुषेणं नाम नृपतिम् उद्दिश्याभिसन्धाय शुद्धान्तरक्ष्या अन्तःपुरपालिकया । कर्मण्यण् टिड्ढेति ङीप् । सा कुमारी जगदे ॥ ४५ ॥

नीपेति । यज्वा विधिवदिष्टवान् । सुयजोर्ङ्वनिप् इति ङ्वनिप् प्रत्ययः । एष पार्थिवो नीपो नामान्वयोऽस्येति नीपान्वयः नीपवंशजः यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्ज्ञानमौनादिभिः शान्तं प्रसन्नं सिद्धाश्रमम् ऋष्याश्रममेत्य प्राप्य सत्वैः गजसिंहादिभिः प्राणिभिरिव नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोधः उत्ससृजे त्यक्तः ॥ ४६ ॥

हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु
तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥
यस्यावरोधस्तनचन्दनानां
प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि
गङ्गोर्म्मिसंसक्तजलेव भाति ॥ ४८ ॥
त्रस्तेन तार्क्ष्यात् किल कालियेन
मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापिरुचं दधानः
सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम् ॥ ४९ ॥

यस्येति। हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रकिरणइव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य कान्तिः शोभा आत्मगेहे स्वभवने सन्निविष्टा संक्रान्ता। अविषह्यं विसोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिर-प्रान्तेषु। हर्म्यादि धनिनां वासइत्यमरः। संरूढास्तृणाङ्कुरा येषां तेषु शून्येष्वित्यर्थः रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु। मन्दिरं नगरे गृहे इति विश्वः। सन्निविष्टम्। स्वजनाह्लादको द्विषन्तपश्चेति भावः ॥ ४७ ॥

यस्येति। यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीड़ासमये अवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः, कलिन्दो नाम शैलः तत्कन्या यमुना। कालिन्दी सूर्य्यतनया यमुना शमनस्वसेत्यमरः। मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी तां गतापि गङ्गायाविप्रकृष्टापीत्यर्थः। मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः। कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरबधकाले शत्रुघ्नेन निर्म्मास्यतइति वक्ष्यति तत्कथमधुना मथुरासम्भवइति चिन्त्यम्। मथुरा मधुरा पुरीति शब्दभेदः यद्वा सान्येति। गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्म्मिभिः संसक्तजलेव भाति धवलचन्दनसंसर्गात् प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासङ्गतेव भातीत्यर्थः। सितासिते हि गङ्गायमुने इति घण्टापथः ॥ ४८ ॥

त्रस्तेनेति। तार्क्ष्यात् गरुड़ात् त्रस्तेन यमुना ओकः स्थानं यस्य तेन कालियेन नाम नागेन विसृष्टं किल अभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तं किलेत्यैतिह्ये वक्षःस्थल-

सम्भाव्य भर्त्तारममुं युवानं
मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने
निर्विश्यतां सुन्दरि! यौवनश्रीः ॥ ५० ॥

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि
शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं
कान्तासु गोवर्द्धनकन्दरासु ॥ ५१ ॥

नृपं तमावर्त्तमनोज्ञनाभिः
सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं
स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

व्यापिरुचं मणिं दधानो यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं विष्णुं ह्रेपयतीव व्रीड़-यतीव। अर्त्तिह्रीत्यादिना पुगागमः। कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः ॥ ४९ ॥

सम्भाव्येति। युवानममुं सुषेणं भर्त्तारं सम्भाव्य मत्वा पतित्वेनाङ्गीकृत्येत्यर्थः। मृदुप्रवालोत्तरा उपरिप्रस्तारितकोमलपल्लवा पुष्पशय्या यस्मिन् तत् तस्मिन् चैत्र-रथात् कुवेरोद्यानादनूने वृन्दावने वृन्दावननामके उद्याने हे सुन्दरि यौवनश्रीः यौवनफलं निर्विश्यतां भुज्यताम् ॥ ५० ॥

अध्यास्येति। किञ्च प्रावृषि वर्षासु कान्तासु गोवर्द्धनस्याद्रेः कन्दरासु दरीषु। दरी तु कन्दरो वा स्त्रीत्यमरः। अम्भसः पृषतैर्बिन्दुभिः उक्षितानि सिक्तानि शिलायां भवं शैलेयम्। शिलाजतु च शैलेयमिति यादवः। यद्वा शिलापुष्पाख्य ओषधिविशेषः। कालानुसार्य्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु शैलेयमित्यमरः। शिलायाण्ढः इत्यत्र शिलायादिति योगविभागादिवार्थे ढ्कप्रत्ययः। तद्गन्धवन्ति शैलेयगन्धीनि शिलातलान्यध्यास्याधिष्ठाय कलापिनां बर्हिणां नृत्यं पश्य ॥ ५१ ॥

नृपमिति। स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमइत्यमरः। आवर्त्तमनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा इदञ्च नदीसाम्यार्थमुक्तम्। अन्यवधूरन्यपत्नी भवित्री भाविनी सा कुमारी तं

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या
हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं
बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥ ५३ ॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः
पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन
यात्रासु यातीव पुरोमहेन्द्रः ॥ ५४ ॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां
बिभर्त्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके
वन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ ५५ ॥

रूपं सागरगामिनी सागरं गन्त्री स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्व्वतमिव व्यत्यगात् अतीत्य गता ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ भुजिष्या किङ्करी सुनन्दा । भुजिष्या किङ्करी मतेति हलायुधः । अङ्गदाश्लिष्टभुजं केयूरनद्धबाहुं सादितशत्रुपक्षं विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् आसेदुषीमासन्नामबालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं बभाषे ॥ ५३ ॥

असाविति । महेन्द्राद्रेः समानसारस्तुल्यसत्वोऽसौ हेमाङ्गदः महेन्द्रस्य नाम कुलपर्व्वतस्य महोदधेश्च पतिः स्वामी । महेन्द्रमहोदधी एवास्य गिरिजलदुर्गं इति भावः । यस्य यात्रासु क्षरतां मदस्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्राद्रिः पुरोऽग्रे यातीव अद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

ज्याघातेति । सुभुजश्चापभृतां पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो यः वन्दीकृतानां प्रगृहीतानाम् । प्रग्रहोपग्रहौ वन्द्यामित्यमरः । रिपुश्रियां साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते कज्जलमिश्राश्रुसिक्ते इत्यर्थः । पद्धती इव द्वे ज्याघातानां मौर्व्वीकिणानां रेखे राजी भुजाभ्यां बिभर्त्ति । द्विवचनात्सव्यसाचित्वं गम्यते । रिपु-

यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो
मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्य्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः
प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशे-
स्तीरेषु तालीवनमर्म्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पै-
रपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया
विदर्भराजावरजा तयैवम् ।
तस्मादपावर्त्तत दूरकृष्टा
नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥

श्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्तद्गतरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोत्प्रेक्षा तयोः श्यामत्वात् साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः ॥ ५५ ॥

यमिति । आत्मनः सद्मनि सुप्तं यं हेमाङ्गदं सन्निकृष्टः समीपस्थः अतएव प्रासादवातायनैः दृश्यवीचिः मन्द्रेण गम्भीरेण । मन्द्रस्तु गम्भीरे इत्यमरः । ध्वनिना त्याजितं विवर्जितं यामस्य तूर्य्यं प्रहरावसानसूचकं वाद्यं येन स तथोक्तः । द्वौ यामप्रहरौ समावित्यमरः । अर्णव एव प्रबोधयति । अर्णवस्यैव तूर्य्यकार्य्यकारित्वात् तद्वैयर्थ्यमित्यर्थः । समुद्रस्यापि सेव्यः किमन्येषामिति भावः ॥५६॥

अनेनेति । अनेन राज्ञा सार्द्धं तालीवनैर्मर्मरेषु मर्मरेति ध्वनत्सु । अथ मर्म्मरः स्वनिते वस्त्रपर्णानामित्यमरवचनात् गुणपरस्यापि मर्म्मरशब्दस्य गुणिपरत्वं प्रयोगादवसेयम् । अम्बुराशेः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि लवङ्गपुष्पाणि देवकुसुमानि यैस्तैः । लवङ्गं देवकुसुममित्यमरः । मरुद्भिर्वातैरपाकृताः प्रशमिताः स्वेदस्य लवाः बिन्दवो यस्याः सा तथाभूता सती विहर क्रीड़ ॥ ५७ ॥

प्रलोभितेति । आकृत्या रूपेण लोभनीया आकर्षणीया नतु वर्णनमात्रेणेत्यर्थः । विदर्भराजावरजा भोजानुजा इन्दुमती तया सुनन्दया एवं प्रलोभिता

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं
दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति
पूर्व्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥ ५९ ॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
कॢप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रे-
र्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।

प्रचोदितापि नीत्वा पुरुषकारेण दूरकृष्टा दूरमानीता लक्ष्मीः प्रतिकूलं दैवं यस्य तस्मात् पुंसइव तस्माद्भेमाङ्गदादपावर्त्तत प्रतिनिवृत्ता ॥ ५८ ॥

अथेति । अथ द्वारे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा । तत्र नियुक्त इति ठक्-प्रत्ययः । द्वारादीनाञ्चेत्यौ आगमः । आकारेण देवसरूपं देवतुल्यम् उरगाख्यस्य पुरस्य पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्त्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य हे चकोराक्षि ! इतोविलोकयेति पूर्व्वानुशिष्टां पूर्व्वमुक्तां भोजस्य राज्ञोगोत्रापत्यं स्त्रियं भोज्या-मिन्दुमतीम् । क्रौड्यादिभ्यश्चेत्यत्र भोजात् क्षत्रियादित्युपसंख्यानात् ष्यङ्प्रत्ययः यङश्चाबिति चाप् । निजगाद इतोविलोकयेति पूर्व्वमुक्त्वा पश्चाद्वक्तव्यं निजगा-देत्यर्थः ॥ ५९ ॥

पाण्ड्य इति । अंसयोरर्पिताः लम्बन्ते इति लम्बा हारा यस्य सः हरि-चन्दनेन गोशीर्षाख्येन चन्दनेन तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियामित्यमरः । कॢप्ताङ्गरागः सिद्धानुलेपनोऽयं पाण्डूनां जनपदानां राजा पाण्ड्यः । पाण्डो-र्जनपदशब्दात् क्षत्रियात् ड्यण्वक्तव्य इति ड्यण्प्रत्ययः तस्य राजन्यपत्यवदिति वचनात् । बालातपेन रक्ता अरुणाः सानवोयस्य सः सनिर्झरोद्गारः प्रवाह-स्यन्दनसहितः । वारिप्रवाहो निर्झरोझर इत्यमरः । अद्रिराजइवाभाति ॥ ६० ॥

विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः तपनमार्गनिरोधाय वर्द्धमानस्येति शेषः संस्तम्भयिता निवारयिता निःशेषं पीतः उज्झितः पुनस्त्यक्तः सिन्धुराजः

प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्त्तेः
सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ ६१ ॥

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं
येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्द्दशङ्की
सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते
महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलायाः
दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगा-
स्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।

समुद्रो येन सः अगस्त्यः अश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्म्मणि । दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञ इत्यमरः । आर्द्रमूर्त्तेः स्नातस्येत्यर्थः यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन न तु दाक्षिण्येन सुस्नातं पृच्छतीति सौस्नातिको भवति । पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इत्युपसंख्यानात् ठक् ॥ ६१ ॥

अस्त्रमिति । पुरा पूर्व्वं जनस्थानस्य खरालयस्य विमर्द्दशङ्की दृप्तउद्धतो लङ्काधिपतीरावणः दुरापं दुर्लभमस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकं हरादाप्तवता येन पाण्ड्येन सन्धाय इन्द्रलोकावजयाय इन्द्रलोकं जेतुं प्रतस्थे । इन्द्रविजयिनोरावणस्यापि विजेतेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । महाकुलादञ्खञाविति खञ्प्रत्ययः । अनेन पाण्ड्येन पाणौ त्वदीये विधिवद्यथाशास्त्रं गृहीते सति गुर्वी गुरुः । वोतोगुणवचनादिति ङीप् । महीव रत्नैरनुविद्धोव्याप्तोऽर्णवएव मेखला यस्यास्तस्याः । इदं विशेषणं मह्यामिन्दुमत्याञ्च योज्यम् । दक्षिणस्या दिशः सपत्नी भव । अनेन सपत्न्यन्तराभावोध्वन्यते ॥ ६३ ॥

ताम्बूलेति । ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धाः परिरब्धाः पूगाः क्रमुकाः यासु । ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यपीति, घोण्टा तु पूगः क्रमुकइति

तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं
प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ
त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां
योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो
लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे
नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥

चामरः । एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु । गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियामित्यमरः । तमालस्य तापिञ्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु । कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिञ्छोऽपीत्यमरः । मलयस्थलीषु शश्वत् मुहुः सदा वा रन्तुं प्रसीद अनुकूला भव ॥ ६४ ॥

इन्दीवरेति । असौ नृपः इन्दीवरश्यामतनुः त्वं रोचना गोरोचनेव गौरी शरीरयष्टिर्यस्याः सा ततस्तडित्तोयदयोः विद्युन्मेघयोरिव वां युवयोर्योगः समागमोऽन्योन्यशोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु ॥ ६५ ॥

स्वसुरिति । विदर्भाधिपतेर्भोजस्य स्वसुरिन्दुमत्याः चेतसि तदीयः सुनन्दासम्बन्धी उपदेशो वाक्यं दिवाकरस्यादर्शनेन बद्धकोशे मुकुलिते अरविन्दे नक्षत्रनाथांशुः चन्द्रकिरणइव अन्तरमवकाशं न लेभे ॥ ६६ ॥

सञ्चारिणीति । पतिंवरा सा इन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखेव यं यं भूपालं व्यतीयाय अतीत्य गता सस भूमिपालः स सर्व इत्यर्थः । नित्यवीप्सायां

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां
वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः
केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥

तं प्राप्य सर्व्वावयवानवद्यं
व्यावर्त्ततान्योपगमात् कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य
वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली ॥ ६९ ॥

तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्ति-
मिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा
सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

द्विर्वचनम् । नरेन्द्रमार्गे राजपथे अट्टाख्यो गृहभेद इव । स्यादट्टः क्षौममस्त्रिया-मित्यमरः । विवर्णभावं विच्छायत्वम् अट्टस्तु तमोवृतत्वं प्रपेदे ॥५७॥

तस्यामिति । तस्यामिन्दुमत्यामुपस्थितायामासन्नायां सत्यां रघोः सूनुरजः मां वृणीत न वेति समाकुलः संशयितोऽभूत् । अथास्याजस्य वामेतरो वामादितरो दक्षिणो बाहुः केयूरं बध्यतेऽत्रेति केयूरबन्धोऽङ्गदस्थानं तस्योच्छ्वसितैः स्फुरणैः संशयं नुनोद ॥ ६८ ॥

तमिति । कुमारी सर्व्वेष्ववयवेषु अनवद्यमदोषं तमजं प्राप्य अन्योपगमाद्रा-जान्तरोपगमात् व्यावर्त्तत निवृत्ता । तथाहि षट्पदाली भृङ्गावलिः प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितं पुष्पितमित्यर्थः । प्रपूर्व्वात् फुल्लतेः पचाद्यच् फलतेस्तु प्रफुल्त-मिति पठितव्यम् अनुपसर्गादिति निषेधादित्युभयथापि न कदाचिदनुपपत्ति रित्युक्तं प्राक् । सहकारं चूतविशेषमेत्य । आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभ इत्यमरः । वृक्षान्तरं न काङ्क्षति । न हि सर्व्वोत्कृष्टवस्तुलाभेऽपि वस्त्वन्तरस्याभिलाषः स्यादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नजे समावेशिता संक्रामिता चित्तवृत्तिर्यया ताम् इन्दोः प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम् । आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम् । इन्दुमतीमवेक्ष्य अनुक्रमज्ञा

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां
ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः
श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोशलेन्द्राः ॥ ७१ ॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं
यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां
गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥

वाक्यपौर्व्वापर्य्याभिज्ञा सुनन्दा इदं वक्ष्यमाणं सविस्तरं सप्रपञ्चम्। प्रथनेवावशब्द इति घञोनिषेधात् ऋदोरप् इत्यप्प्रत्ययः । विस्तारोविग्रहोव्यासः सच शब्दस्य विस्तरः इत्यमरः । वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकिति । इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वंशे भवः नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः । ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजलक्ष्मणीति विश्वः । आहितलक्षणः प्रख्यातगुणः । गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणावित्यमरः । ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ इति प्रसिद्धः कश्चित् राजा अभूत् यतः ककुत्स्थादारभ्य उन्नतेच्छा महाशयाः । महेच्छस्तु महाशयइत्यमरः । उत्तरकोशलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तं ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान् काकुत्स्थइति शब्दं संज्ञां दधति बिभ्रति। तन्नामसंस्पर्शोपि वंशस्य कीर्त्तिकर इति भावः । पुरा किल पुरञ्जयो नाम साक्षाद्भगवतोविष्णोरंशावतारः कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयबन्धेन देवासुरयुद्धे महोक्षरूपधारिणो महेन्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसंज्ञां लेभे इति पौराणिकी कथानुसन्धेया, वक्ष्यते चायमेवार्थ उत्तरश्लोके ॥ ७१ ॥

महेन्द्रमिति । यः ककुत्स्थः संयति युद्धे महानुक्षा महोक्षः । अचतुरेति निपातः तस्य रूपमिव रूपं यस्य तं महेन्द्रमास्थायारुह्य अतएव प्राप्ता पिनाकिनः ईश्वरस्य लीला येन स तथोक्तः सन् बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखा निवृत्तपत्ररचनाश्चकार तद्भर्तॄनसुरानवधीदित्यर्थः । नहि विधवाः प्रसाध्यन्त इति भावः ॥ ७२ ॥

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः
सङ्घट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्त्तिमग्र्या-
मर्द्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्त्तिः
कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः ।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे
शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः ॥७४॥

यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां
निद्रां विहारार्द्धपथे गतानाम् ।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि
को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ॥ ७५ ॥

ऐरावतेति। यः ककुत्स्थः, ऐरावतस्य स्वर्गजस्यास्फालनेन ताड़नेन विश्लथं शिथिलमङ्गदमैन्द्रम् अङ्गदेन स्वकीयेन सङ्घट्टयन् सङ्घर्षयन् स्वामग्र्यां श्रेष्ठां मूर्त्तिमुपेयुषोपि प्राप्तस्यापि गोत्रभिद इन्द्रस्य अर्द्धमासनस्यार्द्धासनम्। अर्द्धं नपुंसकमिति समासः। अधितष्ठौ अधिष्ठितवान्। स्यादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्येति अभ्यासेन व्यवायेपि षत्वम्। न केवलं महोक्षरूपधारिणएव तस्य ककुदमारुक्षत् किन्तु निजरूपधारिणोऽपि इन्द्रस्यार्द्धासनमित्यपिशब्दार्थः। अथवा अर्द्धासनमपीत्यपेरन्वयः॥ ७३ ॥

जातइति। उरुकीर्त्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो दिलीपो नृपति स्तस्य ककुत्स्थस्य कुले जातः किल योदिलीपः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये न त्वशक्त्येति भावः एकेनोनाः शतं क्रतवोयस्य स एकोनशतक्रतु स्तस्य भावे तत्त्वेऽतिष्ठत् इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थः॥ ७४ ॥

यस्मिन्निति। यस्मिन् दिलीपे महीं शासति सति विह्रियत्यत्रेति विहारः क्रीड़ास्थानं तस्यार्द्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनां मत्ताङ्गनानाम्। वाणिनी नर्त्तकीमत्ता विदग्धवनितासु चेति विश्वः। वाणिन्यौ नर्त्तकीमत्ते इत्यमरश्च। अंशुकानि वस्त्राणि वातोऽपि नास्रंसयत् नाकम्पयत् आहरणाय अपहर्त्तुं को हस्तं

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति
महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता ।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो
मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम् ॥ ७६ ॥

आरूढमद्रीनुदधीन् वितीर्णं
भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्द्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि
यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजात-
स्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा
धुर्य्येण दम्यः सदृशं बिभर्त्ति ॥ ७८ ॥

सम्वयेत्। तस्य आज्ञासिद्धत्वादकुतोभयसञ्चाराः प्रजा इत्यर्थः। अर्द्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रहः समप्रविभागे प्रमाणाभावात् नैकदेशि समासः ॥ ७५ ॥

पुत्र इति। विश्वजितोनाम महाक्रतोः प्रयोक्ता अनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो रघुः पदं पैत्रमेव प्रशास्ति पालयति योरघुश्चतसृभ्योदिग्भ्यः आवर्ज्जिता आहृता सम्भृता सम्यग्वर्द्धिता च या तां चतुर्दिगावर्ज्जितसम्भृतां विभूतिं सम्पदं मृत्पात्रमेव शेषोयस्यास्ता मकरोत् विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणकत्वादित्यर्थः॥७६॥

आरूढमिति। किञ्च अद्रीनारूढम् उदधीन् वितीर्णम् अवगाढं सकलभूगोलव्यापकमित्यर्थः भुजङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् ऊर्द्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम् इत्यं सर्वदिग्व्यापीत्यर्थः अनुबध्नातीत्यनुबन्धि च अविच्छेदकालत्रयव्यापकञ्चेत्यर्थः अतएवैवंभूतं यस्य यशः इयत्तया देशतः कालतोवा केनचिन्मानेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम् ॥ ७७ ॥

असाविति। असावजाख्यः कुमारः त्रिविष्टपस्य स्वर्गस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव। जयन्तः पाकशासनिरित्यमरः। तं रघु मनुजातः तस्माज्जात इत्यर्थः। तज्जातोपि तदनुजातो भवति जन्यजनकयोरानन्तर्य्यात्। गत्यर्थाकर्म्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्य्यतिभ्यश्चेति क्तः। सोपसृष्टत्वात् सकर्म्मकत्वम् आह

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन
गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व
रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने
लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं
प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं
शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिम्
भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥

चात्रैव सूत्रे वृत्तिकारः श्लिषादयः सोपसृष्टाः सकर्मकाः भवन्तीति । दम्यः शिक्षणीयावस्थो योऽजः गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्य्येण धुरन्धरेण चिरनिरूढ़ेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा बिभर्त्ति । यथा कश्चिद्वत्सतरोपि धुर्य्येण महोक्षेण समं वहतीत्युपमालङ्कारोध्वन्यते । दम्यवत्सतरौ समावित्यमरः ॥ ७८ ॥

कुलेनेति । कुलेन कान्त्या लावण्येन नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैः तैस्तैर्गुणैः श्रुतशीलादिभिश्च आत्मनस्तुल्यं स्वानुरूपममुमजं त्वं वृणीष्व किं बहुना रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु सङ्गच्छताम् । प्रार्थनायां लोट् । रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपत्वाद्युवयोः समागमः प्रार्थ्यतइत्यर्थः ॥ ७९ ॥

ततइति । ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्या इन्दुमती लज्जां तनूकृत्य सङ्कोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्या संवरणस्य स्रजा स्वयं वरणार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत् स्वीचकार । सम्यक् सानुरागमपश्यदित्यर्थः ॥ ८० ॥

सेति । सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजे अभिलाषबन्धम् अनुरागग्रन्थिं शालीनतया अधृष्टतया । स्यादधृष्टस्तु शालीनइत्यमरः । शालीनकौपीने अधृष्टाकार्य्ययोरिति निपातः । वक्तुं न शशाक । तथापि अरालकेश्याः सोऽभिलाषबन्धो

तथागतायां परिहासपूर्व्वं
सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे।
आर्य्ये व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां
वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य
धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं
कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या
विशालवक्षःस्थललम्बया सः।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां
विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥

रोमाञ्चलक्ष्येण पुलकव्याजेन। व्याजोऽपदेशो लक्ष्यञ्चेत्यमरः। गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विकाविर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

तथेति। सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायां दृष्टानुरागायां सत्यामित्यर्थः सखी सहचरी। सख्यशिश्वीति भाषायामिति निपातनात् ङीप्। वेत्रभृत् सुनन्दा हे आर्य्ये पूज्ये अन्यतोऽन्यं प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्व्वमाबभाषे। अथ वधूरिन्दुमती एनां सुनन्दाम् असूयया रोषेण कुटिलं ददर्श अन्यगमनस्यासह्यत्वादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

सेति। करभः करप्रदेशविशेषः। मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो वहिरित्यमरः। करभउपमा ययोस्तावूरू यस्याः सा करभोपमोरूः। ऊरूत्तरपदादौपम्य इत्यूङ्प्रत्ययः। सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं लोहितं गुणं स्रजं मूर्त्तं मूर्त्तिमन्तमनुरागमिव धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानम् आसञ्जयामास आसक्तं कारयामास नतु स्वयमाससञ्ज अनौचित्यात् ॥ ८३ ॥

तयेति। वरेण्यो वरणीय उत्कृष्टः। वृजएण्यः। सोऽजः मङ्गलपुष्पमय्या मधूकादिकुसुममय्या विशालवक्षःस्थले लम्बया लम्बमानया तया प्रकृतया

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्
क्षितिपतिमण्डलमन्यतोवितानम् ।
उषसि सरइव प्रफुल्लपद्मं
कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ।

स्रजा विदर्भराजावरजामिन्दुमतीं कण्ठार्पितौ बाहू एव पाशौ यया तामसंस्त । मन्यतेर्लुङ् । बाहुपाशकल्पसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ८४ ॥

शशिनमिति । तत्र स्वयंवरे समगुणयोस्तुल्यगुणयोः इन्दुमती रघुनन्दनयोः योगेन प्रीतिर्येषां ते समगुणयोगप्रीतयः पौराः पुरेभवाः जनाः इयमजसङ्गता इन्दुमती मेघैर्मुक्तं शशिनं शरच्चन्द्रमुपगता कौमुदी, अनुरूपं सदृशं जलनिधिमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या भागीरथी तत्सदृशीत्यर्थः इत्येवं नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषम् एक मविसंवादि वाक्यम् एकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्तथोक्तम् अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यं भग्नाशत्वादप्रहृष्ट मित्यर्थः तत् क्षितिपतिमण्डलम् उषसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सरइव सरस्तुल्यमासीत् । पुष्पिताग्रा वृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशटीकायां सञ्जीवनीसमाख्यायां षष्ठः सर्गः ।

रघुवंशम्।

सप्तमः सर्गः।

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां
स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः
पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

सेनानिवेशान् पृथिवीक्षितोऽपि
जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वात्
रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

भजेमहि निपीयैकं सुक्षरन्त्यं पयोधरम्।
मार्गन्तं बालमालोक्याश्वासयन्तौ हि दम्पती ॥

अथेति। अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् अतएव साक्षात्प्रत्यक्षम्। साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोरित्यमरः। स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखोबभूव। उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ॥ १ ॥

सेनेति। भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वात् रूपेषु आकृतिषु वेषेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूयाः दृषेति निन्दन्तः किञ्च विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाः चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशान् शिविराणि जग्मुः ॥ २ ॥

सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्याः
स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि
शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचार-
मिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स बध्वा सह राजमार्गं
प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां
सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां
त्यक्तान्यकार्य्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

ननु क्रुद्धाश्चेद्युध्यन्तां तत्राह

सान्निध्येति । तत्र स्वयंवरक्षेत्रे शच्या इन्द्राण्याः सन्निधिरेव सान्निध्यं तस्य योगात् सद्भावाद्धेतोः स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किलेति स्वयंवरविघातकाः शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमजमुद्दिश्य समत्सरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ॥ ३ ॥

तावदिति । यावत्तावच्च साकल्य इत्यमरः । तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिताः अभिनवाः नूतनाः उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य तं तथोक्तम् इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणानि अङ्काश्चिह्नानि यस्य तं ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम् । छायाबाहुल्य इति नपुंसकत्वम् । तेन निवारितउष्ण आतपो यत्र तं राजमार्गं स वरो वोढ़ा बध्वा सह प्राप विवेश ॥ ४ ॥

ततइति । ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु सौधेषु तस्याजस्यालोकने तत्पराणाम् आसक्तानां पुरसुन्दरीणाम् इत्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्तान्यन्यकार्य्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापारा बभूवुः ॥ ५ ॥

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या
कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बन्धुं न सम्भावितएव तावत्
करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपाद-
माक्षिप्य काचित् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षा-
दलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन
सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसन्निकर्षं
ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

तान्येवाह पञ्चभिः श्लोकैः ।

आलोकेति । सहसा आलोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित् उद्वेष्टनवान्तमाल्यः उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशात् उन्मुक्तबन्धनः अतएव वान्तमाल्यः बन्धविश्लेषेणोद्गीर्णमाल्यः करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः । पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे इत्यमरः । तावदालोकमार्गप्राप्तिपर्य्यन्तं बन्धुं बन्धनार्थं न सम्भावितो न चिन्तितएव ॥ ६ ॥

प्रसाधिकेति । काचित् प्रसाधिकया अलङ्कर्त्र्या आलम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेव आर्द्रालक्तकमेव, अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्म्मधारयसमासः । हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्यामिति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्य उत्सृष्टलीलागतिः त्यक्तमन्दगमना सती आ गवाक्षाद्गवाक्षपर्य्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारागचिह्नां ततान विस्तारयामास ॥ ७ ॥

विलोचनमिति । अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन सम्भाव्यालङ्कृत्य सम्भ्रमादिति भावः । तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वर्ज्जितं वामनेत्रं यस्याः सा सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ । दक्षिणग्रहणं सम्भ्रमात् व्युत्क्रमकरणद्योतनार्थं सव्यं हि पुर्व्वं मनुष्या अञ्जत इतिस्मृतेः ॥८॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या
प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण
हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

अर्द्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः
पदेपदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानी
मङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भै
र्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः
सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो
नार्य्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।

जालेति । अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिः गवाक्षमध्यप्रेरितदृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम् । नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि इति विश्वः । न बबन्ध किन्तु नाभिप्रविष्टानां आभरणानां कङ्कणादीनां प्रभा यस्य तेन । प्रभैव नाभेराभरणमभूदिति भावः । हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ ॥९॥

अर्द्धेति । सत्वरमुत्थितायाः कस्याश्चित् अर्द्धाञ्चिता मणिभि रर्द्ध गुम्फिता दुर्निमिते संभ्रमाद्दुरुत्क्षिप्ते । डुमिञ् प्रक्षेपणइति धातोः कर्म्मणि क्तः । पदेपदे प्रतिपदम् । वीप्सायां द्विर्भावः । गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीम् अङ्गुष्ठमूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्याः सा आसीत् ॥१०॥

तासामिति । तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणाम् आसवगन्धो गर्भे येषां तैः विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमराः येषां तैर्मुखैः व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणाइव कमलालङ्कृता इव । सहस्रपत्रं कमलमित्यमरः । आसन् ॥ ११ ॥

तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां
सर्व्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः
स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथासौ
लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं
न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन् द्वये रूपविधानयत्नः
पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥

तादिति । ताः नार्य्यः रघोरपत्यं राघवम् अजम् । तस्यापत्यमित्यण्प्रत्ययः । दृष्टिभिरापिबन्त्योऽतितृष्णया पश्यन्त्यो विषयान्तराणि अन्यान् विषयान् न जग्मुर्न विविदुरित्यर्थः । तथाहि आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिः चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापारः सर्व्वात्मना स्वरूपकात्स्न्येन चक्षुः प्रविष्टेव । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्ताः चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनम् उपलभन्ते किन्तु, अन्यथा स्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

इतःप्रभृति कथाद्रति वक्ष्यति ताः कथयन्ति

स्थाने इत्यादिभिस्त्रिभिः । भोज्या इन्दुमती परोक्षैरदृष्टैर्भूपतिभिर्वृता ममैवेयमिति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधु हितममंस्त मेने न तु परोक्षमेव कञ्चित्प्रार्थकं वव्रे, स्थाने युक्तमेतत् । युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने इत्यमरः । कुतः अन्यथा स्वयंवराभावे असाविन्दुमती पद्ममस्यास्तीति पद्मा लक्ष्मीः । अर्शआदिभ्योऽच् इत्यच् प्रत्ययः । नारायणमिव आत्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत न लभेतैव सदसद्विवेकाक्षमत्वादिति भावः ॥ १३ ॥

परस्परेणेति । स्पृहणीयशोभं सर्व्वाशास्यसौन्दर्य्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम् । द्वन्द्वं रहस्येत्यादिना निपातः । परस्परेण नायोजयिष्यत् चेत् न योजयेद्यदि तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुः अस्मिन् द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्य्यनिर्म्माणप्रयासो वितथोऽभविष्यत् एतादृशानुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावादिति भावः । लिङ्-

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां
राज्ञां सहस्रेषु तथाहि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव
मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः
शृण्वन् कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः
सम्बन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्य्याशु करेणुकायाः
स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्द्दिष्टमथो विवेश
नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्ताविति लृङ् । कुतश्चित् कारणवैगुण्यात् क्रियाया अनभिनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिरिति वृत्तिकारः ॥ १४ ॥

रतीति । रतिस्मरौ यौ नित्यसहचरावित्यभिप्रायः नूनं तावेव इयञ्चायञ्च इमौ दम्पती अभूताम् एतद्रूपेण उत्पन्नौ । कुतः तथाहि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राजसहस्रमध्ये सत्यपि व्यत्यासकारणे इति भावः । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । तुल्यसङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपका इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं जातमतआह हि यस्मात् मनो जन्मान्तरसङ्गतिज्ञं भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीति ॥ १५ ॥

इतीति । इति स्थाने इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्यः उद्गताः उत्पन्नाः श्रोत्रयोः सुखाः मधुराः । सुखशब्दोविशेष्यनिघ्नः । पापपुण्यसुखादि चेत्यमरः । कथाः गिरः शृण्वन् कुमारोऽजः । मङ्गलसंविधाभिः मङ्गलरचनाभिः उद्भासितं शोभितं सम्बन्धिनः कन्यादायिनः सद्म गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

ततइति । ततोऽनन्तरं करेणुकाया हस्तिन्याः सकाशात् आशु शीघ्रम् अवतीर्य्य कामरूपेश्वरे दत्तोहस्तोयेन सोऽजः अथो अनन्तरं वैदर्भेण निर्द्दिष्टं प्रदर्शितम् अन्तश्चतुष्कं चत्वरं नारीणां मनांसीव विवेश ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ
सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतञ्च दुकूलयुग्मं
जग्राह सार्द्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं
निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजि-
र्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥

तत्रार्च्चितोभोजपतेः पुरोधाः
हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये
वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार ॥ २० ॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः
स राजसूनुः सुतरां चकाशे ।

महार्हेति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसौ अजः भोजेनोपनीतं रत्नैः सहितं सरत्नं मधुपर्कमिश्रम् अर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुकूलयोः क्षौमयोर्युग्मञ्च वनिताकटाक्षैः अन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्द्धं जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

दुकूलेति । दुकूलवासाः सोऽजः विनीतैर्नम्रैरवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैः वधूसमीपं निन्ये । तत्र दृष्टान्तः, स्फुटफेनराजिरुदन्वान् समुद्रः नवैर्नूतनैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैः वेलायाः सकाशं समीपमिव । पूर्णदृष्टान्तोऽयम् ॥ १९ ॥

तत्रेति । तत्र सद्मन्यर्च्चितः पूजितोऽग्निकल्पोऽग्नितुल्योभोजपतेः भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः । पुरोधास्तु पुरोहितः इत्यमरः । आज्यादिभिर्द्रव्यैरग्निं हुत्वा तमेव चाग्निं विवाहसाक्ष्ये आधाय साक्षिणं कृत्वेत्यर्थः वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार योजयामास ॥ २० ॥

हस्तेनेति । स राजसूनुः हस्तेन स्वकीयेन वध्वाः हस्तं परिगृह्य अनन्त-

अनन्तराशोकलताप्रवालं
प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः
स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी।
तस्मिन् द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः
समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि
क्रियासमापत्तिनिवर्त्तितानि।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञा-
मन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

रायाः सन्निहितायाः अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव सुतरां चकाशे ॥ २१ ॥

आसीदिति। वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत्। सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टक इत्यमरः। कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते बभूव। अत्रोत्प्रेक्षते तस्मिन् द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिः मनोभवेन कामेन समं विभक्तेव पृथक् कृतेव। अपरार्द्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम्। पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा। तयोर्विधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिः स्थितिः समं विभक्तेव समीकृतेवेत्यर्थः। प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य संप्रति तत्कार्यदर्शनात् पाणिस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्ष्यते। अत्र वात्स्यायनः कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति एभिरनयोर्भावं परीक्षेतेति। स्त्रीपुरुषयोः स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकभावोपलक्षणं नतु प्रतिनियमो विवक्षितः एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात्। एवं सति कुमारसम्भवे रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत् इति व्युत्क्रमवचनं न दोषायेति ॥ २२ ॥

तयोरिति। अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्त्तितानि क्रिययोर्निरीक्षणलक्षणयोः समापत्त्या यदृच्छासङ्गत्या निवर्त्तितानि प्रत्याकृष्टानि अन्योन्यस्मिन् लोलानि सतृष्णानि। लोलश्चलसतृष्णयो रित्यमरः। तयोर्दम्पत्योर्विलोचनानि दृष्टयः मनोज्ञां रम्यां ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणां सङ्कोचमानशिरे प्रापुः ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात् कृशानो-
रुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकाशे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्त्तमान-
मन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥
नितम्बगुर्व्वी गुरुणा प्रयुक्ता
वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा
लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५ ॥
हविःशमीपल्लवलाजगन्धी
पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्याः
मुहूर्त्तं कर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥
तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं
प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।

प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनम् उदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्नेः प्रदक्षिण-प्रक्रमणात् प्रदक्षिणीकरणात्, मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्त्तमानमावर्त्तमानं मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः अन्योन्यसंसक्तं परस्परसङ्गतं मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियामं, रात्रिन्दिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । चकाशे दिदीपे ॥ २४ ॥

नितम्बेति । नितम्बेन गुर्व्वी अलघ्वी । दुर्द्धरालघुनोर्गुर्व्वीति शाश्वतः । विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता जुहुधीति नियुक्ता मत्त-चकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा लज्जावती सा वधूरग्नौ लाजविसर्गं चकार ॥ २५ ॥

हविरिति । हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानाञ्च गन्धो ऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी । शमीपल्लवमिश्रान् लाजान् अञ्जलिना वपतीति कात्यायनः । पुण्योधूमः कृशानोः पावकादुदियाय उद्भूतः । कपोलयोः संस-र्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्याः वध्वाः मुहूर्त्तं कर्णो-त्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

वधूमुखं पाटलगण्डलेख-
माचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥
तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा
पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्था-
वार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥
इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः
सम्पाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं
समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥
लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते
ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां
प्रत्यर्प्य पूजामुपदाच्छलेन ॥ ३० ॥

तदिति । तद्वधूमुखम् आचारेण प्राप्ताद्धूमग्रहणात् अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः अञ्जनमिश्रबाष्पोदकमित्यर्थः । तेन समाकुलाक्षं प्रम्लानो वीजाङ्कुरो यवाङ्कुर एव कर्णपूरोऽवतंसो यस्य तत् पाटलगण्डलेखमरुणगण्डस्थलञ्च बभूव ॥ २७ ॥

ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थविशेषैः । स्नातकस्त्वाप्लुतव्रतीत्यमरः । बन्धुमता बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थः राज्ञा च पुरन्ध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्यात् क्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमन्वभूतामनुभूतवन्तौ ॥ २८ ॥

इतीति । अधिश्रीरधिकसम्पन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं सम्पाद्य कारयित्वा महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशः अर्हणार्थं पूजार्थम् अधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास ॥ २९ ॥

लिङ्गैरिति । मुदः सन्तोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रियाः निगूहितमत्सराः अतएव प्रसन्नावहिर्निर्मलाः गूढनक्राः अन्तर्लीनग्राहाः ह्रदा इव

स राजलोकः कृतपूर्व्वसंवि-
दारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं त-
दावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

भर्त्तापि तावत् क्रथकैशिकाना-
मनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः
प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

तिस्रस्त्रीलोकीप्रथितेन सार्द्ध-
मजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।

स्थिताः ते नृपाः वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाच्छलेन उपायनमिषेण प्रत्यर्प्य ययुः गतवन्तः ॥ ३० ॥

स इति । आरम्भसिद्धौ कार्य्यसिद्धौ विषये पूर्व्वं कृता कृतपूर्व्वा । सुप्सुपेति समासः । कृतपूर्व्वा संवित् सङ्केतामार्गावरोधरूपउपायो येन स तथोक्तः संवित् युद्धे प्रतिज्ञायां सङ्केताचारनामस्विति केशवः । स राजलोकः समयोपलभ्यम् अजप्रस्थानकाले लभ्यं तदा तस्यैकाकित्वादिति भावः । समरोपलभ्यमिति पाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः । तत् प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु । आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनीति केशवः । आदास्यमानोग्रहीष्यमाणः सन् अजस्य पन्थानमावृत्यावरुध्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

भर्त्तेति । अनुष्ठितः सम्पादितः अनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्त्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्वानुरूपसत्वाहानुरूपं यथा तथा आ समन्तात् । अनेनानियतवस्तुदानमित्यर्थः । हरणं कन्यायै देयं धनम् । यौतुकादि तु यद्देयं स दायो हरणञ्च तदित्यमरः । अहरणं हरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन् राघवमजं प्रास्थापयत् प्रस्थापितवान् स्वयमन्वगात् अनुजगाम च ॥ ३२ ॥

तिस्र इति । कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजः त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्द्धं मार्गे पथि तिस्रोवसतीरात्रीरुषित्वा । वसती रात्रिवेश्मनोरित्यमरः ।

तस्मादपावर्त्तत कुण्डिनेशः
पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोशलेन्द्रे
प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः
स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां
रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं
त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोध-
मादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत् पार्थिववाहिनीं तां
भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे इति द्वितीया । पर्वात्यये दर्शान्ते उष्णरश्मेः सूर्य्यात् सोमश्चन्द्र इव, तस्मादजादपावर्त्तत तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

प्रमन्यव इति । नृपाः राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीतधनत्वेन कोशलेन्द्रे रवौ प्रमन्यवो रूढ़वैरा बभूवुः अतो हेतोः समेताः सङ्गताः सन्तः तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

तमिति । दृप्तः उद्धतः स राजन्यगणो राजसङ्घातो भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्व्वाणं त्रिविक्रमसंबन्धिनं त्रैविक्रमं पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे । विरोचनविरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध हेति ॥ ३५ ॥

तस्मादिति । स कुमारोऽजः तस्या इन्दुमत्याः रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटं पितृरागतं पित्र्यम् आप्तमित्यर्थः सचिवमादिश्य आज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राज-

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेश-
स्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं
तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्य्येष्वविभाव्यवाचो
नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
वाणाक्षरैरेव परस्परस्य
नामोर्ज्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः
सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालै-
र्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्य्यम् ॥ ३९ ॥

सेनाम् । ध्वजिनी वाहिनी सेनेत्यमरः । भागीरथीरुत्तरङ्गः शोणः शोणाख्यो-नद इव प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

पत्तिरिति । पत्तिः पादचारोयोद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत् । पादाभ्या-मततीति पदातिः । पादस्य पदित्यादिना पदादेशः । पदातिपत्तिपदगपादातिक-पदाजयदृत्यमरः । रथेशो रथिकः रथिनं रथारोहमभ्यपतत्, तुरङ्गसादी अश्वा-रोहस्तुरगाधिरूढम् अश्वारोहमभ्यपतत् । रथिनः स्यन्दनारोहाः अश्वारोहास्तु सादिन इत्यमरः । गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत्, इत्थम् अनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्वि एकजातीयप्रतिभटं युद्धं बभूव । अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनोयोधाः । द्वन्द्वं कलहयुग्मयोरित्यमरः ॥ ३७ ॥

नदत्स्विति । तूर्य्येषु नदत्सु सत्सु अविभाव्यवाचः अनवधार्य्यगिरः चापभृतो-धानुष्काः कुलमुपदिश्यते प्रख्याप्यते यैस्ते कुलोपदेशा स्तान् कुलनामानि नोदी-रयन्ति स्म नोच्चारयामासुः श्रोतुमशक्यत्वाद्वाचो नाब्रुवन्नित्यर्थः । किन्तु वाणाक्षरै र्वाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्य ऊर्ज्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुरूचुः ॥ ३८ ॥

उत्थापितइति । संयति संग्रामे अश्वैरुत्थापितः, स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रैः रथाङ्गैः सान्द्रीकृतः घनीकृतः । वंशः पृष्ठास्थ्नि गेहोर्द्ध्वकाष्ठे वेणौ गणे

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णै-
र्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः
पर्य्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे
विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव
सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ
रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा
बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

कुले इति केशवः । कुञ्जरकर्णानां तालैः ताड़नैर्विस्तारितः प्रसारितोरेणुः नेत्रक्रमेण अंशुकपरिपाट्या अंशुकमिवेत्यर्थः । स्यात्जटांशुकयोर्नेत्रमिति, क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां चेति च केशवः । सूर्य्यमुपरुरोध आच्छादयामास ॥ ३९ ॥

मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैः विवृतैः मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनी-रजांसि सैन्यरेणून् पिबन्तोग्टह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः, पर्य्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्या इव बभुर्भान्ति स्म ॥ ४० ॥

रथ इति । सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः, नागोहस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे । आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः योधानामिति शेषः स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणात् बभूव रजोऽन्धतया सर्वे स्वं परञ्च शब्दादेवानुमाय प्रजह्रुरित्यर्थः॥४१॥

आवृण्वतइति । लोचनमार्गमावृण्वतोदृष्टिपथमुपरुन्धतः आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य रजएवान्धकारं तस्य, शस्त्रक्षतेभ्योऽश्वद्विपवीरेभ्योजन्म यस्य स तथोक्तः रुधिरप्रवाहः बालारुणोबालार्कोऽभूत् । अरुणोभास्करेपिस्यादित्यमरः । बालविशेषणं रुधिर सावर्ण्यार्थम् ॥ ४२ ॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु-
स्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः ।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे ॥ ४३ ॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था
यन्तॄनुपालभ्य निवर्त्तिताश्वान्
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतू-
स्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः ॥ ४४ ॥

अप्यर्द्धमार्गे परवाणलूना
धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः ।
संप्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या
पूर्वार्द्धभागैः फलिभिः शरव्यम् ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते
शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।

स इति । क्षतजेन रुधिरेण छिन्नमूलः त्याजितभूतलसम्बन्ध इत्यर्थः तस्य क्षतजस्योपरिष्टात्पवनावधूतः वाताहतः स रेणुः अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितोधूमइव आबभासे दिदीपे ॥ ४३ ॥

प्रहारेति । रथस्थाः रथिनः, प्रहारेण या मूर्च्छा तस्याः अपगमे, सति । मूर्च्छितानामन्यत्र नीत्वा संरक्षणं सारथिधर्म्म इति कृत्वा निवर्त्तिताश्वान् यन्तॄन् सारथीनुपालभ्य असाधु कृतमित्यधिक्षिप्य पूर्व्वं यैः स्वयं सादिताः हताः लक्षित-पूर्वकेतून् पूर्व्वदृष्टैः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः, तानेव सामर्षतया सकोपत्वेन हेतुना निजघ्नुः प्रजह्रुः ॥ ४४ ॥

अपीति । अर्द्धश्चासौ मार्गश्च तस्मिन्नर्द्धमार्गे परेषां वाणैर्लूनाः छिन्ना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शराः आत्मजवानुवृत्त्या स्ववेगानुवन्धेन हेतुना फलिभिर्लोहाग्रवद्भिः। शस्त्रवाणाग्रयोः फलमिति विश्वः । पूर्व्वार्द्धभागैः शृणातीति शरुः तस्मै हितं शरव्यं लक्ष्यम् । उगवादिभ्योयदिति यत्प्रत्ययः । लक्षं लक्ष्यं शरव्यञ्चेत्यमरः । संप्रापुरेव नतु मध्ये पतिता इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटि-
व्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥
पूर्वं प्रहर्त्ता न जघान भूयः
प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं
प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥
तनुत्यजां वर्म्मभृतां विकोशै-
र्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयाम्बभूवु-
र्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥
शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या
च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।

आधोरणानामिति । गजसन्निपाते गजयुद्धे निशितैः अतएव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्रं येषां तैः चक्रैरायुधविशेषैः हृतानि छिन्नान्यपि श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । पक्षी श्येन इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ताः केशा येषां तानि आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम् । आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिन-इत्यमरः । शिरांसि चिरेण पेतुः पतितानि । शिरःपातात् प्रागेवारुह्य पश्चादुत्पततां पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भावः ॥ ४६ ॥

पूर्व्वमिति । पूर्व्वं प्रथमं प्रहर्त्ता अश्वसादी तौरङ्गिकः प्रतिप्रहारेऽक्षममशक्तं तुरङ्गमस्कन्धे निषण्णदेहं मूर्च्छितमित्यर्थः रिपुं भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार किन्तु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष । नायुध-व्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरिक्षतमिति निषेधादिति भावः ॥ ४७ ॥

तनुत्यजामिति । तनुत्यजां तनुषु निस्पृहाणामित्यर्थः वर्म्मभृतां कवचिनां सम्बन्धिभिः बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिः अतएव, विकोशैः पिधाना-दुद्धृतैः । कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने इत्यमरः । असिभिः खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीताः गजाः करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयाम्बभूवुः शान्तं चक्रुः ॥४८॥

शिलीमुखेति । शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि तैराढ्या

रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या
रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गै-
राक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा
शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥

कश्चित् द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः
सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं
नृत्यत् कबन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां
तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित्।

सम्पन्ना च्युतैर्भ्रष्टैः शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षण्यानि। शीर्षण्यञ्च शिरस्त्रे इत्यमरः। तैश्चषकोत्तरा चषकः पानपात्रमुत्तरं यस्यां सेव। चषकोऽस्त्री पानपात्रमित्यमरः। शोणितान्येव मद्यं तस्य कुल्याः प्रवाहाः यस्यां सा। कुल्याल्पा कृत्रिमा सरिदित्यमरः। रणक्षितिः युद्धभूमिः मृत्योः पानभूमिरिव रराज ॥ ४९ ॥

उपान्तयोरिति। उपान्तयोः प्रान्तयोः विहङ्गैः पक्षिभिः निष्कुषितं खण्डितम्। इणनिष्ठायामितीड़ागमः। भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्योविहङ्गेभ्यः आक्षिप्याच्छिद्य पिशितप्रिया मांसप्रियापि शिवाक्रोष्ट्री। शिवः कीलः शिवा क्रोष्ट्रीति विश्वः। केयूरकोट्या अङ्गदाग्रेण क्षतस्तालुदेशोयस्याः सा सती अपाचकार अपसारयामास। किरतेः करोते र्वा लिट् ॥ ५० ॥

कश्चिदिति। द्विषतः खड्गेन हृतोत्तमाङ्गः छिन्नशिराः कश्चिद्वीरः सद्यो-विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यं देवत्वमित्यर्थः उपेत्य प्राप्य वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गसङ्गिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन् समरे नृत्यत् स्वं निजं कबन्धम् विशिरस्कं कलेवरं ददर्श। कबन्धो ऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्द्ध कलेवरमित्यमरः ॥ ५१ ॥

अन्योन्येति। कौचिद्वीरौ अन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योः उन्मथनान्निध-

व्यश्वौ गदाव्यायतसंप्रहारौ
भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥
परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रो-
रुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासी-
देकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥
व्यूहावुभौ तावितरेतरस्मात्
भङ्गं जयञ्चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ
पर्य्यायवृत्त्येव महार्णवोर्म्मी ॥ ५४ ॥
परेण भग्नेऽपि बले महौजाः
ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।

नात्तावेव सूतौ रथिनौ च योद्धारावभूतां तावेव व्यश्वौ नष्टाश्वौ सन्तौ गदाभ्यां व्यायतोदीर्घः संप्रहारोयुद्धं ययोस्तौ अभूतां ततोभग्नायुधौ भग्नगदौ सन्तौ बाहुविमर्द्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ अभूताम् । निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ता इत्यमरः ॥ ५२ ॥

परस्परेणेति । परस्परेण अन्योन्यं क्षतयोः क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तथा उत्क्रान्तवाय्वोः युगपदुद्गतप्राणयोः एकैवाप्सराः प्रार्थिता याभ्यां तयो रेकाप्सरःप्रार्थितयोः प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः । वाहिताग्न्यादिष्विति परनिपातः । अथवा एकस्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः । स्त्रियां बहुष्वप्सरसइति बहुत्वाभिधानं प्रायिकम् । कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोः अमर्त्यभावेपि देवत्वे पि विवादः कलहः आसीत् । एकामिषाभिलाषोहि महद्वैरबीजमिति भावः ॥ ५३ ॥

व्यूहाविति । तौ उभौ व्यूहौ सेनासङ्घातौ । व्यूहस्तु बलविन्यास इत्यमरः । पश्चात् पुरश्च यौ मारुतौ तयोः पर्य्यायवृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव इतरेतरस्मादन्योन्यस्मात् अव्यवस्थं व्यवस्थारहितम् अनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्राप्तवन्तौ ॥ ५४ ॥

धूमो निवर्त्त्येत समीरणेन
यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ ५५ ॥
रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्
दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः
कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥ ५६ ॥
स दक्षिणं तूणमुखेन वामं
व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धु-
र्मौर्वीव वाणान् सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥
स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठै-
र्व्यक्तोर्द्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।

परेणेति । बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेपि महौजाः महाबलोऽजः अरिसैन्यं प्रत्येव ययौ । तथाहि समीरणेन वायुना धूमोनिवर्त्त्येत कक्षादपसार्य्येत । वर्त्ततेरण्यन्तात् कर्मणि सम्भावनायां लिङ् । वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम् । कक्षौ तु तृणवीरुधावित्यमरः । ततएव तत्रैव प्रवर्त्तते इति शेषः । सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ५५ ॥

रथीति । रथी रथारूढ़ः निषङ्गी तूणीरवान् । तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोरित्यमरः । कवची वर्मधरः धनुष्मान् धनुर्धरः दृप्तोरणदृप्तः एकवीरः असहाय शूरः सोऽजः राजन्यकं राजसमूहम् । गोत्रोक्षेत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । महावराहो वराहावतारो विष्णुः कल्पक्षये कल्पान्तकाले उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भइव निवारयामास ॥ ५६ ॥

सइति । सोऽजः आजौ संग्रामे दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वाममतिसुन्दरम् । वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे इति विश्वः । व्यापारयन्नलक्ष्यत शरसन्धानादयस्तु दुर्लक्ष्या इत्यर्थः । सकृदाकर्णकृष्टा योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या रिपून् हन्तीति रिपुघ्नास्तान् । अमनुष्यकर्तृके चेति टक्प्रत्ययः । वाणान् सुषुवे इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठै-
र्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥
सर्व्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः
सर्व्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्व्वप्रयत्नेन च भूमिपाला-
स्तस्मिन् प्रजह्रुर्युधि सर्व्व एव ॥ ५९ ॥
सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां
ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नोदिनपूर्वभागः
किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥
प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः
प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।

सइति । सोऽजः रोषेण दष्टाः अतएव अधिकलोहिताः ओष्ठाः येषां तानि तैः व्यक्ता ऊर्द्धा रेखा यासां ताः भ्रुकुटीः भ्रूभङ्गान् वहद्भिः भल्लनिकृत्ता बाणविशेषच्छिन्नाः कण्ठा येषां तैः हुङ्कारगर्भैः सहुङ्कारैर्हुङ्कुर्व्वद्भिरित्यर्थः । द्विषतां-शिरोभिः गां भूमिं तस्तार छादयामास ॥ ५८ ॥

सर्व्वैरिति । द्विरदप्रधानैर्गजश्रेष्ठ्यैः सर्व्वैर्बलाङ्गैः सेनाङ्गैः । हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टय मित्यमरः । कङ्कटभेदिभिः कवचभेदिभिः उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रिय मित्यमरः । सर्व्वायुधैश्च । बाह्यबलमुक्त्वा आन्तरमाह सर्व्वप्रयत्नेन च सर्व्व एव भूमिपालाः युधि तस्मिन्नजे प्रजह्रुः तं प्रजह्रुरित्यर्थः । सर्व्वत्र सर्व्वकारकशक्तिसम्भवात् कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी । तदुक्तम् अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्व्वदा सर्व्वथाभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यतइति ॥ ५९ ॥

स इति । परेषां द्विषाम् अस्त्रव्रजैश्छन्नरथः सोऽजः नीहारैर्हिमैर्मग्नो दिनपूर्व्वभागः प्रातःकालः किञ्चित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव ध्वजाग्रादन्यन्न किञ्चिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ६० ॥

प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः

गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः
प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्त-
मेकांसपर्य्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं
निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे
निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्ज्जितमेकवीरः
पिबन् यशो मूर्त्तमिवावभासे ॥ ६३ ॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्ता-
स्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां
मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नवितृष्णः जागरूक इत्यर्थः असौ कुमारोऽजः प्रियंवदात्पूर्वं ज्ञातान्गन्धर्वात् प्राप्तं गान्धर्वं गन्धर्वदैवतकम् । साऽस्य देवतेत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

तत इति । ततो धनुःकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् एकस्मिन्नंसे पर्य्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत् ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहाः यस्य यत् नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्-प्रत्ययः । निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ॥ ६२ ॥

तत इति । ततः कुमारोऽजः प्रियया इन्दुमत्या उपात्तरसे आस्वादितमाधुर्य्ये अतिश्लाघ्ये इति भावः अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य । जलजं शङ्खपद्मयोरिति विश्वः । दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास, तेनौष्ठनिविष्टेन शङ्खेन एकवीरः सः स्वहस्तार्जितं मूर्त्तिमत् यशः पिबन्निवावभासे यशसः शुभ्रत्वादिति भावः ॥ ६३ ॥

शङ्खेति । शङ्खस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्राक् पलाय्य संप्रति प्रत्यागताः स्वयोधाः सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तम् अजं निमीलितानां

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रै-
र्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं संप्रति राघवेण
न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः
शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दु-
र्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

इतः परानर्भकहार्य्यशस्त्रान्
वैदर्भि पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन
त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्कं प्रतिबिम्बचन्द्रमिव ददृशुः ॥ ६४ ॥

सशोणितैरिति । संप्रति राघवेण रघुपुत्रेण । पूर्वं रघुणेति भावः । हे राजानः वो युष्माकं यशो हृतं जीवितन्तु कृपया न हृतं न त्वशक्त्येति भावः इत्येवंरूपा वर्णाः एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैः वाणाग्रैः साधनैः तेनाजेन प्रयोजककर्त्रा पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिताः प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः लेखिता इत्यर्थः । क्षिपतेर्ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः ॥ ६५ ॥

स इति । चापकोट्यां निहित एकबाहुर्येन सः शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलिः श्लथकेशबन्धः । चूडा किरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रय इत्यमरः । ललाटे बद्धाः श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः सोऽजो भीतां प्रियामिन्दुमतीम् एत्यासाद्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

किमित्याह

इत इति । हे वैदर्भि इन्दुमति इतइदानीम् अर्भकहार्य्यशस्त्रान् बालकापहार्य्यायुधान् परान् शत्रून् पश्य मयानुमतासि इष्टुमिति शेषः । एभिर्नृपैः एवं-

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्
सद्योविमुक्तं मुखमाबभासे ।
निश्वासवाष्पापगमात् प्रपन्नः
प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षात्
वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा
मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ ६९ ॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञा-
मुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा
समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्त्ता बभूव ॥ ७० ॥

विधेन निद्राद्रूपेणाहवचेष्टितेन रणकर्मणा मम हस्तगता हस्तगतवत् दुर्ग्र हेत्यर्थः त्वं प्रार्थ्यसे अपजिहीर्ष्यसे इत्यर्थः । एवंविधेनेत्यत्र स्वहस्तनिर्देशेन सोपहास-मुवाचेति द्रष्टव्यम् ॥ ६७ ॥

तस्या इति । प्रतिद्वन्द्विभवात् रिपूत्थात् विषादात् दैन्यात् सद्यो विमुक्तं तस्या मुखं निश्वासस्य यो वाष्पः ऊष्मा । वाष्पो नेत्रजलोष्मणोरिति विश्वः। तस्यापगमाद्धेतोरात्मीयं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्नः प्राप्तः आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेने-त्यात्मदर्शो दर्पण इवाबभासे ॥६८॥

हृष्टेति । सा इन्दुमती हृष्टापि पत्युः पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता ततोऽतः प्रियमजं साक्षात् स्वयं नाभ्यनन्दत् न प्रशशंस किन्तु नवैरम्भःपृषतैः पयोविन्दुभिः अभिवृष्टाभिषिक्ता स्थली अकृत्रिमा भूमिः । जानपदकुण्डगोण-स्थलेत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीष् । अभ्रवृन्द मेघसङ्घं मयूरकेकाभिरिव सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत् ॥ ६९ ॥

इतीति । नोद्यते नोच्यते इत्यवद्यं गर्ह्यम् । अवद्यपण्येत्यादिना निपातः । कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समा इत्यमरः । तस्मादपेतो निर्दोष इत्यर्थः सोऽजः इति राज्ञां शिरसि वामं पादम् आधाय अनवद्यामदोषां तामिन्दुमती-

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तं
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्
नहि सति कुलधुर्य्ये सूर्य्यवंश्या गृहाय ॥ ७१ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
अजपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ।

सुदवहत् उपानयत् आत्मदाद्भकारेत्यर्थः । अयमर्थस्तद्वहन्तं पथि भोजकन्यामित्यत्र न श्लिष्टः । तस्माजस्य रथतुरगाणां रजोभिः रूक्षाणि परुषाणि अलकाग्राणि यस्याः सा सा इन्दुमत्येव मूर्त्ता मूर्त्तिमती समरविजयलक्ष्मीर्बभूव । एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इत्यर्थः ॥७०॥

प्रथमेति । प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाहविजयरूपो येन सः प्रथमपरिगतार्थः रघुः विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं सन्निवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य तस्मिन्नजे उपहितकुटुम्बः सन् सुतविन्यस्तपत्नीक इति याज्ञवल्क्यस्मरणादिति भावः । शान्तिमार्गे मोक्षमार्गे उत्सुकोऽभूत् तथाहि कुलधुर्य्ये कुलधुरन्धरे सति सूर्यवंश्याः गृहाय गृहस्थाश्रमाय न भवन्ति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशटीकायां सञ्जीवनीसमाख्यायां सप्तमः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

अष्टमः सर्गः ।

अथ तस्य विवाहकौतुकं
ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
वसुधामपि हस्तगामिनी-
मकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्त्तुमात्मसात्
प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः
पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

हेरम्बमवलम्बेऽहं यस्मिन् पातालकेलिषु ।
दन्तेनोद्धरति क्षौणीं विश्राम्यन्ति फणीश्वराः ॥

अथेति। अथ पार्थिवो रघुर्ललितं सुभगं विवाहकौतुकं विवाहमङ्गलं विवाहहस्तसूत्रं वा बिभ्रत एव। कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले इति शाश्वतः। तस्याजस्य अपरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत्। अस्मिन् सर्गे वैतालीयं छन्दः ॥ १ ॥

दुरितैरिति। नृपसूनवो राजपुत्राः यद्राज्यं दुरितैरपि विषप्रयोगादिनिषिद्धोपायैरपि आत्मसात् स्वाधीनम्। तदधीनवचने इति सातिप्रत्ययः। कर्त्तुं प्रयतन्ते हि प्रवर्त्तन्त एवेत्यर्थः। हि शब्दोऽवधारणे। हि हेताववधारणे इत्यमरः। उपस्थितं स्वतः प्राप्तं तद्राज्यम् अजः पितुराज्ञेति हेतोरग्रहीत् स्वीचकार भोगतृष्णया तु नाग्रहीत् ॥ २ ॥

अनुभूय वशिष्ठसम्भृतैः
सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी
कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परै-
र्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं
सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं
तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं
प्रतिपेदे सकलान् गुणानपि ॥ ५ ॥

अनुभूयेति । मेदिनी भूमिः महिषी च ध्वन्यते वशिष्ठेन सम्भृतैः सलिलैः तेन अजेन सहाभिषेचनम् अनुभूय विशदोच्छ्वसितेन स्फुटतृणोद्गमेन आनन्दनिर्म्मलोच्छ्वसितेन चेति ध्वन्यते कृतार्थतां गुणवद्भर्तृलाभकृतं साफल्यं कथयामासेव । न चैतावतापूर्व्वेषामपकर्षः प्रशंसापरत्वात् सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रादिच्छेत्पराजयमित्यङ्गीकृतत्वाच्च ॥३॥

स इति । अथर्वविदा अथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वशिष्ठेन कृतक्रियः अथर्वोक्तविधिना कृताभिषेकसंस्कार इत्यर्थः सोऽजः परैः शत्रुभिः दुरासदोदुर्द्धर्षो बभूव । तथाहि अस्त्रतेजसा चत्रतेजसा सहितं युक्तं यत् ब्रह्म ब्रह्मतेजः अयं पवनाग्निसमागमो हि तत्कल्प इत्यर्थः । पवनाग्नीत्यत्र पूर्व्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् द्वन्द्वेघीति नाग्निशब्दस्य पूर्व्वनिपातः । तथाच काशिकायाम् अयमेकस्तु लक्षणहेत्वोरिति निर्द्देशः पूर्व्वनिपातव्यभिचारचिह्नमिति । चात्रेणैवायं दुर्द्धर्षः किमयं पुनर्वशिष्ठमन्त्रप्रभावे सतीत्यर्थः । अत्र मनुः नाक्षत्रं ब्रह्म भवति क्षत्रं नाब्रह्म वर्द्धते । ब्रह्मक्षत्रे तु संयुक्ते इहामुत्र च वर्द्धते इति ॥ ४ ॥

रघुमिति । प्रजाः नवेश्वरं तम् अजम् निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त न किञ्चिद्भेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः हि यस्मात् सोऽजः तस्य रघोः केवला-

अधिकं शुशुभे शुभंयुना
द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं
विनयेनास्य नवञ्च यौवनम्॥ ६॥

सदयं बुभुजे महाभुजः
सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं
नवपाणिग्रहणां बधूमिव॥ ७॥

अहमेव मतो महीपते-
रिति सर्व्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत्।
उदधेरिव निम्नगाशते-
ष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित्॥ ८॥

मेकां श्रियं न प्रतिपेदे किन्तु सकलान् गुणान् शौर्य्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे अत-स्तद्गुणयोगात्तद्बुद्धियुक्तेत्यर्थः॥ ५॥

अधिकमिति। द्वयमेव शुभंयुना शुभवता। शुभंयुस्तु शुभान्वित इत्यमरः। अहंशुभयोर्युस् इति युस् प्रत्ययः। द्वितयेन सङ्गतं युतं सत् अधिकं शुशुभे। किं केनेत्याह पदमिति पैतृकं पितुरागतम्। ऋतष्ठञ् इति ठञ्प्रत्ययः। ऋद्धं समृद्धं पदं राज्यमजेन अस्याजस्य नवं यौवनं विनयेन च॥ ६॥

सदयमिति। महाभुजः सोऽजः अचिरोपनतां नवोपगतां मेदिनीं भुवं नवं पाणिग्रहणं विवाहो यस्यास्तां नवोढ़ां बधूमिव, सहसा बलात्कारेण चेत्। सहो-बलं सहा मार्ग इत्यमरः। इयं मेदिनी बधूर्वा उद्वेगं भयं व्रजेदिति हेतोः सदयं सकृपं बुभुजे भुक्तवान् भुजोऽनवन इत्यात्मनेपदम्॥ ७॥

अहमिति। प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्व्वो जनः, अथवा प्रकृतिष्वहमित्यने-नान्वयः व्यवधान तु सह्यम्। सर्वो जनः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेः मतः महीपतिना मन्यमानः। मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्चेति वर्त्तमाने क्तः, क्तस्य च वर्त्तमाने इति षष्ठी। इत्यचिन्तयत् अमन्यत। उदधेर्निम्नगाशतेष्विवास्य नृपस्य कर्त्तुः। कर्तृ कर्म्मणोः कृतीति कर्त्तरि षष्ठी। क्वचिदपि जने विषये विमानना अवगणना तिरस्कारो नाभवत् यतो न कश्चिदवमन्यतेऽतः सर्वोह्यहमेवास्य मत इत्यमन्यतेत्यर्थः॥ ८॥

न खरो न च भूयसा मृदुः
पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो
नमयामास नृपाननुद्धरन् ॥ ९ ॥

अथ वीच्य रघुः प्रतिष्ठितं
प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया ।
विषयेषु विनाशधर्म्मसु
त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत् ॥ १० ॥

गुणवत्सुतरोपितश्रियः
परिणामे हि दिलीपवंशजाः ।
पदवीं तरुवल्कवाससां
प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे ॥ ११ ॥

न खर इति । स नृपो भूयसा बाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न भूयसा मृदुरति-मृदुरपि न किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन् मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः पवमानो वायुः पृथिवीरुहान् तरूनिव नृपाननुद्धरन् अनुत्पाटयन्नेव नमयामास । अत्र कामन्दकः मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः । तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मत इति ॥ ९ ॥

अथेति । अथ रघुः आत्मजं पुत्रं आत्मवत्तया निर्व्विकारमनस्तयेत्यर्थः । उदयादिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते । आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः इत्युत्पलमालायाम् । प्रकृतिषु अमात्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढ़मूलं वीच्य ज्ञात्वा विनाशोधर्मो येषां तेषु विनाशधर्मसु अनित्येष्वित्यर्थः । धर्म्मादनिच् केवलादित्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः । त्रिदिवस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत् ॥ १० ॥

कुलधर्म्मश्चायमेवेत्याह ।

गुणवदिति । दिलीपवंशजाः परिणामे वार्द्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापितलक्ष्मीकाः प्रयताश्च सन्तः तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः ॥ ११ ॥

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं
शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयो-
रपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्
कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
नतु सर्प इव त्वचं पुनः
प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो
निवसन्नावसथे पुराद्बहिः ।
समुपास्यत पुत्त्रभोग्यया
स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

तमिति । अरण्यसमाश्रयेोन्मुखं वनवासोद्युक्तं पितरं तं रघुं सुतोऽजः वेष्टनशोभिना उष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्यात्मनोऽपरित्यागमयाचत मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

रघुरिति । आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघुरश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्य अजस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितम् अभिलषितं कृतवान् किन्तु सर्पः त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनः न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

सइति । स रघुः किलान्त्यमाश्रमं प्रव्रज्यामाश्रितः पुरान्नगराद्बहिः आवसथे स्थाने निवसन् अविकृतेन्द्रियः जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः अतएव स्नुषयेव बध्वेव पुत्रभोग्यया न स्वभोग्यया श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः । जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि पुष्पफलोदकाहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चिदनौचितमासीदित्यर्थः । अत्र यद्यपि ब्राह्मणाः प्रव्रजन्तीति श्रुतेः आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहादिति मनुस्मरणात् मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते इति निषेधाच्च ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः तथापि यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदित्यादिस्मृतेस्त्रैवर्णिकसाधारण्यात् त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाइति सूत्रकारवचनात्

प्रथमस्थितपूर्व्वपार्थिवं
कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुला-
मुदिताकेंण समारुरोह तत् ॥ १५ ॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ
ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयो-
र्भुवमंशाविव धर्म्मयोर्गतौ ॥ १६ ॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभि-
र्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।

ब्राह्मणः क्षत्रियोवापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहादिति स्मरणात् कुलजानामयं धर्मोवैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते इति निषेधस्य त्रिदण्डविषयत्वदर्शनाच्च कुत्वचिद्ब्राह्मणपदस्योपलक्षणमाचक्षाणाः केचित्त्रैवर्णिकाधिकारं प्रपेदिरे । तथा सति स किलाश्रममन्त्यमाश्रितइति अत्रापि कविनाप्ययमेव पक्षो विवक्षितइति प्रतीमः । अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्द्धमनग्निमग्निचिदिति वक्ष्यमाणेनानग्निसंस्कारेण विरोधः स्यात् अग्निसंस्काररहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १४ ॥

प्रथमेति । प्रथमे स्थितः पूर्व्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत् अभ्युद्यतोऽभ्युदितोनूतनेश्वरोऽजो यस्य तत् तत्प्रसिद्धं कुलं निभृतेन्दुना अस्तमयासन्नचन्द्रेण उदिताकेंण प्रकटितसूर्य्येण नभसा तुलां सादृश्यमारुरोह प्राप । नच नभसा तुलामित्यत्र तुल्यार्थैरित्यादिना प्रतिषेधस्तृतीयायाः तस्य सदृशवाचितुलाशब्दविषयत्वात् कृष्णस्य तुला नास्तीति प्रयोगात् अस्य च सादृश्यवाचित्वात् ॥ १५ ॥

यतीति । यतिर्भिक्षुः पार्थिवोराजा तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ अपवर्गमहोदयार्थयोः मोक्षाभ्युदयफलयोः धर्मयोः निवर्त्तकप्रवर्त्तकरूपयोः भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णौ अंशाविव जनैर्ददृशाते दृष्टौ ॥ १६ ॥

अजितेति । अजोऽजिताधिगमाय अजितपदलाभाय नीतिविशारदैः नीतिज्ञैः मन्त्रिभिः युयुजे सङ्गतः । रघुरप्यनपायिपदस्य उभलभ्ये मोक्षस्य प्राप्तये

अनपायिपदोपलब्धये
रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं
व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां
कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥

अनयत् प्रभुशक्तिसम्पदा
वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया
मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ
द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।

यथार्थदर्शिनो यथार्थवादिनश्चाप्ताः तैः योगिभिः समियाय सङ्गतः । उभयत्राप्युपायचिन्तार्थमिति शेषः ॥ १७ ॥

नृपतिरिति । युवा नृपतिरजः प्रकृतीः प्रजाः कार्य्यार्थिनीरवेक्षितुं दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः व्यवहारासनं धर्मासनमाददे स्वीचकार । प्रवयाः स्थविरो नृपतिः रघुस्तु । प्रवयाः स्थविरो वृद्ध इत्यमरः । धारणां चित्तस्यैकाग्रतां परिचेतुमभ्यसितुमुपांशु विजने । उपांशु विजने प्रोक्तमिति हलायुधः । कुशैः पूतं विष्टरमाददे । यमादिगुणसंयुक्ते मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैरिति वशिष्ठः ॥ १८ ॥

अनयदिति । एकोऽन्यतरोऽजइत्यर्थः अनन्तरान् स्वभूम्यनन्तरान् नृपतीन् यातव्यपार्ष्णिग्राहादीन् प्रभुशक्तिसम्पदा कोशदण्डमहिम्ना वशं स्वायत्ततामनयत् । अपरो रघुः प्रणिधानयोग्यया समाध्यभ्यासेन । योग्याभ्यासार्कयोषितोरिति विश्वः । शरीरगोचरान् देहाश्रयान् पञ्च मरुतः प्राणादीन् वशमनयत् ॥ १९ ॥

अकरोदिति । अचिरेश्वरोऽजः क्षितौ द्विषतामारम्भाः कर्माणि तेषां फलानि भस्मसादकरोत् कार्त्स्न्येन भस्मीकृतवान् । विभाषा साति कार्त्स्न्ये इति सातिप्रत्ययः । इतरो रघुः ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना करणेन स्वकर्म्मणां

इतरो दहने स्वकर्म्मणां
वद्वृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥

पणबन्धमुखान् गुणानजः
षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद्गुणत्रयं
प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्
स्थिरकर्म्मा विरराम कर्म्मणः ।
नच योगविधेर्नवेतरः
स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च
प्रतिषिद्धप्रसरेसु जाग्रतौ ।

भववीजभूतानां दहने भस्मीकरणे वद्वृते स्वकर्म्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । ज्ञानाग्निः सर्व्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्ज्जुनेति वचनात् ॥ २० ॥

पणबन्धेति । पणबन्धः सन्धिरिति कौटिल्यः । अजः पणबन्धमुखान् सन्ध्यादीन् षड्गुणान् । सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणा इत्यमरः । तत्फलं तेषां गुणानां फलं समीक्ष्य आलोच्य उपायुङ्क्त फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेष्वित्यात्मनेपदम् । समः तुल्यतया भावितो लोष्टो मृत्पिण्डः काञ्चनं सुवर्णञ्च यस्य स समलोष्टकाञ्चनो निःस्पृह इत्यर्थः । रघुरपि गुणत्रयं सत्वादिकम् । गुणाः सत्वं रजस्तम इत्यमरः । प्रकृतौ साम्यावस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा तथा अजयत् ॥ २१ ॥

नेति । स्थिरकर्म्मा आफलोदयकर्म्मकारी नवः प्रभुरजः आफलोदयात् फलसिद्धिपर्य्यन्तं कर्म्मण आरम्भात् न विरराम न निवृत्तः । जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानमित्यपादानात् पञ्चमी । व्याङ्परिभ्यो रम इति परस्मैपदम् । स्थिरधीः नवेतरो रघुस्च आपरमात्मदर्शनात् परमात्मसाक्षात्कारपर्य्यन्तं योगविधेरैक्यानुसन्धानान्न विरराम ॥ २२ ॥

प्रसिताबुदयापवर्गयो-
रुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ २३ ॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया
गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं
पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥

श्रुतदेहविसर्ज्जनः पितु-
श्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं
यतिभिः सार्द्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥

इतीति । इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतावप्रमत्तौ उदयापवर्गयोः अभ्युदयमोक्षयोः प्रसितावासक्तौ । तत्परे प्रसितासक्तावित्यमरः । उभावजरघू उभयीं द्विविधाम् अभ्युदयमोक्षरूपाम् । उभादुदात्तोनित्यमिति तयप् प्रत्ययस्यायजादेशः, टिड्ढेति ङीप् । सिद्धिं फलमवापतुः उभौ उभे सिद्धी यथासंख्यमवापतुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

अथेति । अथ रघुः समदर्शनः सर्व्वभूतेषु समदृष्टिः सन् अजव्यपेक्षया अजाकाङ्क्षानुरोधेन काश्चित्समाः कतिचिद्वर्षाणि । समा वर्षं समं तुल्यमिति विश्वः । गमयित्वा नीत्वा योगसमाधिना ऐक्यानुसन्धानेन । संयोगोयोग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोरिति वशिष्ठः । अव्ययमविनाशिनं तमसः परमविद्यायाः परं मायातीतमित्यर्थः । पुरुषं परमात्मानमापत् प्राप सायुज्यं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्रुतेति । अग्निचित् अग्निं चितवान् । अग्नौ चेरिति क्विप् प्रत्ययः । राघवोऽजः पितुः श्रुतदेहविसर्ज्जनः आकर्णितपितृतनुत्यागः सन् चिरमश्रूणि वाष्पान् विमुच्य विसृज्य अस्य पितुः अनग्निमग्निसंस्काररहितमित्यर्थः नैष्ठिकं निष्ठायामन्ते भवं विधिमाचारमन्त्येष्टिं यतिभिः सन्न्यासिभिः सार्द्धं विदधे चक्रे । अनग्निं विधिमित्यत्र शौनकः । सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च । न तस्य दहनं कार्य्यं नैव पिण्डोदकक्रिया । निदध्यात् प्रणवेनैव विले भिक्षोः कलेवरम् । प्रोक्षणं खननञ्चैव सर्व्वं तेनैव कारयेदिति ॥ २५ ॥

अकरोत् स तदौर्द्ध्वदैहिकं
पितृभक्त्या पितृकार्य्यकल्पवित् ।
नहि तेन पथा तनुत्यज-
स्तनयावर्ज्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

स परार्द्ध्यगतेरशोच्यतां
पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः
कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी
पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभू-
दपरा वीरमजीजनत् सुतम् ॥ २८ ॥

अकरोदिति । पितृकार्य्यस्य श्राद्धस्य कल्पवित् विधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन, न पितुः परलोकसुखामेच्छया, मुक्तत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्द्ध्वदैहिकं देहादूर्द्ध्वं भवतीति तत्, तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । ऊर्द्ध्वं देहाच्चेतिवक्तव्यात् ठक्प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्सापि कस्मान्नाभूदित्याशङ्क्याह नहीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषाः तनयेनावर्ज्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ॥ २६ ॥

स इति । परार्द्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुः अशोच्यताम् अशोचनीयत्वम् उद्दिश्याभिसन्धाय शोको न कर्त्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैः शमिताधिर्निवारितमनोव्यथः । पुंस्याधिर्मानसी व्यथेत्यमरः । सोऽजः अधिज्यकार्मुकः अधिज्यम् आरोपितमौर्व्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत् कर्म्मभूतम् अप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितमात्माज्ञाविधेय मित्यर्थः कृतवान् चकार ॥ २७ ॥

क्षितिरिति । क्षितिर्मही भामिनी कामिनी इन्दुमती च । भामिनी कामिनी चेति हलायुधः । अग्र्यपौरुषं महापराक्रमं उत्कृष्टभोगशक्तिञ्च तमजं पतिमा-

दशरश्मिशतोपमद्युतिं
यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया
दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां
श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान् बभौ
परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ ३० ॥

बलमार्त्तभयोपशान्तये
विदुषां सत्कृतये बहु श्रुतम् ।

साद्य, तत्र प्रथमा चितिः बहूनि रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि सूतइति बहुरत्नसूरभूत् । रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपीत्यमरः । अपरा इन्दुमती वीरं सुतमजीजनत् जनयति स्म । जायतेर्णौ लुङि रूपम् ॥ २८ ॥

किंनामकोऽसावतआह

दशेति । दश रश्मिशतानि यस्य सः दशरश्मिशतः सूर्यः स उपमा यस्याः सा दशरश्मिशतोपमा द्युतिर्यस्य तं यशसा करणेन दशस्वपि दिक्षु श्रुतं प्रसिद्धं दशकण्ठारेः रावणारेः रामस्य गुरुं पितरं यं सुत-साख्यया नाम्ना दशपूर्वौदश-शब्दपूर्वौरथोरथशब्दः तं दशरथमित्यर्थः बुधाः विद्वांसो विदुर्वदन्ति । विदो-लटो वेति झेर्जुसादेशः ॥ २९ ॥

ऋषीति । श्रुतयागप्रसवैः अध्ययनयज्ञसन्तानैः यथासंख्यम् ऋषीणां देव-गणानामिन्द्रादीनां स्वधाभुजां पितॄणाम् अनृणत्वम् ऋणविमुक्तत्वम् उपेयिवान् प्राप्तवान् । एष वा अनृणोयः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा इति श्रुतेः । स पार्थि-वोऽजः परिधेः परिवेशात् । परिवेशस्तु परिधिरित्यमरः । मुक्त उष्णदीधितिः सूर्य्य इव बभावित्युपमा ॥ ३० ॥

बलमिति । तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजनं परोपकारकं नाभूत् किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजनं यस्यां सा विधेयांशत्वेन प्राधान्याद्गुणवत्ताया विशेषणम् वसु इत्यत्र ऊहनीयम् । तथाहि

बभूव तस्य विभोर्न केवलं
गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥
स कदाचिदवेक्षितप्रजः
सह देव्या विजहार सुप्रजाः ।
नगरोपवने शचीसखो
मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥
अथ रोधसि दक्षिणोदधेः
श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवे-
रुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥
कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः
स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत् किल तस्य वेगवान्
अधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥

बलं पौरुषम् आर्त्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये नतु स्वार्थं परपीड़नाय वा। बहु भूरि श्रुतं विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय नतूत्सेकाय बभूव ॥ ३१ ॥

स इति। अवेक्षितप्रजः अकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः। नित्य मसिच् प्रजामेधयोरिति असिच्प्रत्ययः। न केवलं स्त्रैण इति भावः। शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः सुपुत्रवान् पुत्रन्यस्तभार इति भावः। सोऽजः कदाचिद्देव्या महिष्या इन्दुमत्या सह नगरोपवने, नन्दने नन्दनाख्ये अमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः शच्या सहेत्यर्थः मरुतां देवानां पालयिता इन्द्र इव, विजहार चिक्रीड़ ॥ ३२ ॥

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितगोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितुं वीणया उपगातुम्। सत्यापाशेत्यादिना वीणाशब्दादुपगानार्थे णिच्प्रत्ययः, ततस्तुमुन्। नारदो देवर्षिः रवेः सम्बन्धिना उदयावृत्तिपथेन आकाशमार्गेण ययौ ॥ ३३ ॥

कुसुमैरिति। अपार्थिवैर्दिव्यैरित्यर्थः कुसुमैर्ग्रथितां रचितां तस्य नारदस्यातोद्यस्य वाद्यस्य वीणायाः शिरसि निवेशिताम्। चतुर्विधमिदं वाद्यं वादि-

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः
परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं
सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥
अभिभूय विभूतिमार्त्तवीं
मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा
दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥
क्षणमात्रसखीं सुजातयोः
स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला ।
निमिमील नरोत्तमप्रिया
हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥

वातोद्यनामकमित्यमरः । स्रजं मालां वेगवान् मारुतः अधिवासे वासनायां स्पृहयेव स्रजा स्वाङ्गं संस्कर्त्तुमित्यर्थः । संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनमित्यमरः । अहरत् किल, किलेत्यैतिह्ये ॥ ३४ ॥

भ्रमरैरिति । कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिः भ्रमरैः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा । वीना तु वल्लकी । विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनीत्यमरः । पवनस्यावलेपोऽधिक्षेपः तज्जम् अञ्जनेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजती मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा । परिभूताः स्त्रियोऽपि हि रुदन्तीति भावः ॥ ३५ ॥

अभिभूयेति । सा अमरस्रक् दिव्यमाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिक्येन वीरुधां लतानाम् । लता प्रतानिनी वीरुदित्यमरः । ऋतोः प्राप्तामार्त्तवीम् ऋतुसम्बन्धिनीं विभूतिं समृद्धिमभिभूय नृपतेः दयितायाः इन्दुमत्याः उर्व्वौ विशालयोः स्तनयोः कोटी चूचुकौ तयोः सुस्थितिं स्थानम् आप ॥ ३६ ॥

क्षणमिति । सुजातयोः सुजन्मनोः सुन्दरयोरित्यर्थः । स्तनयोः क्षणमात्रसखीं तां स्रजमवलोक्य विह्वला परवशा नरोत्तमप्रिया इन्दुमती तमसा राहुणा । तमस्तु राहुः स्वर्भानुरित्यमरः । हृतचन्द्रा कौमुदीव निमिमील ममार । निमीलोदीर्घनिद्रा चेति हलायुधः ॥ ३७ ॥

वपुषा करणोज्झितेन सा
निपतन्ती पतिमप्यपातयत् ।
ननु तैलनिषेकविन्दुना
सह दीपार्च्चिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥

उभयोरपि पार्श्ववर्त्तिनां
तुमुलेनार्त्तरवेण वेजिताः ।
विहगाः कमलाकरालयाः
समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो
नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः
सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥

प्रतियोजयितव्यवल्लकी-
समवस्थामथ सत्वविप्लवात् ।

वपुषेति । करणैरिन्द्रियैरुज्झितेन । करणं साधकतमं चेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपीत्यमरः । वपुषा निपतन्ती सा इन्दुमती पतिमजमप्यपातयत् पातयतिस्म । तथाहि निषिच्यत इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेकः चरत्तैलमित्यर्थः तस्य विन्दुना सह दीपार्च्चिः दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैति ननु उपैत्येव । नन्वत्रावधारणे । प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे नन्वित्यमरः ॥ ३८ ॥

उभयोरिति । उभयोर्दम्पत्योः पार्श्ववर्त्तिनां परिजनानां तुमुलेन सङ्कुलेनार्त्तरवेण करुणस्वनेन वेजिताः भीताः कमलाकरालयाः सरःस्थिताः विहगाः हंसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

नृपतेरिति । नृपतेरजस्य तमोऽज्ञानं व्यजनादिभिः साधनैः नुनुदे अपसारितं सा तु इन्दुमती तथैव संस्थिता मृता । तथाहि । प्रतिकारविधानं चिकित्सा आयुषः जीवितकालस्य शेषे सति विद्यमाने । आयुर्जीवितकालोनेत्यमरः । फलाय कल्पते आरोग्याय भवति नान्यथा नृपतेरायुःशेषसद्भावात् प्रतीकारस्य साफल्यं तस्यास्तु तदभावात् वैफल्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

स निनाय नितान्तवत्सलः
परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥
पतिरङ्कनिषण्णया तया
करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां
मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥
विललाप स वाष्पगद्गदं
सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं
भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥
कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्
प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।

प्रतीति । अथ सत्त्वस्य चैतन्यस्य विप्लवाद्विनाशाद्धेतोः । द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमित्यमरः । प्रतियोजयितव्या तन्त्रिभिर्योजनीया नतु योजिततन्त्रीत्यर्थः या वल्लकी वीणा तस्याः समा वस्या अवस्था दशा यस्यास्तामङ्गनां वनितां नितान्तवत्सलोऽतिप्रेमवान् सोऽजः परिगृह्य हस्ताभ्यां गृहीत्वा उचितं परिचितमङ्कम् उत्सङ्गं निनाय नीतवान् ॥ ४१ ॥

पतिरिति । पतिरजः अङ्कनिषण्णया करणानामपायेनापगमेन विभिन्नवर्णया विच्छाययया तया, उषसि आविलां मृगलेखां बिभ्रच्चन्द्रमाइव समलक्ष्यतेत्युपमा ॥ ४२ ॥

विललापेति । सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्य्यम् अपहाय वाष्पेण गद्गदं विशीर्णाक्षरं यथा तथा विललाप परिदेवितवान् । विलापः परिदेवनमित्यमरः । अभितप्तम् अग्निना सन्तप्तम् अयोऽपि मार्द्दवं मृदुत्वं भजते शरीरिषु देहिषु अभिसन्तप्तेष्विति शेषः विषये कैव कथा वार्त्ता अनुक्तासिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

कुसुमानीति । कुसुमानि पुष्पाण्यपि । अपिशब्दो नितान्तमार्द्दवद्योतनार्थः । गात्रसङ्गमात् देहसंसर्गात् आयुरोपहितुम् अपहर्त्तुं प्रभवन्ति यदि । हन्त विषादे । हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भ विषादयोरित्यमरः । प्रहरिष्यतो-

न भविष्यति हन्त साधनं
किमिवान्यत् प्रहरिष्यतोविधेः ॥ ४४ ॥
अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं
मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे
नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥
स्रगियं यदि जीवितापहा
हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवे
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥
अथवा मम भाग्यविप्लवा-
दशनिः कल्पितएष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः
क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

विधेरन्यत् कुसुमादिरितिक्तं किमिव वस्तु । इवशब्दोवाक्यालङ्कारे कीदृशमित्यर्थः। साधनं न भविष्यति सर्वमपि साधनं भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे प्रजान्तकः कालः मृदु कोमलं वस्तु मृदुनैव वस्तुना हिंसितुं हन्तुम् आरभते उपक्रमते । अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्यस्याः सा नलिनी मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता ॥ ४५ ॥

स्रगिति । इयं स्रक् जीवितम् अपहन्तीति जीवितापहा यदि । हृदये वक्षसि । हृदयं वक्षसि स्वान्ते इत्यमरः । निहिता सती मां किं न हन्ति । ईश्वरेच्छया क्वचित्प्रदेशे विषमप्यमृतं भवेत् क्वचिदमृतं वा विषं भवेत् । दैवमेवात्र कारणमित्यर्थः ४६ ॥

अथवेति । अथवा मम भाग्यस्य विप्लवात् विपर्य्ययात् एष स्रगित्यर्थः । विधेयप्राधान्यात् पुंलिङ्गनिर्द्देशः । वेधसा विधात्रा अशनि वैद्युतोऽग्निः कल्पितः । दम्भोलिरशनिर्द्वयोरित्यमरः । यत् यस्मादनेनाप्यशनिना प्रसिद्धा-

कृतवत्यसि नावधीरणा-
मपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं
जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते
विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसन्निवृत्तये
यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगा-
द्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम
प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥

शनिनेव तरुस्तरुस्थानीयः स्वयमेव न पातितः । किन्तु तस्य तरोर्विटपाश्रिता लता च्यपिता नाशिता ॥ ४७ ॥

कृतेति । मयि चिरं भूरिशः अपराद्धेऽपि अपराधं कृतवत्यपि । राधेः कर्त्तरि क्तः । यदा यस्मात् हेतोः । यदेति हेत्वर्थः स्वरादौ पठ्यते यदेति हेताविति गणव्याख्यानात् । अवधीरणामवज्ञां न कृतवत्यसि । तत्कथम् एकपदे तत्-क्षणे । स्यात्तत्क्षण एकपदमिति विश्वः । निरागसं नितरामनपराधम् इमं जनम् । इममिति स्वात्मनिर्देशः । मामित्यर्थः आभाष्यं सम्भाष्यं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

ध्रुवमिति । हे शुचिस्मिते शठो गूढविप्रियकारी कैतवेन कपटेन वत्सलः कैतववत्सल इति ध्रुवं सत्यं तव विदितः त्वया विज्ञातोऽस्मि । मतिबुद्धीत्यादिना कर्त्तरि क्तः । क्तस्य च वर्त्तमाने इति कर्त्तरि षष्ठी । कुतः, यस्मात् मामनापृच्छ्य अनामन्त्र्य इतः अस्माल्लोकात्परलोकम् असन्निवृत्तये अपुनरावृत्तये गतासि ॥ ४९ ॥

दयितामिति । इदं मम हतजीवितं तावद्दयितामन्वगादन्वगच्छद्यदि अन्वगादेव । यद्यत्रावधारणे । पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भावः । तया विना किं किमर्थं विनिवृत्तम् प्रत्यागमनं न युक्तमित्यर्थः । अतएवात्मकृतेन स्वदुश्चेष्टितेन निवृत्तिरूपेण प्रबलां वेदनां सहताम् । स्वयङ्कृतापराधेषु सहिष्णुतैव शरणमिति भावः ॥ ५० ॥

सुरतश्रमसम्भृतोमुखे
ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना
धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया
कृतपूर्व्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं
त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥

कुसुमोत्खचितान् बलीभृत
श्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुत
स्त्वदुपावर्त्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये
प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।

सुरतेति । सुरतश्रमेण सम्भृतोजनितः स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते वर्त्तते अथच त्वम् आत्मना स्वरूपेण अस्तं नाशम् इता प्राप्ता, अतः कारणात् देहभृताम् प्राणिनाम् इमामसारतामस्थिरतां धिक् ॥ ५१ ॥

मनसेति । मया मनसापि तव विप्रियं न कृतपूर्व्वं पूर्व्वं न कृत मित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । किं मां जहासि । ननु अहं क्षितेः शब्दपतिः शब्दत-एव पतिः नत्वर्थत इत्यर्थः भावनिबन्धना अभिप्रायनिबन्धना स्वभावहेतुका मे रतिस्तु त्वय्येव अस्तीति शेषः ॥ ५२ ॥

कुसुमेति । कुसुमैः उत्खचितान् उत्कृष्टेन रचितान् बलीभृतोभङ्गीयु-क्तान् भृङ्गरुचोनीलान् तवालकान् चलयन् कम्पयन् मारुतः हे करभोरु मे मनस्त्वदुपावर्त्तनशङ्कि तव पुनरागमने शङ्कावत्करोति त्वदुज्जीवने शङ्कां कार-यतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

तदिति । हे प्रिये तत्तस्मात्कारणात् आशु मे विषादं दुःखं, नक्तं रात्रौ

ज्वलितेन गुहागतं तम
स्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ ५४ ॥
इदमुच्छ्वसितालकं मुखं
तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं
विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥
शशिनं पुनरेति शर्वरी
दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ
कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥
नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते
मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं
वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥

ओषधिः तृणज्योतिराख्या लता ज्वलितेन प्रकाशेन तुहिनाद्रेर्गुहागतं तमइव, प्रतिबोधेन ज्ञानेन अपोहितुं निरसितुं मर्हसि ॥ ५४ ॥

इदमिति। इदमुच्छ्वसितालकं चलितचूर्णकुन्तलं विश्रान्तकथं निवृत्तसंलापं तव मुखं, निशि सुप्तं निमीलितं विरतः अभ्यन्तराणामन्तर्वर्त्तिनां षट्पदानां स्वनो यत्र तत् निःशब्दभृङ्गमित्यर्थः एकपङ्कजमिव, मां दुनोति परितापयति ॥ ५५॥

शशिनमिति। शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति, द्वन्द्वीभूय चरतीति द्वन्द्वचरस्तं पतत्त्रिणं चक्रवाकं दयिता चक्रवाकी पुनरेति, इति हेतोः तौ चन्द्रचक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ। अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये इत्यमरः। अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वन्तु कथं न मां दहेः अपितु दहेरेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

नवेति। नवपल्लवसंस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽपि अर्पितं स्थापितं मृदु ते तव यदङ्गं शरीरं दूयेत परितप्तं भवेत्। वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा हे वामोरु!

इयमप्रतिबोधशायिनीं
रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा
न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

कलमन्यभृतासु भाषितं
कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं
पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां
निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं
हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

वामं स्यात् सुन्दरे सव्यइति केशवः । संहितशफलक्षणेत्यादिना ऊङ्प्रत्ययः । तदिदमङ्गं चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहणं कथं विषहिष्यते, वद ॥ ५७ ॥

इयमिति । इयं प्रथमा रहःसखी सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः । गतिविभ्रमसादेन नीरवा विलासोपरमेण निःशब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधम् अपुनरुद्बोधं यथा तथा शायिनीं मृतामित्यर्थः त्वाम् अनु त्वया सह । तृतीयार्थइत्यनुशब्दस्य कर्म्मप्रवचनीयत्वेन कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । शुचा शोकेन मृतेव न लक्ष्यतइति न, लक्ष्यतएवेत्यर्थः । सम्भाव्यनिषेध-निवर्त्तनाय द्वौ प्रतिषेधौ ॥ ५८ ॥

कलमिति, त्रिदिवेति । युग्मम् । अन्यभृतासु कोकिलासु कलं मधुरं भाषितं भाषणम्, कलहंसीषु मदालसं मन्थरं गतं गमनम्, पृषतीषु हरिणीषु विलोलमीक्षितं चञ्चला दृष्टिः, पवनेन वायुना आधूतलतासु ईषत्कम्पितलतासु विभ्रमा विलासाः ॥ ५९ ॥

अमी पूर्वोक्ताः कलभाषणादयोगुणाः । एषु कोकिलादिस्थानेष्विति शेषः । त्रिदिवोत्सुकयापि इह जीवन्त्येव स्वर्गं प्रति प्रस्थितयापि त्वया मामवेक्ष्य विरहासहं विचार्य्य सत्यं निहिताः मत्प्राणधारणोपायतया स्थापिता इत्यर्थः तव विरहे

मिथुनं परिकल्पितं त्वया
सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रिया-
मनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ॥ ६१ ॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया
यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथन्नु तत्
तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं
चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमास्रुवर्षिणा
त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभि-
र्बकुलैरर्द्धचितां समं मया ।

गुरुव्ययमतिदुःखं मे हृदयमवलम्बितुं स्थापयितुं न चमाः न शक्ताः । ते तु तत्स-ङ्गमे एव सुखकारिणः नान्यथा प्रत्युत प्राणानपहरन्तीति भावः ॥ ६० ॥

मिथुनमिति । ननु हे प्रिये सहकारश्चूतविशेषः फलिनी प्रियङ्गुलता च इमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वे नाभ्यमानि । अनयोः फलिनीसहकार-योर्विवाहसत्क्रियां विवाहमङ्गलमविधाय अकृत्वा गम्यतइत्यसाम्प्रतमयुक्तम् । मातृहीनानां न किञ्चित् सुखमस्तीति भावः ॥ ६१ ॥

कुसुममिति । वृक्षादिपोषकं दोहदम् । त्वया कृतं दोहदं पादताड़न-रूपं यस्य सः अयमशोको यत् कुसुमम् उदीरयिष्यति प्रसविष्यते तवालकाना-माभरणम् आभरणभूतं तत् कुसुमं कथं निवापमाल्यतां नेष्यामि । निवापः पितृ-दानं स्यादित्यमरः ॥ ६२ ॥

स्मरतेति । अन्यदुर्लभं किन्तु स्मर्त्तव्यमेवेत्यर्थः सशब्दं नूपुरं यस्य तं चरणे-नानुग्रहं पादेन ताड़नरूपं स्मरतेव कुसुमान्येवाश्रूणि तद्वर्षिणा अमुना अशोकेन हे सुगात्रि ! अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्चेति वक्तव्यात् ङीप् । त्वं शोच्यसे ॥ ६२ ॥

असमाप्य विलासमेखलां
किमिदं किन्नरकण्ठि ! सुप्यते ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः
प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते
व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता
विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं
परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।

तवेति । तव निःश्वसितानुकारिभिः वकुलैः वकुलकुसुमैः मया समं सार्द्धम् अर्द्धचिताम् अर्द्धं यथा तथा रचितां विलासमेखलाम् असमाप्य किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठइव कण्ठोयस्याः तत्सम्बुद्धिः हे किन्नरकण्ठि ! अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्चेति ङीप् । किमिदं सुप्यते । वचि स्वपोत्यादिना सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपन मित्यर्थः ॥ ६४ ॥

समेति । सखीजनः समदुःखसुखः त्वद्दुःखेन दुःखी त्वत्सुखेन सुखीत्यर्थः । अयमात्मजो बालः प्रतिपच्चन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्द्धिष्णुश्चेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीया लक्ष्यते प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात् । अहमेकरसोऽभिन्नरागः । शृङ्गारादौ विषे वीर्य्ये गुणे रागे द्रवे रस इत्यमरः । तथापि जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः ते तव व्यवसायोऽस्मत् परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुरः । प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेपि च । प्रागल्भ्ये च प्रबोधे चेति विश्वः । स्मर्तुं न शक्यं किमुताधिकर्तुमिति भावः ॥ ६५ ॥

धृतिरिति । अद्य मे धृतिर्धैर्य्यं प्रतीतिर्वा अस्तं नाशमिता, रति श्च्युता गता, गेयं गानं विरतम्, ऋतुर्वसन्तादिर्निरुत्सवः, आभरणानां प्रयोजनं गतम् अपगतं, शेते अस्मिन्निति शयनीयं तल्पम् । कृत्यल्युटोबहुलमित्यधिकरणार्थेऽनीयर् प्रत्ययः । परिशून्यम् । त्वां विना सर्वमपि निष्फलमिति भावः ॥ ६६ ॥

करुणाविमुखेन मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥ ६७॥
मदिराक्षि! मदाननार्पितं
मधु पीत्वा रसवत् कथं नु मे।
अनुपास्यसि वाष्पदूषितं
परलोकोपनतं जलाञ्जलिम्॥ ६८॥
विभवेऽपि सति त्वया विना
सुखमेतावदजस्य गण्यताम्।
अहृतस्य विलोभनान्तरै-
र्म्मम सर्व्वे विषयास्त्वदाश्रयाः॥ ६९॥
विलपन्निति कोशलाधिपः
करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।

गृहिणीति। त्वमेव गृहिणी दाराः सचिवो बुद्धिसहायो मन्त्री मिथो-रहसि सखी नर्मसचिवः ललिते मनोहरे कलाविधौ वादित्रादिचतुःषष्टिकलाप्र-योगे प्रियशिष्या, अतस्त्वां समष्टिरूपां हरता अतएव करुणाविमुखेन कृपाशून्येन मृत्युना मे मत्सम्बन्धि किं न हृतं वद सर्वमपि हृतमित्यर्थः॥ ६७॥

मदिरेति। माद्यत्यनयेति मदिरा लोकप्रसिद्धा तथापि नार्य्यो मदिरलोचना इत्यादिप्रयोगदर्शनात् माद्यत्याभ्यामिति मदिरे अक्षिणी यस्यास्तत्सम्बुद्धिः हे मदिराक्षि! मदाननेनार्पितं रसवत्स्वादुतरं मधु मद्यं पीत्वा वाष्पदूषितम् अस्र-तप्तं परलोकोपनतं परलोकप्राप्तं मे जलाञ्जलिं कथं नु अनु अनन्तरं पास्यसि। तदनन्तरमिदमनर्हमित्यर्थः। यथाह भट्टमल्लः। अनुपानं हिमजलं यवगोधूम-निर्म्मिते। दध्नि मद्ये विषे द्राक्षे पिष्टे मिष्टमयेपि चेति। तच्च इहैव युज्यते। इदं तूष्णं लोकान्तरोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोधात् कथमनुपास्यसीति भावः॥ ६८॥

विभवेइति। विभवे ऐश्वर्य्ये सत्यपि त्वया विना अजस्य एतावदेव सुखं गण्यताम् यावत् त्वया सह भुक्तं ततोऽन्यन्न किञ्चिद्भविष्यतीत्यर्थः। कुतः विलो-भनान्तरैर्विषयान्तरैरहृतस्य अनाकृष्टस्य मम सर्व्वे विषयाः भोगादयः त्वदा-श्रयास्त्वदधीनाः त्वां विना मे न किञ्चिद्रोचतइत्यर्थः॥ ६९॥

अकरोत् पृथिवीरुहानपि
स्रुतशाखारसवाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥

अथ तस्य कथञ्चिदङ्कतः
स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज्ज तदन्त्यमण्डना-
मनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥

प्रमदामनु संस्थितः शुचा
नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्
सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥

अथ तेन दशाहतः परे
गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।

विलपन्निति । कोशलाधिपोऽजः इति, करुणः शोकरसः सएवार्थस्तेन ग्रथितं सम्बद्धं यथा तथा, प्रियां प्रति विलपन् पृथिवीरुहान् वृक्षानपि स्रुताः शाखारसा मकरन्दा एव वाष्पा स्तैर्दूषितानकरोत् । अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः ॥ ७० ॥

अथेति । अथ स्वजनो बन्धुवर्गः तस्याजस्य अङ्कत उत्सङ्गात् कथञ्चिदपनीय तद्दिव्यकुसुममेव अन्त्यं मण्डनमलङ्कारोयस्यास्तां तां सुन्दरीम् अगुरूणि चन्दनानि एधांसि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज्ज विसृष्टवान् । क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यमिति क्रियामात्रप्रयोगे सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥ ७१ ॥

प्रमदामिति । नृपतिः सन्नपि विद्वानपि शुचा शोकेन प्रमदामनु प्रमदया सह संस्थितो मृत इति वाच्यदर्शनात् निन्दादर्शनात् देव्या इन्दुमत्या सह शरीरम् अग्निसादग्न्यधीनं न चकार । तदधीनवचने इपि सातिप्रत्ययः । जीविताशया प्राणनेच्छया तु न ॥ ७२ ॥

अथेति । अथ विदुषा तेनाजेन गुणाएव शेषा यस्यास्तां गुणशेषां भामिनीमिन्दुमतीमुपदिश्योद्दिश्य दशानामह्नां समाहारो दशाहः । तद्धितार्थेत्यादिना समासः, समाहारस्यैकत्वादेकवचनम्, राजाहःसखिभ्यष्टजिति टच्, रात्राह्नाहाः

विदुषा विधयो महर्द्धयः
पुरएवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥
स विवेश पुरीं तया विना
क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्
स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥
अथ तं सवनाय दीक्षितः
प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजड़ं विजज्ञिवा-
निति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥
असमाप्तविधिर्यतोमुनि-
स्तव विद्वानपि तापकारणम् ।

पुंसीति पुंवत्, ततस्तसिल्। तस्मात् दशाहतः परे कर्त्तव्याः महर्द्धयो महासमृद्धयो विधयः क्रियाः पुरः पुर्य्या उपवनेएव समापिताः सम्पूर्णमनुष्ठिताः । दशाहत इत्यत्र विप्रः शुध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिप इतिवचनविरोधो नाशङ्कनीयः तस्य निर्गुणक्षत्रियत्वात् । गुणवत्क्षत्रियस्य दशाहेन शुद्धिमाह पराशरः, क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिरिति । सूच्यतेऽस्यापि गुणवत्त्वं विदुषेत्यनेन ॥७३॥

स इति । तयेन्दुमत्या विना क्षणदाया रात्रेरपायेऽपगमे यः शशाङ्कः चन्द्रः स इव दृश्यते इति कर्म्मार्थे ल्युट् । प्रातःकालिकचन्द्र इव दृश्यमान इत्यर्थः सोऽजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः स्वशोकस्य परिवाहं जलोच्छ्वासमिवावलोकयन् । जलोच्छ्वासाः परीवाहा इत्यमरः । स्वदुःखपूरातिशयमिव पश्यन् पुरीं विवेश वधूग्रहणात् तस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानात् अजसमानदुःखसूचकपरीवाहोक्तिनिर्व्वहति ॥ ७४ ॥

अथेति । अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वशिष्ठः आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः सन् तमजमभिषङ्गजड़ं दुःखमोहितं प्रणिधानात् चित्तैकाग्रात् विजज्ञिवान् ज्ञातवान् । क्वसुश्चेति क्वसुप्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येण अन्वबोधयत् किल । बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यः णिचश्चेति परस्मैपदम् ...

न भवन्तमुपस्थितः स्वयं
प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम्॥ ७६॥
मयि तस्य सुवृत्त वर्त्तते
लघुसन्देशपदा सरस्वती।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार तां
हृदि चैनामुपधातुमर्हसि॥ ७७॥
पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः
समतीतञ्च भवच्च भावि च।
सहि निष्प्रतिघेन चक्षुषा
त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति॥ ७८॥
चरतः किल दुश्चरं तपस्
तृणविन्दोः परिशङ्कितः पुरा।

वशिष्ठशिष्यआह

असमाप्तेति। यतोहेतोर्मुनिरसमाप्तविधिः असमाप्तक्रतुः ततः तव तापकारणं दुःखहेतुं कलत्रनाशरूपं विद्वान् जानन्नपि। विदेः शतुर्वसुरिति वस्वादेशः, न लोकेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। पथश्च्युतं स्वभावाद्भ्रष्टं भवन्तं प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितुं समाश्वासयितुम् इत्यर्थः स्वयं नोपस्थितः नागतः॥ ७६॥

मयीति। हे सुवृत्त सदाचार! सन्दिश्यत इति सन्देशः सन्देष्टव्यार्थः तस्य पदानि वाचकानि लघूनि संक्षिप्तानि सन्देशपदानि यस्यां सा लघुसन्देशपदा तस्य मुनेः सरस्वती वाक् मयि वर्त्तते हे विश्रुतसत्त्वसार प्रख्यातधैर्य्यातिशय! तां सरस्वतीं शृणु एनां वाचं हृदि उपधातुं धर्तुं चार्हसि॥ ७७॥

वक्ष्यमाणार्थानुगुणं मुनेः सर्व्वज्ञत्वं तावदाह

पुरुषस्येति। अजन्मनः पुरुषस्य पुराणपुरुषस्य भगवतस्त्रिविक्रमस्य पदेषु विक्रमेषु त्रिभुवनेष्वपीत्यर्थः समतीतं भूतञ्च भवत् वर्त्तमानञ्च भावि भविष्यच्चेति त्रितयं स मुनिः निष्प्रतिघेन अप्रतिबन्धेन ज्ञानमयेन चक्षुषा ज्ञानदृष्ट्या पश्यति हि, अतस्तदुक्तिषु न संशयितव्यमित्यर्थः॥ ७८॥

चरत इति। पुरा किल दुश्चरं तीव्रं तपश्चरतः तृणविन्दोस्तृणविन्दुनाम-

प्रजिघाय समाधिभेदिनीं
हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥
स तपःप्रतिबन्धमन्युना
प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम्
अशपद्भव मानुषीति तां
शमवेलाप्रलयोर्म्मिणा भुवि ॥ ८० ॥
भगवन् परवानयं जनः
प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं
कृतवाना सुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥
क्रथकैशिकवंशसम्भवा
तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।

कात् कस्माच्चिद्दोषः परिशङ्कितः भीतः । कर्त्तरि क्तः । भीत्रार्थानां भयहेतुरित्यपादानात् पञ्चमी । हरिरिन्द्रः समाधिभेदिनीं तपोविघातिनीं हरिणीं नाम सुराङ्गनाम् अस्मै तृणविन्दवे प्रजिघाय प्रेरितवान् ॥ ७९ ॥

स इति । स मुनिः शमः शान्तिरेव वेला मर्य्यादा तस्याः प्रलयोर्म्मिणा प्रलयकालतरङ्गेण शमविघातकेनेत्यर्थः । अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्य्यादयोरपीत्यमरः । तपसः प्रतिबन्धेन विघ्नेन यो मन्युः क्रोधस्तेन हेतुना प्रमुखे अग्रे आविष्कृतचारुविभ्रमां प्रकाशितमनोहरविलासां तां हरिणीं भुवि भूलोके मानुषी मनुष्यस्त्री भवेत्यशपत् ॥ ८० ॥

भगवन्निति । हे भगवन् महर्षे अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवान् पराधीनः । अयमिति आत्मनिर्द्देशः अहं पराधीनेत्यर्थः । मे मम प्रतिकूलाचरितमपराधं क्षमस्व इति अनेन प्रकारेणोपनतां शरणागतां च हरिणीम् आसुरपुष्पदर्शनात् सुरपुष्पदर्शनपर्य्यन्तं क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक् तां क्षितिस्पृशं मानुषीं कृतवान् दिव्यपुष्पदर्शनं शापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ८१ ॥

क्रथेति । क्रथकैशिकानां राज्ञां वंशे सम्भवो यस्याः सा हरिणी तव महिषी अभिषिक्ता स्त्री । कृताभिषेका महिषीत्यमरः । भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गात्

उपलब्धवती दिवश्च्युतं
विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥
तदलं तदपायचिन्तया
विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया
वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥
उदये मदवाच्यमुज्झता
श्रुतमाविष्कृतमात्मवत् त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे
पुनरक्लीवतया प्रकाश्यताम् ॥ ८४ ॥
रुदता कुतएव सा पुन-
र्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।

च्युतं शापनिवृत्तिकारणं सुरपुष्परूपम् उपलब्धवती विवशा अभूदिति शेषः इते-त्यर्थः ॥ ८२ ॥

तदिति । तत्तस्मात् तस्याः अपायचिन्तयालं तस्या मरणं न चिन्त्यमित्यर्थः । निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् चिन्तयेति तृतीया । कुतो न चिन्त्यमतआह उत्पत्तिमतां जन्मवतां विपद्विपत्तिरुपस्थिता सिद्धा जातस्य हि ध्रुवोमृत्युरित्यर्थः । तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन तत्राह त्वया इयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यतां पाल्यतां हि यस्मात् नृपाः वसुमत्या पृथिव्या कलत्रिणः कलत्रवन्तः अतो न शोचितव्य मित्यर्थः ॥ ८३ ॥

उदय इति । उदयेऽभ्युदये सति मदेन यद्वाच्यं निन्दा तदुज्झता परिहरता सत्यपि मदहेतावप्रमाद्यता त्वया यत् आत्मवत् अध्यात्मप्रचुरम् श्रुतं शास्त्रं तज्जनितं ज्ञानमिति यावत्, आविष्कृतं प्रकाशितं तत् श्रुतं मनसोज्वरे सन्तापे उपस्थिते प्राप्ते अक्लीवतया धैर्य्येण लिङ्गेन पुनः प्रकाश्यतां विदुषा सर्वास्ववस्थास्वपि धीरेण भवितव्यमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

इतोऽपि न रोदितव्यमित्याह

रुदतेति । रुदता भवता सा कुतएव लभ्यते न लभ्यत एव अनुम्रियत

परलोकजुषां स्वकर्म्मभि-
र्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥
अपशोकमनाः कुटुम्बिनी-
मनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं
दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥
मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्
यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥
अवगच्छति मूढचेतनः
प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।

इत्यनुसृत् क्विप् तेन अनुसृता अनुसृतवतापि भवता पुनः म लभ्यते । कथं न लभ्यते इत्याह परलोकजुषां लोकान्तरभाजां देहिनां गम्यन्त इति गतयोगस्य स्थानानि स्वकर्म्मभिः पूर्व्वाचरितपुण्यपापैः भिन्नपथाः पृथक्कृतमार्गाः हि । परत्रापि स्वस्वधर्म्मानुरूपफलभोगाय भिन्नदेहगमनान्न मृतेनापि लभ्यतइत्यर्थः॥८५॥

अपेति । किन्तु अपशोकमनाः निर्दुःखचित्तः सन् कुटुम्बिनीं पत्नीं निवापदत्तिभिः पिण्डोदकादिदानैः अनुगृह्णीष्व तर्पयेत्यर्थः अन्यथा दोषमाह अतिसन्ततमविच्छिन्नं स्वजनानां बन्धूनाम् । बन्धुस्वस्वजनाः समा इत्यमरः । अश्रु कर्त्तृ प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते किल । अत्र याज्ञवल्क्यः श्लेष्माश्रु बन्धुभिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्य्याः स्वशक्तितइति ॥८६॥

मरणमिति । शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः ध्रुवमित्यर्थः जीवितं विकृतिर्यादृच्छिकं बुधैरुच्यते एवं स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । श्वसन् जीवन् अवतिष्ठते यदि असौ क्षणजीवी लाभवान् ननु । जीवने यथालाभं सन्तोष्टव्यम् अलभ्यलाभात्, मरणे तु न शोचितव्यम् अस्य स्वाभाव्यादिति भावः ॥ ८७ ॥

अवेति । मूढचेतनोभ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाशं हृदि अर्पितं निखातं शल्यं शङ्कुमवगच्छति मन्यते, स्थिरधीर्विद्वांस्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते

स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते
कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि
श्रुतसंयोगविपर्य्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेत्
वद वाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं
वशिनामुत्तम ! गन्तुमर्हसि
द्रुमसानुमतां किमन्तरं
यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥

स तथेति विनेतुरुदारमतेः
प्रतिगृह्य वचो विससर्ज्ज मुनिम् ।

प्रियनाशे सतीति शेषः, कुतः कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायतयेत्यर्थः । विषयलाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानः पामराणां विपरीतन्तु विपश्चितामिति भावः ॥ ८८ ॥

स्वेति । स्वस्य शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ श्रुत्यवगतौ संयोगविपर्य्ययौ संयोगवियोगौ ययो स्तौ तथोक्तौ तदा वाह्यैर्विषयैः पुत्रकलत्रादिभिर्विरहोविपश्चितं विद्वांसं किमिवानुतापयेत् त्वं वद न किञ्चिदित्यर्थः । अथवा स्वशब्दस्य शरीरेणैव सम्बन्धः ॥ ८९ ॥

नेति । हे वशिनामुत्तम जितेन्द्रियवर्य्य पृथग्जनवत् शुचः शोकस्य वशं गन्तुं नार्हसि । तथाहि द्रुमसानुमतां तरुशिखरिणां किमन्तरं को विशेषः वायौ सति द्वितयेपि द्विप्रकारा अपि । प्रथमचरमेत्यादिना जसि विभाषया सर्व्वनामसंज्ञा । ते द्रुमसानुमन्तश्चला यदि सानुमतामपि चलने द्रुमवत्तेषामपि अचलसंज्ञा न स्यादित्यर्थः ॥ ९० ॥

स इति । 'सोऽजः उदारमतेर्विनेतुर्गुरोः वशिष्ठस्य वचः तच्छिष्यमुखेरितं तथेति प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य मुनिं वशिष्ठशिष्यं विससर्ज्ज प्रेषयामास । किन्तु तद्वचः शोकवने दुःखसान्द्रेऽस्य अजस्य हृदि अलब्धपदमप्राप्तावकाशं सद्गुरोर्वशिष्ठस्या-

तदलब्धपदं हृदि शोकघने
प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः॥ ८१ ॥
तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चित्
बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः
स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥ ८२ ॥
तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः
प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद ।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं
लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥ ८३ ॥
सम्यग्विनीतमथ वर्म्महरं कुमार-
मादिश्य रक्षणविधौ विधिवत् प्रजानाम् ।

न्तिकं प्रतियातमिव प्रतिनिवृत्तं किमु इत्युत्प्रेक्षा। तोटकवृत्तमेतत् । इह तोटक-मम्बुधिसैः प्रथितमिति तल्लक्षणम् ॥ ८१ ॥

तेनेति । अवितथं यथार्थं सूनृतं प्रियवचनं यस्य तेनाजेन सूनोः पुत्रस्य बालत्वाद्राज्याक्षमत्वादित्यर्थः प्रियायाः इन्दुमत्याः सादृश्यं वस्त्वन्तरगतमाकारसाम्यं प्रतिकृतिश्चित्रं तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणभङ्गुराः ये समागमोत्सवाः तैश्च कथञ्चित् कृच्छ्रेण अष्टौ समाः वत्सराः। संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समा इत्यमरः । परिगमिताः अतिवाहिताः । उक्तञ्च । वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म्म स्वपनसमये दर्शनमपि । तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोपि कथित इति । प्रकृते सादृश्यादित्रितयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम् । प्रहर्षिणी वृत्तमेतत् ॥८२॥

तस्येति । शोक एव शङ्कुः कीलः । शङ्कुः कीले शिवे चेति विश्वः । तस्याजस्य हृदयं प्लक्षप्ररोहः सौधतलमिव प्रसह्य बलात् किल बिभेद । सोऽजः प्राणान्तहेतुं मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुं रोगपर्य्यवसितं प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभं मेने तद्विरहस्यातिदुःसहत्वात् तत्प्रतिकारणं मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ८३ ॥

रोगोपसृष्टतनुदुर्व्वसतिं मुमुक्षुः
प्रायोपवेशनमतिर्न्नृपतिर्बभूव ॥ ८४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
र्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्व्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ८५ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
अजविलापोनाम अष्टमः सर्गः ।

सम्यगिति । अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसंस्काराभ्यां विनयवन्तं वर्म्म हरतीति वर्म्महरः कवचधारणार्हवयस्कः । वयसि चेत्यच्प्रत्ययः । तं कुमारं दशरथं प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हं यथाशास्त्रमित्यर्थः । तदर्हमिति वतिप्रत्ययः । आदिश्य नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया व्याप्तायास्तनोः शरीरस्य दुर्व्वसतिं दुःखावस्थितिं मुमुक्षुः जिहासुः सन् प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव । प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपीति विश्वः । अत्र पुराणवचनं समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्म्महदादिभिः । दुश्चिकित्स्यैर्म्महारोगैः पीड़ितो वा भवेत्तु यः । स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः । आब्रह्मणं वा स्वर्गादिमहाफलजिगीषया । प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्य्यादनशनं तथा । एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्व्वजन्तुषु । नराणामथ नारीणां सर्व्ववर्णेषु सर्व्वदेति । अनयोर्वसन्ततिलकाच्छन्दः तल्लक्षणम् उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौ ग इति ॥ ८४ ॥

तीर्थ इति । असावजो जह्नुकन्यासरय्वोस्तोयानां जलानां व्यतिकरेण सम्भेदेन भवे तीर्थे गङ्गासरयूसङ्गमे देहत्यागात् सद्य एवामरगणनायां लेख्यं लेखनम् । तयोरेव कृत्यल्युटो बहुलमिति भावार्थे ण्यत्प्रत्ययः । आसाद्य प्राप्य पूर्व्वस्मादाकारादधिकतरा रुक् यस्याः तया कान्तया रमण्या सङ्गतः सन् नन्दनस्य इन्द्रोद्यानस्य अभ्यन्तरेषु अन्तर्व्वर्त्तिषु लीलागारेषु क्रीड़ाभवनेषु पुनररमत । यथाकथञ्चित्तीर्थेऽस्मिन् देहत्यागं करोति यः । तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपीति स्कान्दे । मन्दाक्रान्ताच्छन्दः तल्लक्षणं मन्दाक्रान्ता जलधिषड़गैर्म्भौ भनौ तागुरू चेदिति ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायाम् अष्टमः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

नवमः सर्गः ।

पितुरनन्तरमुत्तरकोशलान्
समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो
यमवतामवताञ्च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्
प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततोगुणवत्तरं
सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

एकलोचनमेकार्द्धे सार्द्धलोचनमन्यतः ।
नीलार्द्धं नीलकण्ठार्द्धं महः किमपि मन्महे ॥

पितुरिति । समाधिना संयमेन जितेन्द्रियः । समाधिर्नियमे ध्याने इति कोषः । यमवतां संयमिनाम् अवतां रक्षतां च धुरि अग्रे स्थितो महारथः । एको दश सहस्राणि योधयेत् यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते । दशरथः पितुरनन्तरम् उत्तरकोशलान् जनपदान् समधिगम्य प्रशशास । अत्र मनुः । क्षत्त्रियस्य परो धर्म्मः प्रजानां परिपालनमिति । द्रुतविलम्बितमेतद्वृत्तं तल्लक्षणं द्रुतविलम्बितमाह नभौ भराविति ॥ १ ॥

अधिगतमिति । अधिगतं प्राप्तम् आत्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजनसहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्दयोगाद्गोवलीवर्दन्यायेन जानपदमात्रम् उच्यते । यद्दयस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपालयत् ततो हेतोः रन्ध्रं करोतीति रन्ध्रकरः रन्ध्रहेतु-

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः
समयवर्षितया कृतकर्म्मणाम् ।
बलनिषूदन-मर्थपतिञ्च तं
श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधा-
वभिभवः कुतएव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत् फलवत्यजनन्दने
शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा
श्रियमपुष्यदजेन ततःपरम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ
न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

रित्यर्थः कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्ये ष्विति टप्रत्ययः । नगस्य रन्ध्रकरः नगरन्ध्रकरः कुमारः । कुमारः क्रौञ्चदारण इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् तत् पौरजानपदमखण्डलं तस्मिन्नतीव सक्तमभूदित्यर्थः ॥२॥

उभयमिति । मनस ईषिणो मनीषिणो विद्वांसः । पृषोदरादित्वात् साधुः । बलनिषूदनं इन्द्रं दण्डस्य धरो राजा मनुरिति यो दण्डधरः स एवान्वयः कूटस्थो यस्य तमर्थपतिं दशरथं चेत्युभयमेव समयेऽवसरे जलं धनं च वर्षतीति समयवर्षी तस्य भावेन समयवर्षितया हेतुना कृतकर्म्मणां स्वकर्मकारिणां नुदतीति नुदम् । इगुपधज्ञाप्रीकिरः क इति कप्रत्ययः । श्रमस्य नुदं श्रमनुदम् । क्विबन्तत्वे नपुंसकलिङ्गेनोभयशब्देन सामानाधिकरण्यं न स्यादिति वदन्ति ॥३॥

जनपद इति । शमरते शान्तिपरे अमरतेजसि अजनन्दने दशरथे पार्थिवे पृथिव्याः ईश्वरे सति । तस्येश्वर इत्यण्प्रत्ययः । जनपदे देशे गदो व्याधिः । उपताप रोगव्याधिगदामया इत्यमरः । पदं नादधौ नाचक्रामेत्यर्थः सपत्नजः शत्रुजन्यः अभिभवः कुत एव असम्भावित एवेत्यर्थः क्षितिः फलवत्यभूच्च ॥४॥

दशेति । मही दशदिगन्तान् जितवानिति दशदिगन्तजित् तेन रघुणा यथा श्रियं कान्तिमपुष्यत् ततःपरं रघोरनन्तरम् अजेन च श्रियमपुष्यत् । तथैव

समतया वसुवृष्टिविसर्ज्जनै
र्नियमनादसताञ्च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ
सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं
न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना
प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे
न वितथा परिहासकथास्वपि ।

अहीनपराक्रमं न हीनः पराक्रमो यस्य तम् अन्यूनपराक्रमं तं दशरथम् दूनं स्वामिनम् अधिगम्य पुन र्न बभाविति न बभावेवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ५ ॥

समतयेति । नराधिपो दशरथः समतया समवर्त्तित्वेन मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः वसुवृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्ज्जनैः असतां दुष्टानां नियमनान्निग्रहाच्च सवरुणौ वरुणसहितौ यमपुण्यजनेश्वरौ यमकुवेरौ यमकुवेरवरुणान् यथासंख्यमनुययौ अनुचकार । रुचा तेजसा अरुणाग्रसरम् अरुणसारथिं सूर्य्यम् अनुययौ ॥ ६ ॥

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाणं तं दशरथं मृगयाभिरतिराखेटव्यसनं नापाहरत् नाचकर्ष । आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियामित्यमरः । दुष्ट-मा समन्तादुदरमस्येति दुरोदर द्यूतं न चापाहरत् । दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरमित्यमरः । शशिनः प्रतिमा प्रतिविम्बम् आभरणं यस्य तन्मधु नापाहरत् । नेति पदच्छेदः वाशब्दः समुच्चये । नवयौवना नवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तादृशी प्रियतमा स्त्री नापाहरत् । जातावेकवचनम् । अत्र मनुः । पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम् । एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे इति ॥ ७ ॥

नेति । तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा दीना वाक् नेरिता नोक्ता परिहासकथास्वपि वितथा अनृता वाक् नेरिता, किञ्च अपरुषा रोष-

न स सपत्नजनेष्वपि तेन वा-
गपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥
उदयमस्तमयञ्च रघूद्वहा-
दुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घ्यतामभूत्
सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्ज्जताम् ॥ ९ ॥
अजयदेकरथेन स मेदिनी-
मुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं
गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥
अवनिमेकरथेन वरूथिना
जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।

शून्येन तेन सपत्नजनेष्वपि परुषाक्षरं निष्ठुराक्षरं यथा तथा वाक् नेरिता किमुतान्यत्रेति । सर्व्वत्रापि शब्दार्थः । किन्त्वदीना सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितार्थः ॥ ८ ॥

उदयमिति । वसुधाधिपा राजानः उद्वहतीत्युद्वहो नायकः पचाद्यच् रघूणामुद्वहो रघुनायकस्तस्माद्रघुनायकात् उदयं वृद्धिम् अस्तमयं नाशं चेत्युभयमानशिरे लेभिरे । कुतः हि यस्मात् स दशरथो निदेशमाज्ञाम् अलङ्घ्यतां शोभनं हृदयमस्येति सुहृन्मित्रमभूत् । सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोरिति निपातः । प्रतिगर्जतां प्रतिस्पर्द्धिनाम् अय इव हृदयं यस्येति अयोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत् आज्ञाकारिणो रक्षति अन्यान्मारयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

अजयदिति । अधिज्यशरासनः स दशरथः उदधिनेमिं समुद्रवेष्टनाम् मेदिनीमेकरथेनाजयत् स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः । गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्राः जवाधिकाः हयाः यस्याः सा चमूस्तु अस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयत् अप्रथयत् । स्वयमेकवीरस्य चमूरुपकरणमात्रमिति भावः ॥ १० ॥

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिमिति सज्जनः । एकरथेन अवनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्मदः

विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा
घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥
शमितपक्षबलः शतकोटिना
शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां
स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥
चरणयोर्नखरागसमृद्धिभि-
र्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा
शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥
निववृते स महार्णवरोधसः
सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहा-
ननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥

कुबेरश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवाः मेघसमघोषाः अर्णवाः विजयदुन्दुभितां ययुः अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

शमितेति । पुरन्दरः इन्द्रः शतकोटिना शतास्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्व्वतानां शमितपक्षबलः विनाशितपक्षसारः नवतामरसाननः नवपङ्कजाननः । पङ्केरुहन्तामरसमित्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितः नाशितः पक्षः सहायो बलञ्च येन स तथोक्तः । पक्षः सहायोऽपीत्यमरः ॥ १२ ॥

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषं तं दशरथं मरुतो देवाः शतमखं यथा शतक्रतुमिव नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिः मुकुटरत्नमरीचिभिः चरणयोरस्पृशन् प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

निववृत इति । स दशरथः सचिवैः सम्प्रयोज्यैः कारिताः बालसुतानामञ्जलयो यैस्तान् स्वयमसम्मुखागतानित्यर्थः अनलकान् हृतभर्तृकतया अलकसंस्कारशून्यान् सपत्नपरिग्रहान् शत्रुपत्नीः । पत्नी परिजनादानमूलशापाः

उपगतोऽपि च मण्डलनाभिता-
मनुदितान्यसितातपवारणः ।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभू-
दनलसोऽनलसोमसमद्युतिः ॥ १५ ॥
तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं
पुरुषमात्मभवञ्च पतिव्रता ।

परिग्रहा इत्यमरः । समनुकम्प्यानुगृह्य अलकानवमाम् अलकानगरात् अन्यूनां पुरीमयोध्यां प्रति महार्णवानां रोधसः पर्य्यन्तान्निवर्त्तते । शरणागतवत्सल इति भावः ॥ १४ ॥

उपगत इति । अनुदितमनुच्छ्रितम् अन्यत् स्वच्छत्रातिरिक्तं सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं यस्य सः अनलसोमयोरग्निचन्द्रयोः समे द्युती तेजःकान्ती यस्य स तथोक्तः श्रियं लक्ष्मीं रन्ध्रे अन्यायालस्यादिरूपे छले चलां चञ्चलामवेक्ष्यावलोक्य । श्रीर्हि केनचिन्मिषेण पुमांसं परिहरति । स दशरथो मण्डलस्य नाभितां द्वादशराजमण्डलस्य प्रधानमहीपतित्वमुपगतोऽपि चक्रवर्त्ती सन्नपीत्यर्थः । अथ नाभिस्तु जन्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका । रथचक्रस्य मध्यस्थपिण्डिकायाञ्च ना पुनः । आद्यच्त्रियभेदे तु मनोर्मुख्यमहीपताविति केशवः । पाठान्तरे । अजितं न्वशास्त्समस्तीति बुद्ध्या अनलसोऽप्रमत्तोऽभूत् विजितनिखिलजेतव्योऽपि पुनर्जेतव्यान्तरयानिव जागरूक एवावातिष्ठतेत्यर्थः । द्वादशराजमण्डलन्तु कामन्दकेनोक्तम् । अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतःपरम् । तथारिमित्रमित्रञ्च विजिगीषोः पुरःसराः । पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः । अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः । अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे । मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः । अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानाञ्च वधे प्रभुरिति । अरिमित्रादयः पञ्च विजिगीषोः पुरःसराः, पार्ष्णिग्राहाक्रन्द पार्ष्णिग्राहासाराक्रन्दासारः इति पृष्ठतः चत्वारः, मध्यमोदासीनौ द्वौ, विजिगीषुरेक, इत्येवं द्वादशराजमण्डलम् । तत्रोदासीनमध्यमोत्तरश्चक्रवर्त्ती दशरथश्चैतादृगिति तात्पर्य्यार्थः ॥ १५ ॥

तमिति । पत्यौ व्रतं नियमो यस्याः सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽलाघवं लघुत्वरहितम् अपराङ्मुखमित्यर्थः ककुत्स्थकुलोद्भवं तं दशरथम् आत्मभवं पुरुषं विष्णुञ्च अपहाय त्यक्त्वा अन्यं कं नृपतिम-

नृपतिमन्यमसेवत देवता
सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥
तमलभन्त पतिं पतिदेवताः
शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोशलकेकयशासिनां
दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥
प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ
तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजाः
हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥
स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां
मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।

सेवत कमपि नासेवतेत्यर्थः । विष्णाविव विष्णुतुल्ये तस्मिन्नपि श्रीः स्थिराभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

तमिति । पतिरेव देवता यासां ताः पतिदेवताः पतिव्रताः मगधाश्च कोशलाश्च केकयाश्च तान् जनपदान् शासतीति तच्छासिनः तेषां राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः सुमित्राकौशल्याकैकेय्य इत्यर्थः । अत्र क्रमो न विवक्षितः । अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखातशरम् । कदम्बमार्गणशरा इत्यमरः । तं दशरथं शिखरिणां क्षमाभृतां दुहितरः, आसमन्तादपगच्छन्तीति अथवा आपेन अप्सम्बन्धिना वेगेन गच्छन्तीति आपगा इति क्षीरस्वामी । नद्यः सागरमिव, पतिं भर्तारमलभन्त प्रापुः ॥१७॥

प्रियतमाभिरिति । अरीन् घ्नन्तीति अरिहा रिपुघ्नाः । हन्तेः क्विप् ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विबिति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारःप्रायिकश्चायं नियमः क्वचिदन्यस्मिन्नप्युपपदे दृश्यते मधुहा, प्रायिकत्वञ्च वक्ष्यमाणस्य बहुलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षाल्लभ्यत इति तेषु योगेषूपायेषु विचक्षणः दक्षः । योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिष्वित्यमरः । इन्द्रेऽपि योज्यमेतत् । असौ दशरथः तिसृभिः प्रियतमाभिः सह, प्रजाः विनिनीषुर्विनेतुमिच्छुः तिसृभिः शक्तिभिः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिरेव सह भुवमुपगतो हरिहयः इन्द्र इव बभौ ॥ १८ ॥

स्वभुजवीर्य्यमगापयदुच्छ्रितं
सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥
क्रतुषु तेन विसर्ज्जितमौलिना
भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो
वितमसा तमसासरयूतटाः ॥ २० ॥
अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां
यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षिता-
मसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

सइति। महारथः स दशरथः संयुगमूर्द्ध्नि रणाङ्गने मघवतः इन्द्रस्य सहायतां प्रतिपद्य प्राप्य शरैरवधूतभयाः निवर्त्तितत्रासः सुरवधूः उच्छ्रितं स्वभुजवीर्य्यम् अगापयत् किल खलु। गायतेः शब्दकर्मत्वाद्गतिबुद्धीत्यादिना सुरवधूनामपि कर्म्मत्वम् ॥ १९ ॥

क्रतुष्विति। क्रतुष्वश्वमेधेषु विसर्ज्जितमौलिना अवरोपितकिरीटेन। यावद्यज्ञमध्वर्युरेव राजा भवतीति राजचिह्नत्यागविधानादित्यभिप्रायः। मौलिः कीरीटे धम्मिल्लइति विश्वः। भुजसमाहृतदिग्वसुना भुजार्ज्जितदिगन्तसम्पदा। अनेन क्षत्रियस्य विजितमित्युक्तम् नियमार्ज्जितधनत्वं सद्विनियोगकारित्वञ्च सूच्यते। वितमसा तमोगुणरहितेन तेन दशरथेन तमसा च सरयूश्च नद्यौ तयोस्तटाः कनकयूपानां समुच्छ्रयेण समुन्नमनेन शोभिनः कृताः। कनकमयत्वञ्च यूपानां शोभार्थं विध्यभावात्। हेमयूपस्तु शोभिकइति यादवः ॥ २० ॥

अजिनेति। ईश्वरोभगवान् अष्टमूर्त्तिः अजिनं कृष्णाजिनं दण्ड मौदुम्बरं विभर्त्तीति ताम् अजिनदण्डभृतं कृष्णाजिनं दीक्षयति औदुम्बरं दण्डं यजमानाय प्रयच्छतीति वचनात्। कुशमयी मेखला यस्यास्तां कुशमेखलां शरमयी मौञ्जी वा मेखला तया यजमानं दीक्षयतीति विधानात्। प्रकृते कुशग्रहणं क्वचित् प्रतिनिधिदर्शनात् कृतम्। यतगिरं वाचंयमां वाचं यच्छतीति श्रुतेः। मृगशृङ्गं परिग्रहः कण्डूयनसाधनं यस्यास्तां कृष्णविषाणया कण्डूयत इति श्रुतेः। अध्वर-

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः
सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं
वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना
हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो
रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

अथ समाववृते कुसुमैर्नवै-
स्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां
समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥

दीक्षितां संस्कारविशेषयुक्तां ततुं दाशरथीमधिवसन् अधितिष्ठन् सन् असमा भासा दीप्तयो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा अभासयत् भासयति स्म ॥ २१ ॥

अवभृथेति । अवभृथेन प्रयतोनियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः देवसभाधिष्ठानार्हः स दशरथः उन्नतं शिरो वनमुचे जलवर्षिणे । जलं नीरं वनमिति शाश्वतः । नमुचेररये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म न कस्मैचिदन्यस्मै मानुषायेत्यर्थः ॥ २२ ॥

असकृदिति । एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रसरेण धनुर्भृता दशरथेन असकृद्बहुशो दिनकरस्याभिमुखाः अभिमुखस्थिता इत्यर्थः रणरेणवः सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिताः ॥२३॥

अथेति । अथ यमकुवेरजलेश्वरवज्रिणां धर्म्मराजधनदवरुणामरेन्द्राणां समा धूर्भारो यस्य स समधुरः माध्यस्थवितरणसन्नियमनैश्वर्य्यैस्तुल्यकक्षइत्यर्थः । ऋक्पुरित्यादिना समासान्तः । तं समधुरम् अञ्चितविक्रमं पूजितपराक्रममेकनराधिपं तं दशरथं सेवितुमिव मधुर्वसन्तः । अथ पुष्परसे मधुः दैत्ये चैत्रे वसन्ते च मधुरिति विश्वः । नवैः कुसुमैरुपलक्षितः सन् समाववृते समागतः । रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं देवतां गुरुमिति वचनात् पुष्पसमेतो राजानं सेवितु सागतइत्यर्थः २४

जिगमिषुर्द्धनदाध्युषितां दिशं
रथयुजा परिवर्त्तितवाहनः।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहै-
र्विमलयन् मलयन्नगमत्यजत्॥ २५॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा-
स्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम्।
इति यथाक्रममाविरभून्मधु-
र्द्रुमवतीमवतीर्य्य वनस्थलीम्॥ २६॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः
सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां
कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः॥ २७॥

जिगमिषुरिति। धनदाध्युषितां कुवेराधिष्ठितां दिशं जिगमिषुः गन्तुमिच्छुः रथयुजा सारथिना अरुणेन परिवर्त्तितवाहनः निवर्त्तिताश्वोरविः हिमस्य निग्रहैः निराकरणैर्दिनमुखानि प्रभातानि विमलयन् विशदयन् मलयं नगं मलयाचलमत्यजत् दक्षिणां दिशमत्याक्षीदित्यर्थः॥ २५॥

कुसुमेति। आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः तदनु। अनुर्लक्षणे इति कर्म्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया। यथासंख्यं तदुभयानन्तरं षट्पदानां कोकिलानाञ्च कूजितमित्येवंप्रकारेण यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य द्रुमवतीं द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य्य मधुः वसन्तः आविरभूत्। केषाञ्चित् द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात् केषाञ्चित् कुसुमप्राथम्यान्नोक्तक्रमस्य दृष्टविरोधः॥ २६॥

नयेति। नयो नीतिरेव गुणः तेन अथवा नयेन गुणैः शौर्य्यादिभिश्च उपचिताम्। सताम् उपकारः फलं यस्यास्तां सदुपकारफलां भूपतेर्दशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्यक् पुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीम् पद्मिनीम् अलिनीरपतत्त्रिणः अलयो भृङ्गाः नीरपतत्त्रिणो जलपतत्त्रिणो हंसादयश्चाभिययुः॥ २७॥

कुसुममेव न केवलमार्त्तवं
नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां
मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ २८ ॥

विरचिता मधुनोपवनश्रिया-
मभिनवा इव पत्नविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः
कुरवका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥

सुवदनावदनासवसम्भृत-
स्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपै-
र्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया
मुकुलजालमशोभत किंशुके ।

कुसुममिति। ऋतुरस्य प्राप्तः आर्त्तवम्। ऋतेरणित्यण्। नवं प्रत्यग्रमशोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनम् उद्दीपनं न, किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनकः दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोपि पल्लवसन्तानोपि स्मरदीपनः अभवत् ॥ २८ ॥

विरचिता इति। मधुना वसन्तेन विरचिताः उपवनश्रियाम् अभिनवाः पत्नविशेषकाः पत्नरचना इव स्थिताः मधूनां मकरन्दानां दाने विशारदाः चतुराः कुरवकाः तरवो मधुलिहां मधुपानां रवकारणतां ययुः भृङ्गाः कुरवकाणां मधूनि पीत्वा जगुरित्यर्थः। दानशौण्डात् अर्थिजनास्तुदन्तीति भावः ॥ २९ ॥

सुवदनेति। सुवदनावदनासवेन कान्तामुखमद्येन सम्भृतो जनितः। तत्तस्य दोहदमिति प्रसिद्धिः। तस्यासवस्यानुवादी सदृशो गुणो यस्य तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः कर्त्ता मधुलोलुपैः आयतपङ्क्तिभिः दीर्घपङ्क्तिभिर्मधुकरैः मधुपैः करणैः बकुलं बकुलवृक्षम् आकुलमकरोत् ॥ ३० ॥

उपहितमिति। शिशिरापगमश्रिया वसन्तलक्ष्म्या किंशुके पलाशवृक्षे।

प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं
प्रमदया मदयार्पितलज्जया ॥ ३१ ॥
व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं
जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं
रविरलं विरलं कृतवान् हिमम् ॥ ३२ ॥
अभिनयान् परिचेतुमिवोद्यता
मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत् सहकारलता मनः
सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥
प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः
प्रविरलाइव मुग्धवधूकथाः ।

पलाशः किंशुकः पर्णइत्यमरः । उपहितं दत्तं मुकुलजालं कुड्मलसंहतिः, मदेन यापितलज्जया अपसारितत्रपया प्रमदया प्रणयिनि प्रियतमेव उपहितं नखक्षतमेव मण्डनं तदिव अशोभत ॥ ३१ ॥

व्रणेति । व्रणैर्दन्तक्षतैः गुरुभिर्दुर्भरैः प्रमदानामधरैरधरोष्ठैः दुःसहं हिमस्य व्यथाकरत्वादसह्यं जघनेषु निर्विषयीकृता मेखलानिरवकाशीकृतायेन तत् शैत्यात्त्याजितमेखलमित्यर्थः एवंभूतं हिमं रविस्तावदा वसन्तादशेषं निःशेषं यथा तथा अपोहितुं निरसितुं नालं खलु न शक्तो हि, किन्तु विरलं कृतवान् तनूचकार ॥ ३२ ॥

अभिनयानिति । अत्र चूतलताया नर्त्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयान् अर्थव्यञ्जकान् व्यापारान् । व्यञ्जकाभिनयौ समावित्यमरः । परिचेतुमभ्यसितुम् उद्यतेव स्थिता, यतः, मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तोगम्यते, सकलिका सकोरका । कलिका कोरकः पुमानित्यमरः । सहकारलता कलिः कलहोद्वेषउच्यते । कलिः स्यात् कलहे शूरे कलिरन्त्ययुगे युधीति विश्वः । कामो-रागः तज्जितामपि जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः मनोऽमदयत् ॥ ३३ ॥

प्रथममिति । सुरभिर्गन्धोयासां तासु सुरभिगन्धिषु । गन्धस्येतीकारः ।

सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः
कुसुमितासु मिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥
श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः
कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः
किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५ ॥
ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं
सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः
स्मरसखं रसखण्डनवर्ज्जितम् ॥ ३६ ॥
शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः
स्त्रियइव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।

कुसुमान्यासां सञ्जातानि कुसुमिताः तासु वनराजिषु वनपङ्क्तिषु अन्यभृताभिः कोकिलाभिः प्रथमं प्रारम्भेषूदीरिताः उक्ताः अतएव मिताः परिमिताः गिरः आलापाः प्रविरलाः मौग्ध्यात् स्तोकोक्ताः मुग्धवधूनां कथाः वाचइव शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ३४ ॥

श्रुतीति । श्रुतिसुखाः कर्णमधुराः भ्रमरस्वना एव गीतयो यासां ताः कुसुमान्येव कोमलादन्तरुचोदन्तकान्तयो यासां ताः अनेन सस्मितत्वं विवक्षितम् उपवनान्तलताः पवनेनाहतैः कम्पितैः किसलयैः सलयैः साभिनयैः । लयशब्देन लयानुगतोऽभिनयोलक्ष्यते उपवनान्ते पवमाहतैरिति सक्रियत्वाभिधानात् । पाणिभिरिव बभुः । अनेन लतानां नर्त्तकीसाम्यं गम्यते ॥ ३५ ॥

ललितेति । अङ्गनाः ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं मधुरविलासघटनापटुतरं सुरभिणा मनोहरेण गन्धेन पराजितकेसरं निर्ज्जितवकुलपुष्पम् । अथ केसरे वकुलइत्यमरः । स्मरस्य सखायं स्मरसखं स्मरोद्दीपकमित्यर्थः मधुं मद्यम् । अर्द्धर्च्चाः पुंसि चेति पुंलिङ्गता उक्ताश्च । मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्द्धर्च्चादिगणे पाठात् पुंनपुंसकयोर्मधुरिति । पतिषु विषये रसखण्डनवर्ज्जितम् अनुरागभङ्गरहितं यथातथा निर्विविशुः परस्परानुरागपूर्व्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

विकचतामरसा गृहदीर्घिकाः
मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७ ॥
उपययौ तनुतां मधुखण्डिता
हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं
वनितयानितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥
अपतुषारतया विषदप्रभैः
सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभि
र्हिमकरोमकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥
ऊतङ्कताग्रनदीप्त वनश्रियः
प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।

स्रस्तुभिरिति । विकचतामरसाः विकसितकमलाः मदेन कलाः अव्यक्तमधुरं ध्वनन्तः उदकलोलविहङ्गमाः जलप्रियपक्षिणोहंसादयो यासु ताः मदकलोदकलोलविहङ्गमाः गृहेषु दीर्घिकाः वाप्यः स्मितेन चारुतराणि आननानि यासां ताः स्रयाः शिञ्जिताः मुखरा मेखलाः यासां ताः । शिञ्जितेति कर्त्तरि क्तः । स्त्रिय इव स्रस्तुभिरे ॥ ३७ ॥

उपययाविति । मधुना मधुसमयेन खण्डिताह्रासं गमिता । चीयन्ते खलूत्तरायणे रात्रयः । खण्डिताख्या च नायिका ध्वन्यते । हिमकरोदयेन चन्द्रोदयेन पाण्डुमुखस्य प्रदोषस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्याः सा रजन्येव वधूः इष्टसमागमनिर्वृतिं प्रियसङ्गमसुखम् अनितया अप्राप्तया । इण्गतौ कर्त्तरि क्तः । वनितया सदृशं तुल्यं तनुतां न्यूनतां कार्श्यञ्चोपययौ ॥ ३८ ॥

अपेति । हिमकरश्चन्द्रः अपतुषारतया अपगतनीहारतया विषदप्रभैर्निर्मलकान्तिभिः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः सुरतसङ्गखेदहारिभिरंशुभिः किरणैः मकरोर्जितकेतनं मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तं लब्धावकाशत्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थः कुसुमचापं कामम् अतेजयत् । तिजनिशान इति धातोर्ण्यन्ताल्लङ् । सहकारिलाभात् कामोपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

युवतयः कुसुमं दधुराहितं
तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥
अलिभिरञ्जनविन्दुमनोहरैः
कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं
न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ ४१ ॥
अमदयन्मधुगन्धसनाथया
किसलयाधरसङ्गतया मनः ।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका
स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥
अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः
श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।

हुतेति । हुतहुताशनदीप्ति आज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभं यत् कुसुमं कर्णिकारमित्यर्थः वनश्रिय उपवनलक्ष्म्याः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिरभूदिति शेषः । दलेषु केसरेषु च मेखलं सुकुमारपत्र किञ्जल्कमित्यर्थः आहितं प्रियैरिति शेषः तत् कुसुमं युवतयो ऽलके दधुः ॥ ४० ॥

अलिभिरिति । अञ्जनविन्दुमनोहरैः कज्जलकणसुन्दरैः कुसुमपङ्क्तिषु निपतन्ति ये तैः अलिभिः अङ्कितः चिह्नितः तिलकः श्रीमान् नाम वृक्षः । तिलकः क्षुरकः श्रीमान् इत्यमरः । वनस्थलीं तिलको विशेषकः । तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयञ्च तुरीयञ्च न स्त्रियामित्यमरः । प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न खलु अपि तच्छोभयदेवेत्यर्थः । लट् स्मे इति स्मशब्दयोगात् भूतार्थे लट् ॥ ४१ ॥

अमदयदिति । तरुचारुविलासिनी तरोः पुंसश्च चारुविलासिनी नवमल्लिका सप्तलाख्या लता । सप्तला नवमल्लिकेत्यमरः । मधुनो मकरन्दस्य मद्यस्य च गन्धेन सनाथया गन्धप्रधानयेत्यर्थः किसलयमेवाधरस्तत्र सङ्गतया प्रसृतरागयेत्यर्थः कुसुमैः सम्भृतया सम्पादितया कुसुमरूपयेत्यर्थः स्मितरुचा हासकान्त्या मनः पश्यतामिति शेषः अमदयत् ॥ ४२ ॥

परभृताविरुतैश्च विलासिनः
स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ ४३ ॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणै-
रलिकदम्बकयोगमुपेयुषी ।
सदृशकान्तिरलच्यत मञ्जरी
तिलकजालकजालकमौक्तिकैः ॥ ४४ ॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतः
छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः ।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः
सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः ॥ ४५ ॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं
पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया ।

अरुणेति । विलासिनोविलसनशीलाः पुरुषाः । वौकषलसेत्यादिना विनुणप्रत्ययः । अरुणस्यानूरोः रागमारुण्यं निषेधन्ति तिरस्कुर्वन्तीति अरुणरागनिषेधिनः तैः कुसुम्भादिरञ्जनात् तत्सदृशैरित्यर्थः । तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलन्निषेधति । तस्यैवानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाइति दण्डी । अंशुकैरम्बरैः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः निवेशितैरित्यर्थः यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैः कोकिलाकूजितैः चैत्यैतैः स्मरबलैः कामसैन्यैः अबलास्वेकएव रसोरागोयेषां ते अबलैकरसाः स्त्रीपरतन्त्राः कृताः ॥ ४३ ॥

उपचितेति । शुचिभिः शुभ्रैः कणैरजोभिरुपचितावयवा पुष्टावयवा अलिकदम्बकयोगम् उपेयुषी प्राप्ता तिलकजा तिलकवृक्षोत्था मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभरणविशेषः तस्मिन् मौक्तिकैः सदृशकान्तिरलच्यत । भृङ्गसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्त मुक्ताजालमिवालच्यतेति वाक्यार्थः ॥ ४४ ॥

ध्वजेति । अलिव्रजाः षट्पदनिवहाः धनुर्भृतोधानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपटं पताका तम् ऋतुश्रियोवसन्तलक्ष्म्याः छविकरं शोभाकरं मुखचूर्णभूतं सपवनोमवनोत्थितं सपवनं पवनेन सहितं यदुपवनं तस्मिन्नुत्थितं कुसुमानां केसरेषु किञ्जल्केषु यो रेणुः तमन्वयुः अन्वगच्छन् । यातेर्लङ् ॥ ४५ ॥

अनयदासनरज्जुपरिग्रहे
भुजलतां जड़तामबलाजनः ॥ ४६ ॥
त्यजत मानमलं बत विग्रहै
र्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते
स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ४७ ॥
अथ यथासुखमार्त्तवमुत्सवं
समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं
स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥ ४८ ॥
परिचयं चललक्ष्यनिपातने
भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।

अनुभवन्निति । नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिन् तं नवदोलमृतूत्सवम् अनुभवन्नबलाजनः पटुरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य जिघृक्षया ग्रहीतुमालिङ्गितुमिच्छया आसनरज्जुपरिग्रहे पीठरज्जुग्रहणे भुजलतां बाहुलतां जड़तां शैथिल्यं डलयोरभेदः अनयत् दोलाक्रीड़ासु पतनभयनाटितकेन प्रियकण्ठमाश्लिष्यदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

त्यजतेति । बतेत्यामन्त्रणे । खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बतेत्यमरः । बत अङ्गनाः मानं कोपं त्यजत । तदुक्तं स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपोमानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये इति । विग्रहैर्विरोधैरलं विग्रहेण कार्य्यं इत्यर्थः गतमतीतं चतुरमुपभोगक्षमं वयोयौवनं पुनर्नैति नागच्छतीत्येवंरूपे स्मरमते स्मराभिप्राये । नपुंसके भावेक्तः । परभृताभिःकोकिलाभिः निवेदिते सति वधूजनोरमते स्म रेमे कोकिलाकूजितोद्दीपितस्मरः स्त्रीजनः कामशासनभयादिवोच्छृङ्खलमखेलदित्यर्थः ॥४७॥

अथेति । अथानन्तरं मधुं मथ्नातीति मधुमत् विष्णुः । सम्पदादित्वात् क्विप् । मधुर्वसन्तः मथ्नातीति मथः । पचाद्यच् । मनसो मथः मन्मथः तेषां सन्निभः सदृशः मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः स नरपतिः दशरथो विलासवतीसखः स्त्रीसहचरः सन् ऋतुः प्राप्तोऽस्यार्त्तवः तमुत्सवं वसन्तोत्सवं यथासुखं समनुभूय मृगयारतिं मृगयाविहारं चकमे आचकाङ्क्ष ॥ ४८ ॥

श्रमजयात् प्रगुणाञ्च करोत्यसौ
तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४९ ॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृत्
विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभि
र्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया
तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो
विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

व्यसनासङ्गदोषं परिहरन्नाह

परिचयमिति । असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयम् अभ्यासं करोति । भयरुषोर्भयक्रोधयोः तदिङ्गितबोधनं तेषां चललक्ष्याणामिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधनं ज्ञानञ्च करोति । तनुं शरीरं श्रमस्य जयात् निरासात् प्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवतीं च करोति । अतोहेतोः सचिवैरनुमतोऽनुमोदितः सन् ययौ । सर्व्वञ्चैतद्युद्धोपयोगीत्यतः तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्ति र्नतु व्यसनितयेति भावः ॥ ४९ ॥

मृगेति । मृगाणां वनं तस्योपगमः प्राप्तिः तस्य क्षममर्हं वेषं बिभर्त्तीति स तथोक्तः मृगयाविहारार्हवेषधारीत्यर्थः । विपुलकण्ठे निषक्तशरासनो लग्नधन्वा ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठः । उपमितसमासः । स राजा अश्वखुरोद्धतरेणुभिः गगनं वितानं तुच्छम् असदिवाकरोत् गगनं नालक्ष्यतेत्यर्थः । वितानं तुच्छमन्दयोरिति विश्वः । अथवा सवितानमित्येकं पदं सवितानमुल्लोचसहित मिवाकरोत् । अस्त्री वितानमुल्लोच इत्यमरः ॥ ५० ॥

ग्रथितेति । वनमालया वनपुष्पस्रजा ग्रथितमौलिः बद्धधम्मिल्लः तरूणां पलाशैः पत्रैः सवर्णः समानः तनुच्छदो वर्म्म यस्य स तथोक्तः इदं वर्म्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगादीनां विश्वासार्थम् । तुरगस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृग विशेषैः चेष्टिताः चरिता या भूमयस्तासु विरुरुचे विदिद्युते ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहाः
भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः
सुनयनं नयनन्दितकोशलम् ॥ ५२ ॥
श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं
व्यपगतानलदस्यु विवेश सः।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवत्
मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥
अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं
कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम्।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे
नरवरो रवरोषितकेशरी ॥ ५४ ॥

तन्विति। तनुषु लतासु विनिवेशितविग्रहाः संक्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृग्व्यापाराः यासां ताः वनदेवताः सुनयनं सुलोचनं नयेन नीत्या नन्दितास्तोषिताः कोशलाः येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः। प्रसन्नपावनतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या ददृशुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्वगणीति। स दशरथः शुनां गणः स एषामस्तीति श्वगणिनः श्वग्राहिणः तैः वागुरा मृगबन्धनरज्जुः। वागुरा मृगबन्धनीत्यमरः। तया चरन्तीति वागुरिकाः जालिकाः। चरतीति ठक प्रत्ययः। द्वौ वागुरिकजालिकावित्यमरः। तैश्च प्रथममास्थितम् अधिष्ठितं व्यपगता अनला दावाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात् तथोक्तम्। दस्युतस्करमोषकाइत्यमरः। कारयेद्वनविशोधनमादौ मातरन्तिकमपि प्रविविक्षुः। आप्तशस्त्रभृदनुगतः प्रविशेद्वा सङ्कटे च गहने न च तिष्ठेदिति कामन्दकः। स्थिरा दृढ़ा पङ्कादिरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत् निपानवत् आहावयुक्तम्। आहावस्तु निपानं स्यादुपकूप-जलाशये इत्यमरः। मृगैर्हरिणादिभिः वयोभिः पक्षिभिः गवयैः गोसदृशैः अरण्यपशुविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ५३ ॥

अथेति। अथ अनाधिः मनोव्यथारहितः नरवरः नरश्रेष्ठः रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिताः केशरिणः सिंहाः येन सः राजा कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गोय स्तडि-

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावै-
र्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां
यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तत् प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा
तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातै-
र्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।

देव गुणो मौर्वी तेन संयुतं त्रिदशायुध मिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव । स्यु-र्नभस्याः प्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समा इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीकं धनुरुपाददे जग्राह ॥ ५४ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिः एणशावैर्हरिणशिशुभिः । पृथुकः शावकः शिशुरित्यमरः । मुहुर्व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गति र्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत् कुशगर्भमुखम् तस्य यूथस्य अग्रेसरः पुरःसरो गर्वितः दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत् मृगाणां यूथं कुलम् । सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुन्नपुंसक मित्यमरः। तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ५५ ॥

तदिति । जवनोजवशीलः । जुचङ्क्रम्येत्यादिना युच्प्रत्ययः । तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जव इत्यमरः । तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन तूण इषुधिः । बाह्वादिभ्यश्चेति स्त्रियां ङीप् । तस्यामुखात् विवरात् उद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितम् अभियातम् । याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैरिति केशवः अतएव विशीर्णा पङ्क्तिः सङ्घीभावो यस्य तत् मृगयूथं कर्तृ आर्द्रैर्भयादश्रुसिक्तैः आकुला भयचकिता ये दृष्टिपाता स्तैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैः पवनकम्पितेन्दीवरदलवृन्दैरिव वनं श्यामीचकार ॥ ५६ ॥

लक्ष्यीकृतेति । हरिरिन्द्रः विष्णुर्वा तस्येव प्रभावः सामर्थ्यं यस्य सः तथोक्तः धन्वी धनुष्मान् स नृपः । लक्ष्यीकृतस्य वेद्धुमिष्टस्य हरिणस्य स्वप्रेयसोदेहं व्यवधायानुरागादन्तर्धाय स्थितां सह चरतीति सहचरी । पचादिषु चरतेः टित् कर-

आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी
बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥ ५७ ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान् मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निविडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यात्
मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम् ।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं
सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः ॥ ५९ ॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीष-
द्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः ।

णात् ङीं । यथाह वामनः अनुचरीति चरेष्टित्वात् इति । तां सहचरीं हरिणीं प्रेक्ष्य कामितया स्वयं कामुकत्वात् कृपामृदुमनाः करुणार्द्रचित्तः सन् आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहरमपीत्यर्थः बाणं प्रतिसंजहार नैपुण्यादित्यर्थः । नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते ॥ ५७ ॥

तस्येति । त्रासाद्भयादतिमात्रचटुलैः अत्यन्तचञ्चलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि प्रगल्भकान्ताविलोचनविलासव्यापारान् सादृश्यात् स्मरतः अपरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोर्मोक्तुमिच्छोः तस्य नृपस्य निविडोऽदृढोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य बिभिदे स्वयमेव भिद्यते स्म । भिदेः कर्म्मकर्त्तरि लिट् । कामिनस्तस्य प्रियाविभ्रमस्मृतिजनितकृपातिरेकात् मुष्टिभेदो न त्वनैपुण्यादिति तात्पर्य्यार्थः ॥५८॥

उत्तस्थुष इति । सन्नृपः मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवलाः ग्रासाः तेषामवयवैः श्मवित्यक्तमुखभ्रंशिभिः शकलैरनुकीर्णं व्याप्तम् आयताभिर्दीर्घाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तं सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुषः उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूथस्य मार्गं जग्राह अनुससार ॥ ५९ ॥

तमिति । वराहाः वाहनादश्वादीषदवनतोत्तरकायं किञ्चिदानतपूर्व्वकायं विध्यन्तं प्रहरन्तं तं नृपम् उद्धृतसटाः ऊर्द्ध्वकेशराः सन्तः । सटा जटाकेशरयोरिति केशवः । प्रतिहन्तुमीषुः प्रतिहर्त्तुमैच्छन् अस्त्रेषुभिः सहसा जघनानामाभ्र-

नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहाः
वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु ॥ ६० ॥
तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री
वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्ख-
स्तं पातयाम्प्रथममास पपात पश्चात् ॥ ६१ ॥
प्रायोविषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्
खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषा-
मत्युच्छ्रितं न ममृषे नतु दीर्घमायुः ॥ ६२ ॥
व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान् गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान्।

येषु अवष्टम्भेषु विद्धमात्मानं न विविदुः। एतेन वराहाणां मनस्वित्वं नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम् ॥ ६० ॥

तेनेति। अभिघाते रभसः औत्सुक्यं यस्य तस्याभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थः। वन्यस्य वने भवस्य महिषस्य नेत्रविवरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्य मुक्तः पत्री शरः विग्रहं महिषदेहं निर्भिद्य विदार्य्य शोणितलिप्तो न भवतीति अशोणितलिप्तः पुङ्खो यस्य स तथोक्तः सन् तं महिषं प्रथमं पातयामास स्वयं पश्चात् पपात। कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटीत्यत्र अनुशब्दस्य व्यवहितविपर्य्यस्तप्रयोगनिवृत्त्यर्थत्वात् पातयांप्रथममासेत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः। यथाह वार्त्तिककारः विपर्य्यासनिवृत्त्यर्थं व्यवहितनिवृत्त्यर्थञ्च इति ॥ ६१ ॥

प्राय इति। नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः शरविशेषैः खड्गान् खड्गाख्यान् मृगान् गण्डके खड्गखड्गिनावित्यमरः। प्रायोबाहुल्ये न विषाणपरिमोक्षेण शृङ्गभङ्गेन लघून्यगुरूणि उत्तमाङ्गानि शिरांसि येषां तांश्चकार नत्ववधीदित्यर्थः कुतः दृप्तविनयाधिकृतः दुष्टनिग्रहनियुक्तः स राजा परेषां प्रतिकूलानां अत्युच्छ्रितं शृङ्गं विषाणं प्राधान्यञ्च। शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्चेत्यमरः। न ममृषे न सेहे दीर्घमायुर्जीवितकालम्। आयुर्जीवितकालोनेत्यमरः। न ममृषे इति न किन्तु ममृषे एवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषात्
तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥
निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनान् जिघांसु
र्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभू-
द्वीर्य्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥
तान् हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्
काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्म्मणां गजाना-
मानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥ ६५ ॥

व्याघ्रानिति । अभीर्निर्भीकः स धन्वी गुहाभ्योऽभिमुखमुत्पतितान् वायुना रुग्णान् भग्नान् फुल्लाः विकसिताः । अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघा इति निष्ठातकारस्य लत्वनिपातः । ये असनस्य सर्ज्जवृक्षस्य । सर्ज्जकासनबन्धूक-पुष्पप्रियकजीवका इत्यमरः । अग्र विटपास्तानिव स्थितान् व्याघ्राणां चित्ररूप-त्वात् उपमाने फुल्लविशेषणम् । शरैः पूरितानि वक्त्ररन्ध्राणि येषां तान् व्याघ्रान् शिक्षाविशेषेण अभ्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात् तूणी-चकार तूणं शरैः पूरितवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

निर्घातेति । कुञ्जेषु लीनान् । निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीवे लतादिपिहितोदरे इत्यमरः । सिंहान् जिघांसुः हन्तुमिच्छुः निर्घातो व्योमोत्थितः औत्पातिकः शब्दविशेषः तद्वदुग्रैः रौद्रैः ज्यानिर्घोषैः मौर्व्वीशब्दैः क्षोभयामास । अत्रोत्प्रेक्षते तेषां सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्य्येणोदग्रे उन्नते मृगेषु विषये योराजशब्दस्तस्मिन् अभ्यसूयापरोऽभूत् नूनम् अन्यथा कथमेतानन्विष्य हन्यादित्यर्थः । मृगाणामिति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्राजशब्देन सम्बन्धोदुर्घटः । शालिनीवृत्तम् । शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैरिति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

तानिति । काकुत्स्थोदशरथः गजकुलेषु बद्धं तीव्रं वैरं यैः तान् कुटि-लेषु नखाग्रेषु लग्ना मुक्ता गजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान् तान् सिंहान् हत्वा आत्मानं रणेषु कृतकर्म्मणां कृतोपकाराणां गजानामानृण्यम् अनृणत्वं मार्गणैः शरैः । मार्गणोयाचके शरइति विश्वः । गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ॥ ६५ ॥

चमरान् परितः प्रवर्त्तिताश्वः
क्वचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान् वियोज्य सद्यः
सितबालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं वाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥ ६७ ॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं
स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो
भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः
सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।

चमरानिति । क्वचिच्चमरान् परितः । अभितः समयेत्यादिना द्वितीया । प्रवर्त्तिताश्वः प्रधाविताश्वः आकर्णविकृष्टभल्लानिषुविशेषान् वर्षतीति तथोक्तः स नृपो नृपतीनिव तांश्चमरान् सितवालव्यजनैः शुभ्रचामरैः वियोज्य विरहय्य सद्यः शान्तिं जगाम । शूराणां परकीयमैश्वर्य्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

अपीति । स नृपः तुरगसमीपात् उत्पतन्तमपि सुप्रहारमपीत्यर्थः रुचिरकलापं भासुरबर्हं मह्यां रौतीति मयूरो बर्ही तम् । पृषोदरादित्वात् साधु । चित्रेण माल्येनानुकीर्णे रतौ विगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः प्रवृत्तचित्तः । उरःप्रभृतिभ्यः कप् इति कप्प्रत्ययः । न वाणलक्ष्यीचकार न प्रजहारेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तस्येति । कर्कशविहारादतिव्यायामात् सम्भवो यस्य तमानने विलग्नजालकं बद्धकदम्बकं तस्य नृपस्य स्वेदं सतुषारशीकरः शिशिराम्बुकणसहितः भिन्ना निर्दलिताः पल्लवानां पुटाः कोशाः येन सः वनानिलः आचचाम जहारेत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तमेतत् ॥ ६८ ॥

परिहृत्तरागमनुबन्धसेवया
मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥
स ललितकुसुमप्रवालशय्यां
ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव
क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥
उषसि स गजयूथकर्णतालैः
पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्
विहगविकूजितवन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥
अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा
विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।

इतीति। इति पूर्व्वोक्तप्रकारेण आत्मनोविस्मृतमन्यत् करणीयं कार्य्यं येन तं विस्मृतात्मकार्य्यान्तरमित्यर्थः सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्य्यस्य तम्। ऋक्पूर-ब्धूःपथामानक्षइति समासान्तः अच्प्रत्ययः। अनुबन्धसेवया सन्ततसेवया परि-वृद्धो रागो यस्य तं धराधिपं मृग्यन्ते यस्यां मृगादिति मृगया। मृगयादीनामु-पसंख्यानमिति शप्रत्ययान्तो निपातः। चतुरा विदग्धा कामिनीव जहार आच-कर्ष। न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धत इति भावः ॥ ६९ ॥

सइति। स नरपतिः ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां तां ज्वलिताभिर्महौषधिभिरेव दीपिकाभिः सनाथां तत्प्रधानामित्यर्थः। त्रियामां रात्रिं क्वचिदसमेतपरिच्छदः परिहृतपरिजनः सन्नित्यर्थः अतिवाहयाम्बभूव गम-यामास। पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ७० ॥

उषसीति। उषसि प्रातः पटूनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैः गजयूथानां कर्णैरेव तालैः वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां विकूजितान्येव वन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत ॥ ७१ ॥

अथेति। अथ जातु कदाचित् रुरोः मृगस्य गृहीतवर्त्मा स्वीकृतरुरु-

श्रमफेनमुचा तपस्विगाढ़ां
तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ ७२ ॥
कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चै-
रुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की
शब्दपातिनमिषुं विससर्ज्ज ॥ ७३ ॥
नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्
कृतवान् पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि
श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥
हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषस्स-
स्तस्यान्विष्यन् वेतसगूढं प्रभवं सः ।

मार्गो विपिने वने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणस्तुरगवेगादित्यर्थः श्रमेण फेनमुचा सफेनं खिद्यतेत्यर्थः तुरङ्गमेण तपस्विभिर्गाढ़ां सेवितां तमसां नाम नदीं प्राप ॥ ७२ ॥

कुम्भेति । तस्यास्तमसायाः अम्भसि कुम्भपूरणेन भवः उत्पन्नः । पचाद्यच् । पटुर्मधुरः उच्चैर्गम्भीरः निनदोध्वनिरुच्चचार उदियाय तत्र निनदे स नृपः द्विरदबृंहितं शङ्कतइति द्विरदबृंहितशङ्की सन् शब्देन शब्दानुसारेण पततीति शब्दपातिनमिषुं विससर्ज्ज । स्वागता वृत्तम् ॥ ७३ ॥

नृपतेरिति । तत्कर्म्म नृपतेः क्षत्रियस्य प्रतिषिद्धमेव यदेतत् कर्म्म गजवधरूपं पङ्क्तिरथोदशरथः विलङ्घ्य, लक्ष्मीकामोयुद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्य्यादिति शास्त्रमुल्लङ्घ्य, कृतवान् । ननु विदुषस्तस्य कथमीदृग्विचेष्टितम् अतआह, अपथइति । श्रुतवन्तोपि विद्वांसोपि रजोनिमीलिता रजोगुणावृताः सन्तः न पन्था इत्यपथम् । पथो विभाषेति समासान्तः । अपथं नपुंसकमिति नपुंसकत्वम् । अपन्थास्त्वपथं तुल्यमित्यमरः । तस्मिन्नपथे अमार्गे पदमर्पयन्ति निक्षिपन्ति हि प्रवर्त्तन्त इत्यर्थः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

हा तातेति । हेत्यार्त्तौ । तातोजनकः । हा विषादशुगर्त्तिषु, तातस्तु जनकः पितेति चामरः । हा तातेति क्रन्दितं क्रोशनमाकर्ण्य विषस्सोभग्नोत्साहः सन् तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढ़ं छन्नं प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणं तमन्विष्यन् शल्येन शरेण

शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं
तापादन्तःशल्य इवासीत् क्षितिपोऽपि ॥ ७५ ॥
तेनावतीर्य्य तुरगात् प्रथितान्वयेन
पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः ।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भि-
रात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥
तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव
पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय ।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्र-
मज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥

प्रोतं स्यूतम् । शल्यं शङ्कौ शरे वंशदति विश्वः । सकुम्भं मुनिपुत्रं प्रेक्ष्य क्षितिपोऽपि तापात् दुःखात् अन्तः शल्यं यस्य सोऽन्तःशल्यइवासीत् । मत्तमयूरं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

तेनेति । प्रथितान्वयेन प्रख्यातवंशेन । एतेन पापभीरुत्वं सूचितम् । तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य्य पृष्टान्वयः ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः जलकुम्भनिषण्ण-देहः स मुनिपुत्रः तस्मै राज्ञे स्खलद्भिरशक्तिवशादर्द्धोच्चरितैरित्यर्थः अक्षरपदैः आत्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च तं द्विजेतरतपस्विसुतं कथयाम्बभूव । न तावत्त्वं वणिकएवाहमस्मि किन्तु करणः । वैश्यात्तु करणः शूद्रायामिति याज्ञ-वल्क्यः । कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः । तथा च रामायणे ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदया दपनीयताम् । न द्विजातिरहं राजन् मा भूत्ते मनसो व्यथा । शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिपेति ॥ ७६ ॥

तदिति । तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृपतिः अनुद्धृतशल्यम् अनुत्पाटितशरमेव तं मुनिपुत्रम् अवसन्नदृशोर्नष्टदृशोरन्धयोरि-त्यर्थः पित्रोर्मातापित्रोः । पिता मात्रेत्येकशेषः । सकाशं समीपं निनाय । इदञ्च रामायणविरुद्धम् । तत्र अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ । अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्य्ययेति नदीतीरएव मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरानयनाभिधानात् । तथागतं वेतसगूढ़म् एकश्चासौ पुत्रश्च एकपुत्रस्तम् । एक ग्रहणं पित्रोरनन्यगति-कत्वसूचनार्थम् । उपेत्य सन्निकृष्य अज्ञानतः करिभ्रान्त्या स्वचरितं स्वकृतं ताभ्यां मातापितृभ्याम् । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । शशंस कथितवान् ॥ ७७ ॥

तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्ता
शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत् परासुरथ भूमिपतिं शशाप
हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥ ७८ ॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्व्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोशलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
वीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥

ताविति । तौ जाया च पतिश्च दम्पती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च विकल्पेन निपातितः । दम्पती जम्पती जायापती भार्य्यापती च तावित्यमरः । बहु विलप्य भूरि परिदेव्य । विलापः परिदेवनमित्यमरः । शिशोः उरस्तो वक्षसः । पञ्चम्यास्तसिल् । निखातं शल्यं शरं प्रहर्त्ता राज्ञा उदहारयताम् उद्धारयामासतुः, स शिशुः परासुर्गतप्राणोऽभूत्, अथ वृद्धः हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव शापदानस्य जलपूर्व्वकत्वात्तैरेव भूमिपतिं शशाप ॥ ७८ ॥

दिष्टेति । हे राजन् भवानप्यन्त्ये वयसि अहमिव पुत्रशोकात् दिष्टान्तं कालावसानं मरणमित्यर्थः । दिष्टः काले च दैवे स्यादिति विश्वः । आप्स्यति प्राप्स्यति इत्युक्तवन्तम् । आक्रान्तः पादाहतः पूर्वं आक्रान्तपूर्वः । सुप्सुपेति समासः । तं प्रथमसपकृतमित्यर्थः मुक्तविषमपकारात् पश्चादुत्सृष्टविषं भुजङ्गमिव स्थितं तं वृद्धं प्रति प्रथमापराद्धः प्रथमापराधी कर्त्तरि क्तः । इदञ्च सहने कारण मुक्तम् । कोशलपतिः दशरथः शापदानात् पश्चादप्येनं मुनिं प्रोवाच ॥७९॥

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातितः । वज्रप्रायत्वात् पातितइत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकात् म्रियस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरन्तरीयकत्वात् सोपकारएव ।

इत्यङ्गते गतघृणः किमयं विधत्तां
वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान् हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे
पुत्त्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥ ८१ ॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं
शापं दधज्ज्वलनमौर्व्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
मृगयावर्णनोनाम नवमः सर्गः ।

निग्रहस्याप्यनुग्राहकत्वम् अर्थान्तरन्यासेनाह कृष्यामिति । इध्मैः काष्ठैरिद्धः प्रज्वलितोऽग्निः कृष्यां कर्षणार्हां चितिं दहन्नपि वीजप्ररोहाणां वीजाङ्कुराणां जननीम् उत्पादनक्षमां करोति ॥ ८० ॥

इत्यमिति । इत्यङ्गते प्रवृत्ते सति वसुधाधिपेन राज्ञा, गतघृणः निष्करुणो हन्तृत्वान्निष्कृपइत्यर्थः अतएव तव बध्यो बधार्हः अयं जनः । अयमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देशः । किं विधत्ताम् इत्यभिहितः मया किंविधेयमिति विज्ञापितइत्यर्थः स मुनिः सदारः सभार्य्यः परासुङ्गतासुं पुत्रम् अनुगन्तुं मनो यस्य सोऽनुगन्तुमनाः सन् । तुंकाममनसोरपीति मकारलोपः । हुताशनवतः साग्नीन् एधान् काष्ठानि ययाचे । न चात्रात्मघातदोषः अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्य्यतः । भृग्वग्निजलसङ्घातैर्मरणं प्रविधीयतइत्युक्तेः ॥ ८१ ॥

प्राप्तेति । प्राप्तानुगः प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः शासनं काष्ठसम्भरणरूपं प्राक् एकोपि सम्प्रति प्राप्तानुचरत्वात् सम्पाद्य पातकेन मुनिवधरूपेण विलुप्तधृतिः नष्टोत्साहः सन् अन्तर्निविष्टपदमन्तर्लब्धस्थानम् आत्मविनाशहेतुं शापम् अम्बुराशिरौर्व्वं ज्वलनं वड़वानलमिव । और्व्वस्तु वाड़वोवड़वानलइत्यमरः । दधत् धृतवान् सन् निवृत्तः वनादिति शेषः ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनी समाख्यायां नवमः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

दशमः सर्गः ।

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किञ्चिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥
न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥
अतिष्ठत् प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

आशंसे नित्यमानन्दं रामनामकथामृतम् ।
सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्यं पेयं पापं प्रणोदितम् ॥

पृथिवीमिति । पृथिवीं शासतः पालयतः पाकशासनतेजसः इन्द्रवर्चसः अनूनर्द्धेर्महासमृद्धेस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनम् ईषन्न्यूनं शरदां वत्सराणाम्। स्यादृतौ वत्सरे शरदित्यमरः । अयुतं दश सहस्रं ययौ । एकदशशतसहस्राण्ययुतं नियुतं तथा प्रयुतम् । कोट्यर्बुदञ्च पद्मं स्थानात् स्थानं दशगुणं स्यादित्यार्यभट्टः। इदञ्च मुनिशापात् परं वेदितव्यं नतु जननात् । षष्ठिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक । दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसीति रामायण विरोधात्। नाप्यभिषेकात्परं तस्यापि सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत् प्रजानामिति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात् स एव विरोध इति ॥ १ ॥

न चेति । स दशरथः पूर्व्वेषां पितृणाम् ऋणनिर्मोक्षसाधनम् एष वा अनृणोयः पुत्रीति श्रुतेः पितृणामृणविमुक्तिकारणं सद्यः शोकएव तमः तदपहन्तीति शोकतमोपहम् । अत्राभयङ्करइतिवदुपपदेपि तदन्तविधिमाश्रित्य अपे क्लेशतमसोरिति डप्रत्ययः । सुताभिधानं सुताख्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप च ॥ २ ॥

अतिष्ठदिति । प्रत्ययं हेतुमपेक्षतेइति प्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्तः ।

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्त्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥
तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम् ।
अभिजग्मुर्निदाघार्त्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥
ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः ।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्य्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥
भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुष्वित्यमरः । स नृपो मन्थात् प्राक् मन्थनात् पूर्व्वमनभिव्यक्ता अदृष्टा रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णवइव चिरम् अतिष्ठत् । सामग्र्यभावाद्विलम्बो नतु बन्ध्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गेति । ऋष्यशृङ्गादयः ऋष्यशृङ्गोनाम कश्चिदृषिः तदादयः ऋतुस्तौ वा यजन्तीति ऋत्विजः याज्ञिकाः । ऋत्विग्दधृगित्यादिना क्विबन्तो निपातः । जितात्मानो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्त्रार्थिनस्तस्य दशरथस्य पुत्त्रीयां पुत्त्रनिमित्ताम् । पुत्त्राच्छ च इति छप्रत्ययः । इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नवसरे पुत्त्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान् पौलस्त्यः रावणः तेनोपप्लुताः पीड़िताः सन्तो निदाघार्त्ताः घर्म्मातुराः अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः । अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्व्वानन्तेषु डइति डप्रत्ययः । छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव । शाकपार्थिवादित्वात् समासः । हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥ ५ ॥

तइति । ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् । उदन्वानुदधौ चेति निपातः । प्रापुः आदिपूरुषोविष्णुश्च बुबुधे योगनिद्रां जहावित्यर्थः । गमनप्रतिबोधयोरविलम्बार्थौ चकारौ । तथाहि अव्याक्षेपो गम्यस्याव्यासङ्गः अविलम्बइति यावत् भविष्यन्त्याः कार्य्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तञ्च अनन्यपरता चास्य कार्य्यसिद्धेस्तु लक्षणमिति ॥ ६ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसोदेवाः । पृषोदरादित्वात् साधु । यद्वा दिवशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति तथा च बुद्धचरिते नशोभते तेन हि नो विना पुरं

श्रियः पद्मनिषस्रायाः चौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥
प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥
प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥
बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥

मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवमिति । तत्र दिवु क्रीड़ादाविति धातोरिगुपधेलि कः, दिवमोको येषामिति विग्रहः । भोगिनः शेषस्य भोगः शरीरम् । भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरित्यमरः । स एवासनं सिंहासनं तत्रासीन-मुपविष्टम् । आसेः शानच् ईदास इतीकारादेशः । तस्य भोगिनः फणामण्डले ये उदर्चिषः मणयः तैः द्योतितविग्रहम् तं विष्णुं ददृशुः ॥ ७ ॥

श्रियइति । कीदृशं विष्णुं पद्मे विषसायाः उपविष्टायाः श्रियः चौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् आस्तीर्णो करपल्लवो यस्मिन् । विशेषण-द्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्य्यात् कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

प्रबुद्धेति । पुनः कीदृशं प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्य तं दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः बालातपनिभमंशुकं यस्य तं पीताम्ब-रधरमित्यर्थः अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । निभोव्याजसदृक्षयोरिति विश्वः प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भा योगिनः तेषां सुखदर्शनम् । अन्यत्र प्रारम्भे आदौ सुखदर्शनं शारदं शरत्सम्बन्धिनं दिवसमिव स्थितम् ॥ ९ ॥

प्रभेति । पुनः किंविधं प्रभयानुलिप्तमनुरञ्जितं श्रीवत्सं नाम लाञ्छनं येन तं लक्ष्म्याः विभ्रमदर्पणं कौस्तुभइति आख्या यस्य तम् अपां सामुद्राणां सारं स्थिरांशं मणिमित्यर्थः बृहता उरसा बिभ्राणम् ॥ १० ॥

बाहुभिरिति । विटपाकारैः शाखाकारैः दिव्याभरणभूषितैः बाहुभिरुप-लक्षितम् अतएव अपां सैन्धवीनां मध्ये आविर्भूतमपरं द्वितीयं पारिजातमिव स्थितम् ॥ ११ ॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥
मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥
योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥
प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम् ।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।

दैत्येति । दैत्यस्त्रीगण्डलेखानाम् असुराङ्गनागण्डस्थलीनां यो मदरागः तं विलुम्पन्ति हरन्तीति मदरागविलोपिनः तैश्चेतनावद्भिः सजीवैर्हेतिभिः सुदर्शनादिभिः शस्त्रैः । रवेरर्चिश्च शस्त्रञ्च वह्निज्वाला च हेतयइत्यमरः । उदीरितजयस्वनं जयशब्दमुद्घोषयन्तीभिः मूर्त्तिमतीभिः अस्त्रदेवताभिरुपास्यमानमित्यर्थः १२

मुक्तेति । मुक्तो भगवत्सन्निधानात् त्यक्तः शेषेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन कुलिशव्रणा अमृताहरणकाले इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव लक्ष्माणि यस्य स तेन प्रबद्धः अञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिनेत्यर्थः विनीतेन गरुत्मता उपस्थितम् उपासितम् । पुरा किल तेन विष्णुना प्राञ्जलिप्रार्थितेन दुहितृगुणकेश्याः पत्युः कस्यचित् सर्पस्य गरुडादभयदाने कृते स्वविपक्षरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं त्वद्वोढ़ाहं त्वत्तोबलाढ्यइतिगर्व्वितं स्ववामतर्ज्जनीभारेणैव भगवान् विनिनायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन ॥ १३ ॥

योगेति । योगो मनसोविषयान्तरव्यावृत्तिः तद्रूपा या निद्रा तस्या अन्ते अवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोधनैः अवलोकनैः सुखशयनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकाः तान् । पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य इत्युपसंख्यानाट्ठक् प्रत्ययः । भृग्वादीनृषीननुगृह्णन्तम् ॥ १४ ॥

प्रणिप्रत्येति । अथ दर्शनानन्तरं सुराः सुरद्विषामसुराणां शमयित्रे विनाशकाय तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं स्तोत्रार्हम् । एतिस्तु शास्वृदृजुषः क्यप् इति क्यप्प्रत्ययः । वाक्च मनश्च वाङ्मनसे । अचतुरेत्यच् प्रत्ययान्तोनिपातः । तयोर्गोचरोविषयो न भवतीत्यवाङ्मनसगोचरस्तम् एनं विष्णुं तुष्टुवुः ॥ १५ ॥

अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशेदेशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ १७ ॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम् ।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः ॥ १९ ॥

नमइति । पूर्वमादौ विश्वसृजे विश्वस्रष्ट्रे तदनु सर्गानन्तरं विश्वं बिभ्रते अथ विश्वस्य संहर्त्रे एवं त्रेधा सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन स्थित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै ब्रह्मविष्णुहरात्मने तुभ्यं नमः ॥ १६ ॥

ननु कूटस्थस्य कथं त्रैरूप्यमित्याशङ्क्यौपाधिकमित्याह

रसान्तराणीति । एकरसं मधुरैकरसं दिवि भवं दिव्यं पयः वर्षोदकं देशेदेशे अन्यान् रसान् रसान्तराणि लवणादीनि यथा अश्नुते प्राप्नोति एवमविक्रियोनिर्विकारः एकरूप इत्यर्थः त्वं गुणेषु अवस्थाः स्रष्टृत्वादिरूपा अश्नुषे ॥ १७ ॥

अमेयइति । हे देव त्वममेयोलोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः मितलोकः परिच्छिन्नलोकः अनर्थी निस्पृहः । आवहतीति आवहः पचाद्यच् । प्रार्थनानाम् आवहः कामदः अजितः अन्यैर्न जितः जिष्णुर्जयशीलः अत्यन्तमव्यक्तः अतिसूक्ष्मरूपः व्यक्तस्य स्थूलस्य कारणम् ॥ १८ ॥

हृदयेति । हे देव त्वां हृदयस्थं सर्वान्तर्यामितया नित्यसन्निहितं तथाप्यनासन्नम् अगम्यरूपत्वात् विप्रकृष्टञ्च विदुः तथा अकामं न कामोऽभिलाषोऽस्य तं परिपूर्णत्वान्निःस्पृहत्वाच्च निष्कामं तथापि तपस्विनं प्रशस्ततपोयुक्तं विदुः, योनिष्कामः स कथं तपः कुरुतइति विरोधः परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुःस्तरं तपस्तप्यते दयालुं परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनघस्पृष्टं नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः। अघं दुरितदुःखयोरिति विश्वः । दयालुरदुःखी चेति विरोधः । ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः । परभाग्योपजीवी च षड़ेते नित्यदुःखिताइति । महाभारते । पुराणमनादिमजरं निर्विकारत्वादजरं विदुः चिरन्तनं न जीर्यतः इति विरोधालङ्कारः । उक्तञ्च आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मतेति । विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते ॥ १९ ॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥ २०॥
सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम्।
सप्तार्च्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम्॥ २१॥
चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात्॥ २२॥
अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्म्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये॥ २३॥

सर्व्वज्ञइति। त्वं सर्वं जानातीति सर्व्वज्ञः। इगुपधेति कप्रत्ययः। अविज्ञातो न केनापि विज्ञातइत्यर्थः। त्वं सर्व्वस्य योनिः कारणं त्वमात्मनएव भवतीत्यात्मभूः न ते किञ्चित् कारणमस्तीत्यर्थः। त्वं सर्व्वस्य प्रभुः त्वमनीशः, त्वमेकः सर्व्वरूपभाक् त्वमेकएव सर्व्वात्मना वर्त्तसे॥ २०॥

सप्तेति। हे देव त्वां सप्तभिः सामभिः रथन्तरादिभिरुपगीतम्। तद्धितार्थेत्युत्तरपदसमासः। सप्तानामर्णवानां जलं सप्तार्णवजलं पूर्व्ववत्समासः। तत्र शेते यः स सप्तार्णवजलेशयः तम्। शयवासवासिष्वकालादित्यलुक्। सप्तार्च्चिर्मुखं यस्य तम्। अग्निमुखा वै देवा इति श्रुतेः। सप्तानां लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनाम् एकसंश्रयम् एवम्भूतमाचख्युः॥ २१॥

चतुरिति। चतुर्णां धर्म्मार्थकाममोक्षाणां वर्गः चतुर्वर्गः। त्रिवर्गो धर्म्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैरित्यमरः। तत्फलकं यत् ज्ञानं, चत्वारि युगानि कृतत्रेतादीनि यासु ताः चतुर्युगाः कालावस्थाः कालपरिमाणं, चत्वारोवर्णाः प्रकृताः उच्यन्ते यस्मिन्निति चतुर्व्वर्णमयः चातुर्वर्ण्यप्रचुरइत्यर्थः। तत्प्रकृतवचने मयट्। तद्धितार्थेति तद्धितार्थे विषये तत्पुरुषः। स लोकः, इत्येवंरूपं सर्वं चतुर्मुखात् चतुर्मुखरूपिणः त्वत्तः जातमिति शेषः। इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चिदिति श्रुतेः॥ २२॥

अभ्यासेति। अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्त्तितं तेन मनसा योगिनो हृदयाश्रयं हृत्पद्मस्थं ज्योतिर्म्मयं त्वां विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्ति अन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः॥ २३॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥
शब्दादीन् विषयान् भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्य्याप्तोसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्त्तितुम् ॥ २५ ॥
बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥
त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्म्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणा-मभूयःसन्निवृत्तये ॥ २७ ॥
प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।

अजस्येति । न जायत इत्यजः । अन्येष्वपि दृश्यतइति डप्रत्ययः । तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णतः मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य निरीहस्य चेष्टारहितस्यापि हतद्विषः शत्रुघातिनः जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवतः इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति । विदोलटोवेति णलादेशः ॥२४ ॥

शब्दादीनिति । शब्दादीन् विषयान् भोक्तुं नरनारायणादिरूपेण दुश्चरं तपश्चरितुं तथा दैत्यमर्दनेन प्रजाः पातुम् औदासीन्येन ताटस्थ्येन वर्त्तितुञ्च पर्य्याप्तः समर्थोऽसि । भोगतपसोः पालनौदासीन्ययोश्च परस्परविरुद्धयोराचरणे त्वदन्यः कः समर्थ इत्यर्थः ॥ २५ ॥

बहुधेति । आगमैस्त्रयीसाङ्ख्यादिभिर्दर्शनैर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थसाधकाः पन्थान उपायाः, जाह्नव्या इमे जाह्नवीयाः गाङ्गाः । वृद्धाच्छइति छप्रत्ययः । ओघाः प्रवाहाः तेष्वागमैः आगतिभिर्बहुधा भिन्नाः सिद्धिहेतवश्च, अर्णवइव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्य्याः किं बहुना कारवोपि विश्वकर्मेत्युपासते ॥ २६ ॥

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेषां तुभ्यं समर्पितानि कर्म्माणि यैस्तेषाम्, मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानाम् अभूयःसन्निवृत्तये अपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः त्वमेव गतिः साधनम्, तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २७ ॥

आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ २८ ॥
केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥
उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥
अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्म्मणोः ॥ ३१ ॥
महिमानं यदुत्कीर्त्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥
इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम्।

प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षः प्रत्यक्षप्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमा ऐश्वर्य्यमपरिच्छेद्यः इयत्तया नावधार्य्यः, आप्तवाग्वेदः यतो वा इमानीत्यादिः श्रुतिः अनुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वाद्घटवदित्यादि ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा प्रत्यक्षमपि त्वत्कृतं जगदपरिच्छेद्यं तत्कारणमप्रत्यक्षस्त्वम् अपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

केवलमिति। स्मरणेन केवलं कृत्स्नम्। केवलः कृत्स्न एकश्चेति शाश्वतः। पुरुषं स्मर्त्तारं जनं पुनासि यतोयदित्यर्थः, अनेनैव स्मृतिकार्य्येणैव त्वयि त्वद्विषये याः अवशिष्टाः वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफलाः ज्ञापितकार्य्याः तव स्मरणस्यैव एतत् फलं दर्शनादीनान्तु कियदिति नावधारयामः इति भावः ॥२९॥

उदधेरिति। उदधेः रत्नानीव विवस्वतस्तेजांसीव दूराणि अवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ॥३०॥

अनवाप्तमिति। अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्यं ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः। तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्म्मणी तत्राह लोकेति। एकः लोकानुग्रह एव ते जन्मकर्मणोर्हेतुः परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिर्न स्वार्थेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

महिमानमिति। तव महिमानमुत्कीर्त्त्य वचः संह्रियते इति यत् तत् वचःसंहरणं श्रमेण वाग्व्यापारश्रान्त्या अशक्त्या कात्स्न्र्येन वक्तुमशक्यत्वाद्वा गुणानामियत्तया एतावन्मात्रतया न, तेषामानन्त्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ ३३ ॥

तस्मै कुशलसंप्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥ ३४ ॥

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना ।
स्वरेणोवाच भगवान् परिभूतार्णवध्वनिः ॥ ३५ ॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता ।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥ ३६ ॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता ।

इतीति । इति ते सुराः तम् अधोभूतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं यस्मिंस्तमधोक्षजं विष्णुं प्रसादयामासुः प्रसन्नं चक्रुः हि यस्मात् परमेष्ठिनः सर्वोत्तमस्य तस्य देवस्य सा देवैः कृता भूतार्थव्याहृतिः भूतस्य सत्यस्यार्थस्य व्याहृतिरुक्तिः । युक्ते क्ष्मादावृते भूतमित्यमरः । न स्तुति र्न प्रशंसामात्रम् । महान्तो हि यथाकथञ्चिन्न सुलभा इतिभावः । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी, परमे कितिदित्युणादिसूत्रेण तिष्ठतेरिनिः, तत्पुरुषे कृति बहुलमिति सप्तम्या अलुक्, स्थास्थिन्स्थॄणामिति वक्तव्यात् षत्वम् ॥ ३३ ॥

तस्मा इति । सुराः देवाः कुशलस्य संप्रश्नेन व्यञ्जिता प्रकटीकृता प्रीतिर्यस्य तस्मै लक्षितप्रसादायेत्यर्थः । अन्यथा अनवसरविज्ञप्तिर्मुखराणामिव निष्फला स्यादिति भावः । तस्मै विष्णवे अप्रलये प्रलयाभावेऽप्युद्वेलादुन्मर्यादात् नैर्ऋती राक्षसः स एवोदधिस्तस्मात् भयम् आचख्युः कथितवन्तः ॥ ३४ ॥

अथेति । अथ वेलायाम् अब्धिकूले समासन्नानां सन्निकृष्टानां शैलानां रन्ध्रेषु गह्वरेषु अनुनादिना प्रतिध्वनिमता स्वरेण परिभूतार्णवध्वनिः तिरस्कृतसमुद्रघोषः भगवान् उवाच ॥ ३५ ॥

पुराणस्येति । पुराणस्य चिरन्तनस्य कवेस्तस्य भगवतो वर्णस्थानेषूरःकण्ठादिषु समीरिता सम्यगुच्चारिता अतएव कृतः सम्पादितः संस्कारः साधुत्वस्पष्टतादिप्रयत्नो यस्याः सा भारती वाणी चरितार्था कृतार्था बभूवैव । एवकारस्त्वसम्भावनाविपरीतभावनाव्युदासार्थः ॥ ३६ ॥

बभाविति । विभोर्विष्णोर्वदनादुद्गता निःसृता सदशनज्योत्स्ना दन्तकान्तिसहिता, इदञ्च विशेषणं धावल्यातिशयार्थम्, अतएव सा भारती चरणादङ्गेर्नि-

निर्यातशेषा चरणात् गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्त्तिनी ॥ ३७ ॥

जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥

विदितं तप्यमानञ्च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥

कार्य्येषु चैककार्य्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।

र्याता चासौ शेषा च निर्यातशेषा निःसृतावशिष्टेत्यर्थः । स्त्रियाः पुंवदित्यनुवर्त्य पुंवत् कर्म्मधारयेति पुंवद्भावः । निर्यातशब्दस्य या निर्याता सावशेषा सा गङ्गेवेति सामानाधिकरण्यनिर्वाहः, निर्यातायाः शेषेति विग्रहे पुंवद्भावो दुर्घट एव । ऊर्द्ध्वप्रवर्त्तिनी ऊर्द्ध्ववाहिनी गङ्गेव बभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥

यदाह भगवान् तदाह

जानइति । हे देवाः वो युष्माकम् अनुभावपराक्रमौ महिमपुरुषकारौ रक्षसा रावणेन अङ्गिनां शरीरिणां प्रथममध्यमौ उभौ गुणौ सत्वरजसी तमसेव तमोगुणेनेव आक्रान्तौ जाने । वाक्यार्थः कर्म ॥ ३८ ॥

विदितमिति । किञ्च अकामेन अनिच्छया उपनतेन प्रमादादागतेन एनसा पापेन साधोः सज्जनस्य हृदयमिव तेन रक्षसा तप्यमानं सन्तप्यमानम् । तपेर्भौवादिकात् कर्म्मणि शानच् । भुवनत्रयं मे विदितं मया ज्ञायतइत्यर्थः । गतिबुद्धीत्यादिना वर्त्तमाने क्तः, क्तस्य च वर्त्तमानइति षष्ठी ॥ ३९ ॥

कार्य्येष्विति । किञ्च एककार्य्यत्वादावयोः एककार्य्यकत्वाद्धेतोः कार्य्येषु कर्त्तव्यार्थेषु विषयेषु वज्रिणेन्द्रेण अभ्यर्थ्य इदं कुर्व्विति प्रार्थनीयो नास्मि तथा हि वातः स्वयमेवाग्नेः सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति नतु वह्निप्रार्थनया इत्येवकारार्थः । प्रेक्षावतां स्वार्थेषु स्वतएव प्रवृत्तिः नतु परप्रार्थनया स्वार्थश्चायं ममापीत्यर्थः ॥ ४० ॥

पुरा किल त्रिपुरारिप्रीणनाय स्वशिरांसि च्छिन्दता दशकन्धरेण यद्दशमं शिरोऽवशेषितं तन्मच्चक्रार्थमित्याह ।

स्वेति । स्वासिधारया स्वखड्गधारया परिहृतोऽच्छिन्न इत्यर्थः दशमोमूर्द्धा

स्थापितो दशमो मूर्द्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥
स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ ४२ ॥
धातारं तपसा प्रीतं ययाचे स हि राक्षसः ।
दैवात् सर्गादवध्यत्वं मर्त्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥ ४३ ॥
सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥
अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत् पुनः ।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥ ४५ ॥

मे मम चक्रस्य कामं पर्य्याप्तोलभ्यांशः प्राप्तव्यभागइव तेन रक्षसा स्थापितः । सर्व्वथा तमहं हनिष्यामीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह

स्रष्टुरिति । किन्तु स्रष्टुर्ब्रह्मणो वरातिसर्गात् वरदानाद्धेतोः मया तस्य दुरात्मनो रिपोः रावणस्य अत्यारूढमत्यारोहणमतिवृद्धिरित्यर्थः । नपुंसके भावे क्तः । भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढम् । चन्दनस्यापि तथा सहनं स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह

धातारमिति । स राक्षसस्तपसा प्रीतं सन्तुष्टं धातारं ब्रह्माणं मर्त्त्येषु विषये आस्थापराङ्मुखः आदरविमुखः सन् मर्त्त्याननादृत्येत्यर्थः दैवाद्दैवविधात् सर्गात् देवसृष्टेरवध्यत्वं ययाचे हि ॥ ४३ ॥

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह

सोऽहमिति । सोऽहं दशरथस्य अपत्यं पुमान् दाशरथिः । अत इञ् इति इञ्प्रत्ययः । रामो भूत्वा तीक्ष्णैः शरैः तस्य रावणस्य शिरांस्येव कमलानि तेषामुच्चयं राशिं रणभूमेर्बलिक्षमं पूजार्हं करिष्यामि । पुष्पविषया हि पूजेति भावः ४४

अचिरादिति । हे देवाः यज्वभिर्याज्ञिकैः विधिवत् कल्पितमुपहृतं भागं हविर्भागं मायाविभिः मायावद्भिः । अस्मायामेधास्रजो विनिरिति विनुप्रत्ययः । निशाचरैः रक्षोभिरनालीढमनास्वादितं यथा तथा अचिरात् पुनरादास्यध्वे ग्रहीष्यध्वे ॥ ४५ ॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ ४६ ॥
मोक्ष्यध्वे स्वर्गवन्दीनां वेनीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ ४७ ॥
रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्शस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥
पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्य्योद्यतं सुराः ।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥
अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्म्मणः ।

वैमानिकाइति । मरुतां देवानां पथि व्योम्नि वैमानिकाः विमानैश्चरन्तीति । चरतीति ठक्प्रत्ययः । मेघावरणतत्पराः रावणभयान्मेघेष्वन्तर्द्धानतत्पराः पुण्यकृतः सुकृतिनः पुष्पकालोकेन यदृच्छया रावणविमानदर्शनेन यः संक्षोभः भयचकितं तं त्यजन्तु संक्षोभोभयचकितमिति शब्दार्णवः ॥ ४६ ॥

मोक्ष्यध्वेइति । हे देवाः यूयं शापेन नलकूवरशापेन यन्त्रिताः प्रतिबद्धाः पौलस्त्यस्य रावणस्य बलात्कारेण ये कचग्रहाः केशाकर्षास्तैरदूषिताननुपहतान् स्वर्गवन्दीनां हृतस्वर्गाङ्गनानां वेणीबन्धान् मोक्ष्यध्वे। पुरा किल नलकूवरेण आत्मानं अभिसरन्त्या रम्भाया बलात्कारेण सम्भोगात् क्रुद्धेन दुरात्मा रावणः शप्तः स्त्रीणां बलाद्ग्रहणे मूर्द्धा ते शतधा भविष्यतीति भारतीया कथानुसन्धेया ॥ ४७ ॥

रावणेति। सः कृष्णो विष्णुः स एव मेघः नीलमेघश्च, विश्रवसोऽपत्यं पुमानिति विग्रहे रावणः। विश्रवःशब्दात् शिवादित्वादणि विश्रवसो विश्रवणरवणावित्यन्तर्गणसूत्रेण विश्रवःशब्दस्य वृत्तिविषये रवणादेशे रावण इति सिद्धम् । स एवावग्रहो वर्षप्रतिबन्धः तेन क्लान्तं ग्लानं मरुतो देवा एव शस्यं तत् इति एवंरूपेण वागमृतेन वाक्सलिलेन। अमृतं यज्ञशेषे स्यात् पीयूषे सलिलेऽमृतमिति विश्वः। अभिवृष्य अभिषिच्य तिरोदधे अन्तर्दधे ॥ ४८ ॥

पुरुहूतेति। पुरुहूतप्रभृतयः इन्द्राद्याः सुराः सुरकार्य्यं रावणवधरूपे उद्यतं विष्णुम् अंशैर्मात्राभिः द्रुमाः पुष्पैः स्वांशैर्वायुमिवानुययुः। सुग्रीवादिरूपेण वानरयोनिषु जाता इत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥
हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्व्वहम् ॥ ५१ ॥
प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥
अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिन् त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥
स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

अथेति । अथ तस्य विशांपत्युः दशरथस्य सम्बन्धिनः काम्यस्य कर्म्मणः पुत्रकामेष्टेरन्ते ऽवसाने अग्नेः पावकात् पुरुषः कश्चित् दिव्यः पुमान् ऋत्विजां विस्मयेन सह प्रबभूव प्रादुर्बभूव तदाविर्भावात्तेषामपि विस्मयोऽभूदित्यर्थः ॥५०॥

तमेव पुरुषं विशिनष्टि

हेमपात्रेति । आद्यस्य पुंसोऽनुप्रवेशादधिष्ठानाद्धेतोः तेन दिव्यपुरुषेणापि दुर्वहं चतुर्द्दशभुवनोदरस्य भगवतो हरेरतिगरीयस्त्वाद्वोढुमशक्यं हेमपात्रगतं पयसि पक्वं चरुं पयश्चरुं पायसान्नं दोर्भ्यामादधानो वहन् । अनल्पाग्निभिरुष्मपक्व ओदनश्चरुरिति याज्ञिकाः ॥ ५१ ॥

प्राजापत्येति । नृपो दशरथः प्राजापत्येन प्रजापतिसम्बन्धिना पुरुषेणोपनीतं नतु वशिष्ठेन, प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृपेति रामायणात् । तदन्नं पायसान्नम् उदन्वतोदधिनाविष्कृतं प्रकाशितं पयसां सारममृतं वृषा वासव इव । वासवो वृत्रहा वृषेत्यमरः । प्रत्यग्रहीत् स्वीचकार ॥ ५२ ॥

अनेनेति । तस्य राज्ञो दशरथस्य अन्यैर्दुर्ल्लभाः असाधारणाः गुणाः अनेन कथिताः यद्यस्मात् त्रयो लोकास्त्रैलोक्यं चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् । तस्य प्रभवः कारणं विष्णुरपि तस्मिन् राज्ञि प्रसूतिमुत्पत्तिं चकमे कामितवान् । त्रिभुवनकारणस्यापि कारणमिति परमावधिगुणसमाश्रय इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

स इति । स नृपः चरुसंज्ञास्य सञ्जाता चरुसंज्ञितं वैष्णवं तेजः पत्न्योः कौशल्याकैकेय्योः द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । दिवसश्च पृथिव्यामिति चकाराद्दिवशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः अह्नः पतिरहर्पतिः । अह-

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥
ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्द्धार्द्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥
सा हि प्रणयवत्यासीत् सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिस्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥

रादीनां पत्यादिषु वा रेफः इत्युपसंख्यानाद्वैकल्पिको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्रमातपं बालातपमिव विभेजे विभज्य ददावित्यर्थः ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागे कारणमाह

अर्चितेति । तस्य राज्ञः, कौ पृथिव्यां सलति गच्छतीति कोसलः । सल गतौ पचाद्यच् कुशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्गुणः । कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कौसल्या । वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङिति ञ्यङ्, यङश्चाबिति चाप् । अतएव सूत्रे निर्देशात् कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यः । अर्चिता ज्येष्ठा मान्या, केकयवंशजा कैकयी प्रिया इष्टा अतो हेतोरीश्वरो भर्त्ता नृपः सुमित्रां ताभ्यां कौसल्याकैकयीभ्यां सम्भावितां भागदानेन मानिताम् ऐच्छदिच्छति स्म । एवञ्च सामान्यं तिसृणाञ्च भागप्रापणमिति राज्ञि उचितज्ञता कौशलञ्च लभ्यते ॥५५॥

ते इति । बहुज्ञस्य सर्व्वज्ञस्य उचितज्ञस्येत्यर्थः पत्युर्महीक्षितः क्षितीश्वरस्य । विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह । चित्तज्ञे अभिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ कौसल्याकैकय्यौ चरोर्यावर्द्धभागौ समभागौ तयोर्यावर्द्धौ तौ च तौ भागौ चेत्यर्द्धभागौ एकदेशौ ताभ्यामर्द्धार्द्धभागाभ्याम् । पुंस्यर्द्धोऽर्द्धं समेंशके इत्यमरः । तां सुमित्रामयोजयतां युक्ताञ्चक्रतुः । अयञ्च विभागो न रामायणसंवादी । तत्र चरोरर्द्धं कौसल्यायै अवशिष्टार्द्धं केकय्यै शिष्टं पुनः सुमित्राया इत्यभिधानात् । किन्तु पुराणान्तरसंवादो द्रष्टव्यः उक्तञ्च नारसिंहे । ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः । पिण्डाभ्यामल्पमल्पन्तु स्वभगिन्यै प्रयच्छत इति । एवमन्यत्रापि विरोधे पुराणान्तरात् समाधातव्यम् ॥ ५६ ॥

नचैवं सत्यपीर्ष्या स्यादित्याह

सा हीति । सा सुमित्रा उभयोरपि समान एकः पतिर्ययोः तयोः सपत्न्योः । नित्यं सपत्न्यादिष्विति ङीप् नकारादेशश्च । भ्रमरी भृङ्गाङ्गना वारणस्य गजस्य

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः ।
सौरीभिरिव नाड़ीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥
सममापन्नसत्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
अन्तर्गतफलारम्भाः शस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥
गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्व्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्त्तिभिः ॥ ६० ॥
हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

मदनिस्यन्दरेखयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः । प्रणयवती प्रेमवती आसीत् । सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारणस्येति ॥ ५७ ॥

ताभिरिति । ताभिः कौसल्यादिभिः प्रजानां भूत्यै अभ्युदयाय देवस्य विष्णोरंशः सम्भवः कारणं यस्य स गर्भः, सूर्य्यस्येमाः सौर्य्यः ताभिः सौरीभिः । सूर्य्यतिष्येत्युपधायकारस्य लोपः । अमृता इत्याख्या यासां ताभिः जलवहन-साम्यात् नाड़ीभिरिव नाड़ीभिः वृष्टिविसर्ज्जनीभिः दीधितिभिः अपां विकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव दध्रे धृतः जातावेकवचनं गर्भा दधिरे इत्यर्थः । अत्र यादवः तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्ज्जने । शतत्रयं हिमोत्सर्गे ताव-द्गर्भस्य सर्ज्जने । आनन्दाश्च हि मेध्याश्च भूतनाः पूतना इति । चतुःशतं वृष्टि-वाहाः ताः सर्व्वा अमृताः स्त्रिय इति ॥ ५८ ॥

सममिति । समं युगपदापन्नाः गृहीताः सत्वाः याभिस्ताः आपन्नसत्वाः गर्भिण्यः । आपन्नसत्वा स्याद्गुर्व्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणीत्यमरः । अतएव आपा-ण्डुरत्विषः पाण्डुरवर्णाः ताः राजपत्न्यः अन्तर्गताः फलारम्भाः फलप्रादुर्भावाः यासां ताः शस्यानां सम्पद इव रेजुः बभुः ॥५९॥

सम्प्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह

गुप्तमिति । सर्वास्ताः स्वप्नेषु जलजः शङ्खः, जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैः लाञ्छिता मूर्त्तयो येषां तै र्वामनैः ह्रस्वैः पुरुषैः गुप्तं रक्षितम् आत्मानं स्वरूपं ददृशुः ॥ ६० ॥

हेमेति । किञ्चेति चार्थः । हेम्नः सुवर्णस्य पक्षाणां प्रभाजालं कान्तिपुञ्जं

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम्।
पर्य्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया॥ ६२॥
कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे॥ ६३॥
ताभ्यस्तथाविधान् स्वप्नान् श्रुत्वा प्रीतोहि पार्थिवः।
मेने परार्द्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः॥ ६४॥
विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव॥ ६५॥
अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः॥ ६६॥

वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टाः पयोमुचोमेघाः येन तेन सुपर्णेन गरुत्मता गगने ता उह्यन्ते स्म जड़ाः॥ ६१॥

बिभ्रत्येति। किञ्च स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानं न्यस्यतइति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तं पत्या न्यस्तं कौस्तुभमित्यर्थः विभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्याः तया लक्ष्म्या पर्य्युपास्यन्त उपासिताः॥ ६२॥

कृतेति। किञ्च दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतसि आकाशगङ्गायां कृताभिषेकैः कृतावगाहैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिः ब्रह्मर्षिभिः कश्यपप्रभृतिभिरुपतस्थिरे उपासाञ्चक्रिरे॥ ६३॥

ताभ्य इति। पार्थिवोदशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः। आख्यातोपयोगइत्यपादानत्वात् पञ्चमी। तथाविधान् उक्तप्रकारान् स्वप्नान् श्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरोर्विष्णोरपि गुरुत्वेन हेतुना परार्द्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि॥ ६४॥

विभक्तेति। एकः एकरूपोविभुर्विष्णुः तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु, प्रसन्नानां निर्म्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिविम्बचन्द्र इव अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास॥ ६५॥

अथेति। अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्यमहिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले, ओषधि र्नक्तं रात्रिसमये तमोऽपहन्तीति तमोपहम्। अपे क्लेशतमसोरिति डप्रत्ययः। ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप॥ ६६॥

रामइत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥
रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥
शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥
कैकेय्यास्तनयोजज्ञे भरतोनाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रयइव श्रियम् ॥ ७० ॥
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥
निर्दोषमभवत् सर्व्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।

रामइति । अभिरमते अत्रेति अभिरामं मनोहरम् । अधिकरणार्थे घञ् । तेन वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथः तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं रामइति नामधेयं चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

रक्षेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृहगताः सूतिकागृहगताः दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धा इव अभवन् । महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

शय्येति । शातोदरी गर्भमोचनात् कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

कैकेय्याइति । केकयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी । तस्यापत्यमित्यणि कृते केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरिय इतीयादेशः । तस्याः भरतोनाम शीलवान् तनयो जज्ञे जातः, यस्तनयः प्रश्रयोविनयः श्रियमिव जनयित्रीं मातरमलञ्चक्रे ॥७०॥

सुताविति । सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ नाम यमौ युग्मजातौ सुतौ पुत्रौ सम्यगाराधिता स्वभ्यस्ता विद्या प्रबोधविनयौ तत्त्वज्ञानेन्द्रियजयाविव सुषुवे॥ ७१॥

निर्दोषमिति । सर्व्वं जगत् भूलोको निर्दोषं दुर्भिक्षादिदोषरहितम् आवि-

अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥
तस्योदये चतुर्मूर्त्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥
कृशानुरपधूमत्वात् प्रसन्नत्वात् प्रभाकरः ।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव ॥ ७४ ॥
दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः ।
मणिव्याजेन पर्य्यस्ताः पृथिव्यामश्रुविन्दवः ॥ ७५ ॥
पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्य्याणां तस्य पुत्रिणः ।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि ॥ ७६ ॥
सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।

व्यक्,तगुणं प्रकटीकृतारोग्यादिगुणं चाभवत् । अत्रोत्प्रेक्षते, गां भुवं गतमवतीर्णं पुरुषोत्तमं विष्णुं स्वर्गोऽप्यन्वगादिव, स्वर्गो हि गुणवान्निर्दोषश्चेत्यागमः, स्वर्गतुल्यमभूदित्यर्थः ॥ ७२ ॥

तस्येति । चतुर्मूर्त्तेः रामादिरूपेण चतूरूपस्य सतः तस्य हरेरुदये सति पौलस्त्याद्रावणाच्चकिताः भीताः ईश्वराः नाथाः इन्द्रादयो यासां ताः दिशश्चतस्रः विरजस्कैरपधूलिभिः नभस्वद्भिः वायुभिः मिषेणोच्छ्वसिता इवेत्युत्प्रेक्षा । श्वसेः कर्त्तरि क्तः । स्वनाथशरणलाभसन्तुष्टानां दिशामुच्छ्वासवाता इव वाता ववुरित्यर्थः । चतुर्दिगीशरक्षणं मूर्त्तिचतुष्टयप्रयोजनमिति भावः ॥ ७३ ॥

कृशानुरिति । रक्षसा रावणेन विप्रकृतौ पीड़ितावित्यर्थः कृशानुरग्निः प्रभाकरः सूर्य्यश्च यथासङ्ख्यम् अपधूमत्वात् प्रसन्नत्वाच्च अपविद्धशुचौ निरस्तदुःखाविवास्तामभवताम् ॥ ७४ ॥

दशाननेति । तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियः अश्रुविन्दवः दशाननकिरीटेभ्यः मणीनां व्याजेन मिषेण पृथिव्यां पर्य्यस्ताः पतिताः रामोदये सति तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रंशलक्षणं दुर्निमित्तमभूदित्यर्थः॥७५॥

पुत्रेति । पुत्रिणोजातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेशयितव्यानां वादनीयानामित्यर्थः तूर्य्याणां वाद्यानाम् आरम्भमुपक्रमं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयः चक्रुः पितुर्दशरथादपि देवा अधिकं प्रहृष्टा इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाभवत् ॥ ७७ ॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्म्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥ ७९ ॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्योतयामासु र्देवारण्यमिवर्त्तवः ॥ ८० ॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥ ८१ ॥

सन्तानकेति । अस्य राज्ञोभवने सन्तानकानां कल्पवृक्षकुसुमानां विकारः सन्तानकमयी वृष्टिश्च पैतृषी पपात । कसुश्चेति कसु प्रत्ययः, उगितश्चेति ङीप् । सा वृष्टिरेव सन्तः पुत्रजन्मन्यावश्यकाः ये मङ्गलोपचारास्तेषामादिरचना प्रथमक्रिया अभवत् ॥ ७७ ॥

कुमारा इति । कृताः संस्कारा जातकर्मादयो येषां ते धात्रीणाम् उपमातॄणां स्तन्यानि पयांसि पिबन्तीति तथोक्ताः ते कुमाराः अग्रजेन ज्येष्ठेनेव स्थितेन पितुरानन्देन समं ववृधिरे कुमारवृद्धग्रा पिता मह्रान्तमानन्दमवापेत्यर्थः । कुमारजन्मनः प्रागेव जातत्वादग्रजत्वोक्तिरानन्दस्य ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकमिति । तेषां कुमाराणां सम्बन्धि स्वाभाविकं सहजं विनीतत्वं विनयकर्म्मणा शिक्षया हविर्भुजामग्नीनां सहजं तेजो हविषा आज्यादिकेनेव मुमूर्च्छ ववृधे निसर्गसंस्काराभ्यां विनीताः इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

परस्परेति । परस्परमविरुद्धाः अविद्विष्टाः सौभ्रात्रगुणवन्त इत्यर्थः ते कुमाराः तत्प्रसिद्धम् अनघं निष्पापं रघोः कुलम्, ऋतवो वसन्तादयो देवारण्यं नन्दनमिव । सहजविरोधिनामपि ऋतूनां सहावस्थानसम्भावनार्थं देवविशेषणम् । अलमत्यन्तमुद्योतयामासुः प्रकाशयामासुः । सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्ते इति भावः ॥ ८० ॥

समानइति । शोभनाः स्निग्धाः भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः । नद्यृतश्चेति कप् न भवति वन्दिते भ्रातुरिति निषेधात् । तेषां भावः सौभ्रात्रम् । युवादित्वा-

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वो र्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥
ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥
स चतुर्द्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्म्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान् ॥ ८४ ॥
गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥
सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारै-
र्नय इव पणवन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।

दण् । तस्मिन् समाने चतुर्णां तुल्येपि यथा उभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं द्वौ द्वौ साहचर्य्येणाभिव्यक्तौ । द्वन्द्वं रहस्यमर्य्यादेति निपातः । क्वचित् कस्यचित् स्नेहोऽतिरिच्यतइति भावः ॥ ८१ ॥

तेषामिति । तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयोः रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः । यथा वायुविभावस्वोर्वातवह्न्योरिव यथा चन्द्रसमुद्रयोरिव ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न बिभिदे । एककार्य्यत्वं समानसुखदुःखत्वञ्च क्रमादुपमाद्वयाल्लभ्यते, सहजः सहकारी हि वह्नेर्वायुः, चन्द्रवृद्धौ हि वर्द्धते सिन्धुः तत्क्षये च क्षीयत इति ॥ ८२ ॥

तइति । प्रजानाथास्ते कुमाराः तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च, निदाघान्ते ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि येषां ते श्यामाभ्राः नातिशीतोष्णाइत्यर्थः दिवसाइव, प्रजानां मनोजह्रुः ॥ ८३ ॥

सइति । स चतुर्द्धा । संख्यायाविधार्थे इत्यनेन धाप्रत्ययः । व्यस्तोविभक्तः पृथिवीपतेः दशरथस्य प्रसवः सन्तानः चतुर्द्धा अङ्गवान् मूर्त्तिमान् धर्म्मार्थकाममोक्षाणाम् अवतारइव बभौ ॥ ८४ ॥

गुणैरिति । गुरुवत्सलाः पितृभक्ताः ते कुमाराः गुणैर्विनयादिभिः गुरुं पितरम्, चतुरन्तानां दिगन्तानामीशं चतुरन्तेशम् । तद्धितार्थेत्यादिना उत्तरपदसमासः । तं दशरथमेव महार्णवाश्चत्वारो रत्नैरिव आराधयामासुः ॥८५॥

हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः
पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥ ८६ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
रामावतारोनाम दशमः सर्गः ।

सुरगजइति । भग्ना दैत्यानामसिधारा यैस्तैः चतुर्भिर्दन्तैः सुरगजः ऐरावतइव प्रणवन्धेन फलसिद्ध्या व्यक्तयोगैरनुमितप्रयोगैरुपायैश्चतुर्भिः सामादिभिः नयो नीतिरिव युगवद्दीर्घैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैः हरिर्विष्णुरिव तदीयैः हरिसम्बन्धिभिरंशैरंशभूतैश्चतुर्भिस्तैः पुत्रैः अवनिपतीनां पतिः राजराजो दशरथश्चकाशे विदिद्युते ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां दशमः सर्गः ।

रघुवंशम्।

एकादशः सर्गः।

कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो
रामभध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचित-
स्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते॥ १॥
लक्ष्मलब्धमपि लब्धवर्णभाक्
तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम्।

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरन्तरङ्गचरभृङ्गलीलया।
तत्र सन्ति हि रसाश्चतुर्विधास्तान् यथारुचि सदैव निर्विश॥

कौशिकेनेति। कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेण एत्य अभ्यागत्य स क्षितीश्वरो दशरथः अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वंसाय काकपक्षधरं बालकोचितशिखाधरम्। बालानान्तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकइति हलायुधः। रामं याचितः किल प्रार्थितः खलु। याचेर्द्विकर्म्मकादप्रधाने कर्म्मणि क्तः अप्रधाने दुहादीनामिति वचनात्। नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह तेजसां तेजस्विनां वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि अप्रयोजकमित्यर्थः। अत्र सर्गे रथोद्धता वृत्तम् उक्तञ्च रान्नराविह रथोद्धता लगाविति॥ १॥

कृच्छ्रलब्धमिति। लब्धाः वर्णाः प्रसिद्धयोयैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणाः। लब्धवर्णोविचक्षणइत्यमरः। तान् भजते इति लब्धवर्णभाक् विद्वत्सेवीत्यर्थः। स राजा कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं रामं मुनये दिदेश अतिसृष्टवान्। तथाहि अस्तप्रणयिनां प्राणार्थिनामपि अर्थिता याच्ञा रघोः कुले कदाचित् न व्यहन्यत

अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले
न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥
यावदादिशति पार्थिवस्तयो
र्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम्।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः
सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥
तौ निदेशकरणोद्यतौ पितु-
र्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतो
र्नम्रयोरुपरि वाष्पविन्दवः ॥ ४ ॥
तौ पितुर्नयनजेन वारिणा
किञ्चिदुच्छ्रितशिखण्डकावुभौ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां
पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

न विहता न विफलीकृतेत्यर्थः। यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः ॥ २ ॥

यावदिति। पार्थिवः पृथिवीश्वरः तयोः रामलक्ष्मणयोः निर्गमाय निष्क्रमाय पुरमार्गसंस्क्रियां धूलिसंमार्ज्जनगन्धोदकसेचनपुष्पोपहाररूपसंस्कारं यावदादिशति आज्ञापयति तावत् मरुत्सखैः वायुसखैः, अनेन धूलिसंमार्ज्जनं गम्यते, सपुष्पजलवर्षिभिः पुष्पसहितजलवर्षिभिर्घनैः सा मार्गसंस्क्रिया आशु विदधे विहिता। एतेन देवकार्य्ये प्रवृत्तयोर्दैवानुकूल्यं सूचितम् ॥ ३ ॥

ताविति। निदेशकरणोद्यतौ पित्राज्ञाकरणोद्युक्तौ धन्विनौ धनुष्मन्तौ तौ कुमारौ पितुश्चरणयोः निपेततुः प्रणतावित्यर्थः। भूपतेरपि वाष्पविन्दवः प्रवत्स्यतोः प्रवासं करिष्यतोः अतएव नम्रयोः प्रणतयोः। नमिकम्पीति रप्रत्ययः। तयोरुपरि निपेतुः पतिताः ॥ ४ ॥

ताविति। पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुच्छ्रितशिखण्डकौ ईषदुच्छ्रितचूडौ

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं
नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं
सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुने
स्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः।
रेजतुर्गतिवशात् प्रवर्त्तिनौ
भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं
शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागमइवोद्ध्यभिद्ययो
र्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

शिखा चूड़ा शिखण्डः स्यादित्यमरः। शेषाद्विभाषेति कप्प्रत्ययः। धन्विनौ तावुभौ पौरदृष्टिभिः कृतानि मार्गतोरणानि सम्पाद्यानि कुवलयानि ययोस्तौ संधयो निरीक्ष्यमाणावित्यर्थः तमृषिमन्वगच्छताम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मणेति। ऋषिः लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुचरं तं राघवं नेतुमैच्छत् इति हेतोः असौ नृपः आशिषं प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् हि यस्मात् सा आशीरेव तयोः कुमारयोः रक्षणविधौ क्षमा शक्ता॥ ६॥

मातृवर्गेति। मातृवर्गस्य चरणान् स्पृशतइति मातृवर्गचरणस्पृशौ कृतमातृवर्गनमस्कारावित्यर्थः। स्पृशोऽनुदके क्विन्निति क्विन् प्रत्ययः। तौ महौजसोमुनेः पदवीं प्रपद्य महौजसो भास्करस्य गतिवशात् मेषादिराशिसंक्रान्त्यनुसारात् प्रवर्त्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतुः। फणाञ्च सप्तानामिति वैकल्पिकावेत्वाभ्यासलोपौ। स्याच्चैत्रे चैत्रकोमधुः, वैशाखे माधवोराधइति चामरः ॥ ७ ॥

वीचीति। वीचिलोलभुजयोः तरङ्गचञ्चलबाह्वोः। इदं विशेषणं नद्योपमानसिद्ध्यर्थं वेदितव्यम्। तयोः चपलं चञ्चलमपि गतंगतिः शैशवाद्धेतोरशोभत। किमिव तोयदागमे वर्षासमये उज्झत्युदकमित्युद्ध्यः भिनत्ति कूलमिति भिद्यः।

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो-
विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ
मातृपार्श्वपरिवर्त्तिनाविव ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः
सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः
पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः
कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभि-
श्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥

भिद्योद्ध्यौ नदे इति क्यबन्तौ निपात्यौ । उद्ध्यभिद्ययोर्नदविशेषयो र्नामधेय-सदृशं नामानुरूपं विचेष्टितमिव उदकोज्झनकूलभेदनरूपव्यापार इव । समयोत्पन्नं चापलमपि शोभतइति भावः ॥ ८ ॥

ताविति । मणिकुट्टिमोचितौ मणिबद्धभूमिसञ्चारोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः कौशिकेनोपदिष्टयोः बलातिबलयोः विद्ययोः बलातिबलाख्ययोर्मन्त्रयोः प्रभावतः सामर्थ्यात् मातृपार्श्वपरिवर्त्तिनाविव पथि न मम्लतुः न म्लानावित्यर्थः । अत्र रामायणश्लोकः । क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम । बलामतिबलाञ्चैव पठतः पथि राघव ॥ ९ ॥

पूर्व्वेति । वाहनोचितः सानुजो राघवः पुराविदः पूर्व्ववृत्ताभिज्ञस्य पितृ-सखस्य मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथाभिरुह्यमान इव वाहनेन प्राप्यमाणइव । वहेर्धातोः कर्म्मणि शानच् । पादचारमपि न व्यभावयत् न ज्ञातवान् ॥ १० ॥

ताविति । तौ राघवौ कर्म्मभूतौ सरांसि कर्त्तृणि रसवद्भिर्मधुरैरम्बुभिः सिषेविरे, पतत्त्रिणः पक्षिणः सुखयन्तीति सुखानि पचाद्यच् । श्रुतीनां सुखानि तैः कूजितैः, वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः, जलदाः छायया च, सिषेविरे इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा
शाखिनाञ्च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः
प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं
प्राप्य दाशरथिरात्तकार्म्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा
सोऽभवत् प्रतिनिधिर्न कर्म्मणा ॥ १३ ॥

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते
कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी
लीलयैव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

नेति । तप एषामस्तीति तपस्विनः । तपःसहस्राभ्यां विनिरिति विनिप्रत्ययः । लघुना दृष्टेन । विश्लिष्टेऽपि लघुरित्यमरः । तयोरुभयोः कर्म्मभूतयोर्दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः, परिश्रमच्छिदां शाखिनां दर्शनेन च नापुः ॥१२ ॥

स्थाण्विति । स आत्तकार्मुकः दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथी रामः । अत इञिति इञ् प्रत्ययः । स्थाणुर्हरः । स्थाणुः कीले हरे स्थिरे इति विश्वः । तेन दग्धवपुषोमदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन । विग्रहः समरे काये इति विश्वः । प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः सदृशोऽभवत् कर्म्मणा न पुनः । देहेन मदनसुन्दर इति भावः ॥ १३ ॥

ताविति । अत्र रामायणवचनम् । अगस्त्यः परमः क्रुद्धस्ताड़कामभिशप्तवान् । पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना । इदं रूपमपाहाय दारुणं रूपमस्तु ते इति । तदेतदाह विदितशापयेति । कौशिकादाख्यातुः । आखातोपयोग इत्यपादानात् पञ्चमी । विदितशापया सुकेतुसुतया ताड़कया खिलीकृते पथि । खिलमप्रहतं स्थानमिति हलायुधः । तौ रामलक्ष्मणौ स्थले निवेशिते अटनी धनुःकोटी याभ्यां तौ तथोक्तौ । कोटिरस्याटनिरित्यमरः । लीलयैव धनुषी अधिकृते ज्ये

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः
प्रादुरास बहुलक्षपाच्छविः ।
ताड़का चलकपालकुण्डला
कालिकेव निविड़ा बलाकिनी ॥ १५ ॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया
प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया ।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया
वात्ययेव पितृकाननोत्थया ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं
श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।

मौर्व्यौ ययोस्ते अधिज्ये । ज्या मौर्व्वी मातृभूमिषु इति विश्वः । तयोर्भावस्तत्ताम-धिज्यतां निन्यतुः नीतवन्तौ । नयतिर्द्विकर्म्मकः ॥ १४ ॥

ज्येति । अथ तयोर्ज्यानिनादं गृह्णती जानती शृण्वतीत्यर्थः । बहुलक्ष-पाच्छविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा । बहुलः कृष्णपक्षे चेति विश्वः । चले कपाले एव कुण्डले यस्याः सा तथोक्ता ताड़का, निविड़ा सान्द्रा बलाकिनी बलाकावती । व्रीह्यादिभ्यश्चेतीनिः । कालिकेव घनावलीव । कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये गौर्य्यां घनावलाविति विश्वः । प्रादुरास प्रादुर्बभूव ॥ १५ ॥

तीव्रेति । तीव्रवेगेन धुताः कम्पिताः मार्गवृक्षाः यया तथोक्तया प्रेतची-वराणि वस्ते इति प्रेतचीवरवाः तया प्रेतचीवरवसा । वसतेराच्छादनार्थात् क्विप् । स्वनेन सिंहनादेन उग्रया तया ताड़कया पितृकानने श्मशाने उत्था उत्पन्ना । आतश्चोपसर्गे इति उत्पूर्वात्तिष्ठतेः कर्त्तरि कप्रत्ययः । तया वात्ययेव वातसमूहेनेव पाशादिभ्योय इति यः । भरताग्रजो रामोऽभ्यभावि अभिभूतः । कर्म्मणि लुङ् । तीव्रवेगेत्यादिविशेषणानि वात्यायामपि योज्यानि ॥ १६ ॥

उद्यतेति । उद्यता उन्नमिता एका भुजएव यष्टिर्यस्यास्ताम् आयतीमाया-न्तीम् । इणोधातोः शतरि उगितश्चेति ङीप् । श्रोणिलम्बिनी पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् । विशेषणद्वयेनापि आततायित्वं सूचितम् । अतएव तां विलोक्य राघवो वनितावधे घृणां जुगुप्सां करुणां वा । जुगुप्साकरुणे घृणे इत्य-

तां विलोक्य वनितावधे घृणां
पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥
यच्चकार विवरं शिलाघने
ताड़कोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां
द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥
बाणभिन्नहृदया निपेतुषी
सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां
रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥
राममन्मथशरेण ताड़िता
दुःसहेन हृदये निशाचरी ।

मरः । पत्रिणा इषुणा सह । पत्री रोप इषुर्द्वयोरित्यमरः । मुमोच मुक्तवान् । आततायिवधे मनुः । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चनेति ॥ १७ ॥

यदिति । स रामसायकः शिलावत् घने सान्द्रे ताड़कोरसि यद्विवरं रन्ध्रं चकार तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि चेति विश्वः । अन्तकस्य यमस्य द्वारताम् अगमत् । इयं प्रथमा रक्षोऽस्ततिरिति भावः ॥ १८ ॥

बाणेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुषी निपतिता सती । क्वसुश्चेति क्वसुप्रत्ययः, उगितश्चेति ङीप् । सा केवलामेकाम् । निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोरित्यमरः । स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् किन्तु विष्टपत्रयस्य लोकत्रयस्य पराजयेन स्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् । ताड़कावधश्रवणेन रावणस्यापि भयमुत्पन्नमिति भावः ॥ १९ ॥

अत्र ताड़कायाः अभिसारिकायाः समाधिरभिधीयते

रामेति । सा निशासु चरतीति निशाचरी राक्षसी अभिसारिका च दुःसहेन सोढुमशक्येन रामएव मन्मथः अत्यन्ताभिरामो मन्मथस्तस्य शरेण हृदये उरसि

गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता
जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २० ॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः
प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्
सूर्य्यकान्तइव ताड़कान्तकः ॥ २१ ॥

वामनाश्रमपदं ततः परं
पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टिता-
न्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ २२ ॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः
शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणाम् ।

मनसि च । हृदयं मनउरसोरिति विश्वः । ताड़िता विद्धा गन्धवत् दुर्गन्धि यद्रुधिरम् असृक् तदेव चन्दनं तेनोक्षिता लिप्ता अपरत्र गन्धवती सुगन्धिनी ये रुधिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताभ्यामुक्षिता । रुधिरं कुङ्कुमासृजोरित्युभयत्रापि विश्वः । जीवितेशस्यान्तकस्य प्राणेश्वरस्य च वसतिं जगाम ॥ २० ॥

नैर्ऋतेति । अथानन्तरं ताड़कान्तको रामः अवदानं पराक्रमः । पराक्रमोऽवदानं स्यादिति भागुरिः । तेन तोषितात् मुनेः, नैर्ऋतान् राक्षसान् हन्तीति नैर्ऋतघ्नम् । अमनुष्यकर्तृके चेति टक् । मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तम् अस्त्रं सूर्य्यकान्तो मणिविशेषः, भास्करात् इन्धनानि निपातयतीति इन्धननिपाति काष्ठदाहकं ज्योतिरिव, प्रापत् प्राप्तवान् ॥ २१ ॥

वामनेति । ततःपरं राघवः ऋषेः कौशिकादाख्यातुः श्रुतं पावनं शोधनं वामनस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्य आश्रमपदमुपेयिवान् उपगतः सन् । उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चेति निपातः । प्रथमजन्मचेष्टितानि रामवामनयोरैक्यात् स्मृतियोग्यान्यपि रामस्याज्ञानावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव ॥ २२ ॥

आससादेति । ततो मुनिः शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जिता अर्हणा पूजा-

बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं
दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतु-
र्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः ।
लोकमन्धतमसात् क्रमोदितौ
रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तविन्दुभि-
र्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम् ।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्म्मणा-
मृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५ ॥

सामग्री यस्मिन् तत्तथोक्तं बद्धाः पल्लवपुटा एव अञ्जलयो यैस्ते तथाभूताः द्रुमा यस्मिन् तत्तथोक्तं दर्शनेन मुनिदर्शनेन उन्मुखाः मृगाः यस्मिंस्तत् आत्मनस्तपोवनम् आससाद । एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्कारताच्छील्यविनयशान्तयः सूचिताः ॥ २३ ॥

तत्रेति । तत्र तपोवने दशरथात्मजौ दीक्षितं दीक्षासंस्कृतम् ऋषिं शरैः विघ्नतोविघ्नेभ्यः, क्रमेण पर्य्यायेण रात्रिदिवसयोः उदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः अन्धतमसाद्गाढ़ध्वान्तात् । ध्वान्ते गाढ़ेऽन्धतमसमित्यमरः । अवसमन्धेभ्यस्तमस इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः । लोकमिव ररक्षतुः रक्षणप्रवृत्तावभूतामित्यर्थः ॥ २४ ॥

वीक्ष्येति । अथ बन्धुजीवपृथुभिः बन्धुजीवकुसुमस्थूलैः । रक्तकस्तु बन्धूकोबन्धुजीवकः इत्यमरः । रक्तविन्दुभिः प्रदूषिताम् उपहतां वेदिं वीक्ष्य अपोढ़कर्म्मणां च्युताः विकङ्कतस्रुचो येभ्यस्तेषाम् ऋत्विजां याजकानां सम्भ्रमोऽभवत् । विकङ्कतग्रहणं खदिराद्युपलक्षणं स्रुगादीनां खदिरादिप्रकृतिकत्वात् स्रुगादिपात्रस्यैव विकङ्कतप्रकृतिकत्वात् । विकङ्कतः स्रुवावृक्ष इत्यमरः । यद्वा स्रुङ्मात्रस्य विकङ्कतप्रकृतिकत्वमस्तु उभयत्रापि शास्त्रसम्भवात् । यथाह भगवानापस्तम्बः । खादिरस्रुचः पर्णमयीर्जुहुयात् वैकङ्कतीः स्रुचो वेति ॥ २५ ॥

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो-
वाणमाश्रयमुखात् समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे
गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां
तौ शरव्यमकरोत् स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो
राजिलेषु गरुड़ः प्रवर्त्तते ॥ २७ ॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः
सन्दधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्
पाण्डुपत्रमिव ताड़कासुतम् ॥ २८ ॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपर-
स्तत्र तत्र विससर्प मायया ।

उन्मुख इति । सपदि लक्ष्मणाग्रजो रामो वाणम् आश्रयमुखात् तूणीरमुखात् समुद्धरन् उन्मुखः ऊर्द्धमुखः । अम्बरे गृध्रपक्षपवनैरीरिताः कम्पिता ध्वजा यस्य तत्तथोक्तम् । रक्षसां दुर्निमित्तसूचनमेतत् । तदुक्तं शकुनार्णवे । आसन्नमृत्यो र्निकटे चरन्ति गृध्रादयो मूर्द्ध्नि गृहोर्ध्वभागे इति । रक्षसां बलमपश्यत् ॥ २६ ॥

तत्रेति । स रामः तत्र रक्षसां बले यौ मखद्विषामधिपती तौ सुबाहुमारीचौ शरव्यं लक्ष्यमकरोत् । वेध्यं लक्ष्यं शरव्यं चेति हलायुधः । इतरान्नाकरोत् । तथाहि महोरगविसर्पिविक्रमो गरुड़ो गरुत्मान् राजिलेषु जलव्यालेषु प्रवर्त्तते किं, न प्रवर्त्तते इत्यर्थः । अलगर्द्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ इत्यमरः ॥ २७ ॥

स इति । अस्त्रकोविदोऽस्त्रज्ञः स रामः उग्रजवम् उत्कटजवं वायुदैवतं वायुर्दैवतं यस्य तद्वायव्यमस्त्रं धनुषि सन्दधे संहितवान् । कर्त्तरि लिट् । तेनास्त्रेण शैलवद्गुरुमपि ताड़कासुतं मारीचं पाण्डुपत्रमिव परिणतपर्णमिवेत्यर्थः अपातयत् पातितवान् ॥ २८ ॥

तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती
पत्त्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ २९ ॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः
सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपते र्यथाक्रमं
वाग्यतस्य निरवर्त्तयन् क्रियाः ॥ ३० ॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ
भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशत्
दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥

तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतु-
र्मैथिलः स मिथिलां व्रजन् वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ
तद्धनुःश्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥

यदिति । सुबाहुरिति योऽपरो राक्षसः तत्र तत्र मायया शम्बरविद्यया विससर्प सञ्चचार, क्षुरप्रैः शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहुं कृती कुशलो रामः । कृती च कुशलः समावित्यमरः । आश्रमाद्बहिः पत्त्रिणां पक्षिणाम् । पत्त्रिणौ शरपक्षिणौ इत्यमरः । व्यभजत् विभज्य दत्तवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

इतीति । इति अपास्तमखविघ्नयोस्तयोः राघवयोः संयुगे साधुः सांयुगीनः तम् । प्रतिजनादिभ्यः खञिति खञ्प्रत्ययः । सांयुगीनो रणे साधुरित्यमरः । विक्रममभिनन्द्य ऋत्विजो याज्ञिका वाचि यता वाग्यता मौनी तस्य कुलपतेः मुनिकुलेश्वरस्य क्रियाः क्रतुक्रियाः यथाक्रमं निरवर्त्तयन् निष्पादितवन्तः ॥ ३० ॥

ताविति । अवभृते दीक्षान्ते आप्लुतः स्नातो मुनिः । दीक्षान्तोऽवभृथो-यज्ञ इत्यमरः । प्रणामेन चलकाकपक्षकौ चञ्चलचूड़ौ तौ भ्रातरौ आशिषामनु-पदम् अन्वक् दर्भपाटिततलेन कुशक्षतान्तःप्रदेशेन पवित्रेणेत्यर्थः पाणिना समस्पृशत् संस्पृष्टवान् सन्तोषादिति भावः ॥ ३१ ॥

तमिति । सम्भृतक्रतुः सङ्कल्पितसम्भारः मिथिलायां भवो मैथिलो जनकः

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः
सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो
वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत् पुन-
श्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां
रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं
तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्य्यया
देहबद्धमिव धर्म्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

तं विश्वामित्रं न्यमन्त्रयत आहूतवान्, वशी स मुनिः मिथिलां जनकनगरीं व्रजन् तस्य जनकस्य यद्धनुः तच्छ्रवणजं कुतूहलं बिभ्रतौ राघवावपि निनाय नीतवान् ॥ ३२ ॥

तैरिति । गताध्वभिस्तैस्त्रिभिः सायं शिवेषु रम्येषु आश्रमतरुषु वसतिः स्थानमगृह्यत, येष्वाश्रमतरुषु दीर्घतपसो गौतमस्य परिग्रहः पत्नी । पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहा इत्यमरः । अहल्येति यावत् । वासवस्येन्द्रस्य क्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यतेति । शिलामयी भर्तृशापात् शिलात्वं प्राप्ता गौतमवधूरहल्या चारु स्वं वपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती यत्, स किल्बिषच्छिदां पापहारिणाम् । पापं किल्बिषकल्मषमित्यमरः । रामपादरजसाम् अनुग्रहः प्रसादः किल श्रूयते ॥ ३४ ॥

राघवेति । राघवाभ्यामन्वितं युक्तम् उपस्थितम् आगतं तं मुनिं जनको जनेश्वरः निशम्य, अर्थकामाभ्यां सहितं देहबद्धं बद्धदेहं मूर्त्तिमन्तमित्यर्थः । वाहिताग्न्यादित्वात् साधु । धर्म्ममिव, सपर्य्यया अभ्यगात् प्रत्युद्गतवान् ॥ ३५ ॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां
गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः
पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ ३६ ॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ
कालवित् कुशिकवंशवर्द्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं
मैथिलाय कथयाम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः
पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं
पीड़ितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥

ताविति । दिवः सुरवर्त्मनः आकाशात् । द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोरिति विश्वः । गां भुवं गतौ । स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौरित्यमरः । पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ तौ राघवौ विलोचनैः पिबतां अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः कर्त्तृ पक्ष्मपातं निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वात् वञ्चनां विड़म्बनां मन्यते स्म मेने । लट् स्मे इति भूतार्थे लट् ॥ ३६ ॥

यूपेति । यूपवति क्रियाविधौ कर्म्मानुष्ठाने क्रतावित्यर्थः अवसिते समाप्ते सति कालविदवसरज्ञः कुशिकवंशवर्द्धनः स मुनिः रामम्, अस्यत्यनेनेति असनम् इषूणामसनम् इष्वसनं चापं तस्य दर्शने उत्सुकम्, मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव कथितवान् ॥ ३७ ॥

तस्येति । पार्थिवो जनकः प्रथितवंशे जन्म यस्य तथोक्तस्य, एतेन वरसम्पत्तिरुक्ता । शिशोस्तस्य रामस्य ललितं कोमलं वपुः वीक्ष्य, स्वं स्वकीयं दुरानममानमयितुमशक्यम् । नमेर्ण्यन्तात् खल् । धनुः विचिन्त्य च, दुहितृशुल्कं कन्यामूल्यं जामातृदेयं । शुल्कं घट्टादिदेये स्यात् जामातृबन्धकेऽपि चेति विश्वः । तस्य धनुर्भङ्गरूपस्य संस्थया स्थित्या । संस्था स्थितौ इति विश्वः । पीड़ितो बाधितः, शिशुना रामेण दुष्करमिति दुःखित इति भावः ॥ ३८ ॥

अब्रवीच्च भगवन् मतङ्गजै-
र्यद्बृहद्भिरपि कर्म्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे
मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥ ३८ ॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरा-
स्तेन तात धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्
स्वान् विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥ ४० ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां
सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति
व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

एवमाप्तवचनात् स पौरुषं
काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।

अब्रवीदिति । अब्रवीच्च मुनिमिति शेषः । किमिति, हे भगवन् मुने बृहद्भिः मतङ्गजैर्महागजैरपि दुष्करं यत् कर्म्म तत्र कर्म्मणि कलभस्य बालगजस्य । कलभः करिशावक इत्यमरः । मोघवृत्ति व्यर्थव्यापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमहं नोत्सहे ॥ ३८ ॥

ह्रेपिता इति । हे तात तेन धनुषा बहवो धनुर्भृतो नरेश्वराः ह्रेपिताः ह्रियं प्रापिताः ह्रि । जिह्रेतेर्धातोर्ण्यन्तात् कर्म्मणि क्तः । अर्त्तिह्रीत्यादिना पुगागमः । ते नरेश्वराः ज्यानिघातैः कठिनत्वचः स्वान् भुजान् धिगिति विधूयावमत्य प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४० ॥

प्रतीति । ऋषिस्तं प्रत्युवाच । किमिति, अयं रामः सारतो बलेन निशम्यतां श्रूयताम्, अथवा गिरा सारवर्णनया कृतम् अलं गीर्न वक्तव्येत्यर्थः । युगपर्य्याप्तयोः कृतमित्यमरः । अव्ययं चैतत् कृतं निवारणनिषेधयोरिति गणव्याख्याने । गिरेति करणे तृतीया, निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् । किन्तु अशनिर्वज्रो गिराविव चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिः दृष्टसारो भविष्यति ॥ ४१ ॥

श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके
दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥
व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्
कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये
तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥
तत् प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं
वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं
येन बाणमसृजत् वृषध्वजः ॥ ४४ ॥
आततज्यमकरोत् स संसदा
विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।

एवमिति । एवम् आप्तस्य मुनेर्वचनात् स जनकः काकपक्षकधरे बालेऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म्म पौरुषं पराक्रमम् । हायनान्तयुवादिभ्योऽणिति युवादित्वादण् । पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्म्मणि तेजसीति विश्वः । त्रिदशगोप इन्द्रगोपकीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्रः । प्रमाणे द्वयसजित्यादिना मात्रच् प्रत्ययः ततः स्वार्थे कः । तस्मिन् कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्दधे विश्वस्तवान् ॥ ४२ ॥

व्यादिदेशेति । अथ मैथिलः पार्श्वगान् पुरुषान् कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम् । तुमर्थाच्चेति चतुर्थी । सहस्रलोचनः इन्द्रः तैजसस्य तेजोमयस्य धनुषः प्रवृत्तये आविर्भावाय तोयदान् मेघानिव गणान् गणान् गणशः । सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायामिति शस्प्रत्ययः । व्यादिदेश प्रजिघाय ॥ ४३ ॥

तदिति । दाशरथी रामः प्रसुप्तभुजगेन्द्र इव भीषणं भयङ्करं तद्धनुर्वीक्ष्य आददे जग्राह । वृषो ध्वजः चिह्नं यस्य स शिवो येन धनुषा, क्रतुरेव मृगः विद्रुतं पलायितं क्रतुमृगमनुसरति । ताच्छील्ये णिनिः । तं विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजत् मुमोच ॥ ४४ ॥

आततेति । स रामः संसदा सभया विस्मयेन स्तिमितं नेत्रं यस्मिन् कर्म्मणि

शैलसारमपि नातियत्नतः
पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥
भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्
तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः
क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥
दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके
वीर्य्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां
रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो
राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधे-
रग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

तत् यथा स्यात्तथा ईक्षितः सन् शैलस्येव सारो यस्य तच्छैलसारमपि धनुः स्मरः पेशलं कोमलं पुष्पचापमिव नातियत्नतः नातियत्नात् । नजर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । आततज्यमधिज्यमकरोत् ॥ ४५ ॥

भज्यमानमिति । तेन रामेण अतिमात्रकर्षणात् भज्यमानम् अतएव वज्रपरुषस्वनं वज्रमिव परुषः स्वनो यस्य तत् धनुः कर्त्तृ दृढमन्यवे दृढक्रोधाय । मन्युः क्रोधे क्रतौ दैन्ये इति विश्वः । भार्गवाय क्षत्रं क्षत्रकुलं पुनरुद्यतं न्यवेदयदिव ज्ञापयामासेव ॥ ४६ ॥

दृष्टेति । अथ मैथिलो जनकः रुद्रकार्मुके दृष्टः सारः स्थिरांशो यस्य तद्दृष्टसारम् । सारो बले स्थिरांशे चेति विश्वः । वीर्य्यमेव शुल्कं धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामाय अयोनिजां देवयजनसम्भवां तनयां सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षाल्लक्ष्मीमिव न्यवेदयत् अर्पितवान् वाचेति शेषः ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह

मैथिल इति । सत्यसङ्गरः सत्यप्रतिज्ञः । अथ प्रतिज्ञाजिज्ञासासम्पादपत्नु

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः
कोसलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहा-
द्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां
प्राप चैनमनुकूलवाक् द्विजः।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते
कल्पवृक्षफलधर्म्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः
शुश्रुवान् वचनमग्रजन्मनः।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी
सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

सङ्गर इत्यमरः। मैथिलो राघवाय अयोनिजां तनयां द्युतिमतस्तेजस्विनः तपोनिधेः कौशिकस्य सन्निधौ अग्निः साक्षी यस्य स अग्निसाक्षिकः। शेषाद्विभाषेति कप्प्रत्ययः। स इव सपदि अतिसृष्टवान् दत्तवान् ॥ ४८ ॥

प्राहिणोदिति। महाद्युतिर्जनकः महितं पूजितं पुरोधसं कोसलाधिपतये दशरथाय प्राहिणोत् प्रहितवांश्च। किमिति, निमिर्नाम जनकानां पूर्व्वजः कश्चित्। इदं निमेः कुलं दुहितुः सीतायाः परिग्रहात् स्नुषात्वेन स्वीकाराद्धेतोः भृत्यस्य भावो भृत्यत्वं सोऽस्यास्तीति भृत्यभावि दिश्यतामनुमन्यतामिति ॥ ४९ ॥

अन्वियेषेति। स दशरथश्च सदृशीमनुरूपां स्नुषामन्वियेष रामविवाहमाचकाङ्क्षेत्यर्थः, अनुकूलवाक् स्नुषासिद्धिरूपानुकूलार्थवादी द्विजो जनकपुरोधाश्चैनं दशरथं प्राप। तथाहि कल्पवृक्षफलस्य यो धर्म्मः सद्यःपाकरूपः सोऽस्यास्तीति कल्पवृक्षफलधर्म्मि अतः सुकृतां पुण्यकारिणां काङ्क्षितं मनोरथः सद्य एव पच्यते हि। कर्म्मकर्त्तरि लट्। स्वयमेव पक्वं भवतीत्यर्थः। कर्म्मवत्कर्म्मणा तुल्यक्रिय इति कर्म्मवद्भावात् भावकर्म्मणोरित्यात्मनेपदम् ॥ ५० ॥

तस्येति। बलभित्सखः इन्द्रसहचरः वशी स्वाधीनतावान्। वश आयत्तता चेति विश्वः। कल्पितपुरस्क्रियाविधेः कृतपूजाविधेस्तस्याग्रजन्मनो द्विजस्य

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्
पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी
स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ
भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां
स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो
लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्म्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ
तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

वचनं जनकेन सन्दिष्टं शुश्रुवान् श्रुतवान् । शृणोतेः क्वसुः । सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन् उच्चचाल प्रतस्थे ॥ ५१ ॥

आससादेति । स दशरथो बलैः सैन्यैः पीड़ितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन् परिधीकुर्व्वन् आससाद । सा पुरी, स्त्री युवति-रायतम् अतिप्रसक्तं कान्तपरिभोगं प्रियसम्भोगमिव, प्रीत्या रोधं प्रीतिरोधम् असहिष्ट सोढ़वती । द्वेषरोधन्तु न सहत इति भावः ॥ ५२ ॥

ताविति । समये स्थितौ आचारनिष्ठौ । समयाः शपथाचार कालसिद्धान्तसंविद इत्यमरः । वरुणवासवौ उपमा उपमानं ययोस्तौ तथोक्तौ तावुभौ भूपती जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीम् आत्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तनयानां रामादीनाञ्च कौतुकक्रियां विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ । तनोतेर्लिट् ॥ ५३ ॥

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वहः । पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघूद्वहोरामः पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवी । तस्यापत्यमित्यणि टिड्ढेति ङीप् । तां सीतामुदवहत् परिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्याः सीतायाः अनुजां जनकस्यौरसीम् ऊर्म्मिलाम् उदवहत् । यौ वरौजसौ तयोः रामलक्ष्मणयोरवरजौ अनुजातौ

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः
सूनवो नवबधूपरिग्रहात् ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः
सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजै-
स्ते च ताभिरगमन् कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः
प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ ५६ ॥

एवमात्तरतिरात्मसम्भवां-
स्तान्निवेश्य चतुरोपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः
स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्त्तत ॥ ५७ ॥

भरतशत्रुघ्नौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्त्तिञ्च उदवहताम् । नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषः भिन्नोदरत्वात् । तदुक्तं पितृव्यपुत्रे सापत्न्ये परनारीसुतेषु च । विवाहाधानयज्ञादौ परिवेत्ताद्यदूषणमिति॥५४॥

तद्दति । ते चतुर्थसहितास्त्रयश्चत्वार इत्यर्थः । वृत्तानुसारादेवमुक्तम् । सूनवो नवबधूपरिग्रहात्, सिद्धिमन्तः फलसिद्धियुक्ताः तस्य भूपतेर्दशरथस्य सामदानविधिभेदनिग्रहाः चत्वार उपाया इव बभुः । विधीयते इति विधिः, दान एव विधिः, निग्रहो दण्डः । सूनूनामुपायैः बधूनां सिद्धिभिश्चौपम्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ५५ ॥

तादिति । ता नराधिपसुताः जनककन्यकाः नृपात्मजैः दशरथपुत्रैः कृतार्थतां कुलशीलवयोरूपादिसाफल्यमगमन् ते च ताभिस्तथा । किञ्च स वराणां बधूनाञ्च समागमः प्रत्ययानां प्रकृतीनाञ्च योग एव सन्निभातीति सन्निभोऽभवत् । पचाद्यच् । प्रत्ययाः सामादयो येभ्यो विधीयन्ते ताः प्रकृतयः । यथा प्रकृतिप्रत्यययोः सहैकार्थसाधनत्वं तद्वदत्रापीति भावः ॥ ५६ ॥

एव मिति । एवमात्तरतिरनुरागवान् स दशरथः तांश्चतुरोऽप्यात्मसम्भवान् पुत्रान् तत्र मिथिलायां निवेश्य विवाह्य । निवेशः शिविरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्त्ति-

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगाः
वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः ।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनी-
मुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रवि-
र्बद्धभीमपरिवेशमण्डलः ।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो
भोगवेष्टितइव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः
सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः ।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो
नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

त इति विश्वः । त्रिष्वध्वसु प्रयाणेषु सत्सु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं न्यवर्त्तत । उद्देशक्रियापेक्षया कर्म्मत्वं पुर्य्याः ॥ ५७ ॥

तस्येति । जातु कदाचित् वर्त्मसु ध्वजाएव तरवस्तान् प्रमथ्नन्ति ये ते ध्वजतरुप्रमाथिनः प्रतीपगाः प्रतिकूलगामिनो मरुतः उत्तटा नदीरयाः स्थलीम् अकृत्रिमभूमिमिव । जानपदेत्यादिना ङीप् । तस्य वरूथिनीं सेनां भृशतया भृशं चिक्लिशुः क्लिश्यन्ति स्म ॥ ५८ ॥

लक्ष्यत इति । तदनन्तरं प्रतीपपवनानन्तरं बद्धं भीमं परिवेशस्य परिधेर्मण्डलं यस्य सः । परिवेशस्तु परिधिरुपसूर्य्यकमण्डले इत्यमरः । रविः वैनतेयशमितस्य गरुड़हतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन । भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरित्यमरः । वेष्टितश्च्युतः शिरोभ्रष्टो मणिरिव लक्ष्यते स्म ॥ ५९ ॥

श्येनेति । श्येनपक्षा एव परिधूसराः अलका यासां ताः सान्ध्यमेघाएव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां तथोक्ताः रजोधूलिरासाम् अस्तीति रजस्वलाः । रजःकृष्यासुतिपरिषदोवलजिति वलच्प्रत्ययः । दिशो रजस्वलाः ऋतुमत्योऽङ्गना इव । स्याद्रजः पुष्पमार्त्तव मित्यमरः । अवलोकनक्षमाः दर्शनार्हा नो बभूवुः । एकत्रादृष्टदोषादपरत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम् । अत्र रजोदृष्टिस्तस्मात उक्तः ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां
तां श्रिताः प्रतिभयं ववाशिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं
चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

तत् प्रतीपपवनादि वैकृतं
प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः
स्वन्तमित्यलघयत् स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः
प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकै-
र्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं
मातृकञ्च धनुरूर्जितं दधत् ।

भास्कर इति । भास्करो यां दिशमध्युवास च यस्यां दिश्युषितः । उपान्वध्याङ्वस इति कर्म्मत्वम् । तां दिशं श्रिताः शिवाः गोमायवः । स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्त्तका इत्यमरः । क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तत्रोचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववाशिरे रुरुवुः । वाशृ शब्द इतिधातोर्लिट् । तिरश्चां वाशितं रुतमित्यमरः ॥ ६१ ॥

तदिति । तत् प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित् कार्य्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमनर्थनिवृत्तिमधिकृत्य उद्दिश्य गुरुं वशिष्ठमन्वयुङ्क्त अपृच्छत् । प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा चेत्यमरः । स गुरुः स्वन्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयत् लघूकृतवान् ॥ ६२ ॥

तेजस इति । सपदि उत्थितः तेजसोराशिः वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल, यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिराल्लक्षणीया भावनीया पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्तः अभूदिति शेषः ॥ ६३ ॥

यः ससोम इव घर्म्मदीधितिः
सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥
येन रोषपरुषात्मनः पितुः
शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा
प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥
अक्षवीजवलयेन निर्बभौ
दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशते-
र्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥
तं पितुर्वधभवेन मन्युना
राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं
स्वां दशाञ्च विषसाद पार्थिवः ॥ ६७ ॥

पित्र्यमिति । उपवीतं लक्षणं चिह्नं यस्य तं पितुरयं पित्र्यः । वाय्वृतुपित्रुषसोयदिति यत्प्रत्ययः । तदंशम्, धनुषा ऊर्ज्जितं धनुरूर्ज्जितं मातुरयं मातृकः । ऋतष्ठगिति ठक् प्रत्ययः । तदंशञ्च दधत् यो भार्गवः ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्म्मदीधितिः सूर्य्य इव, सद्विजिह्वः ससर्पः चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥ ६४ ॥

येनेति । रोषपरुष आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिरित्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदो मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राक् घृणा अजीयत ततोऽनन्तरं मही अजीयत । मातृहन्तुः क्षत्रवधात् कुतो जुगुप्सेति भावः ॥ ६५ ॥

अक्षेति । यो भार्गवः दक्षिणश्रवणे संस्थितेनाक्षवीजवलयेन अक्षमालया क्षत्रियान्तकरणानां क्षत्तियवधानां एकविंशतेरेकविंशति संख्यायाः व्याजोऽक्षमालारूपः पूर्व्वो यस्यास्तां गणनामुद्वहन्निव निर्बभौ ॥ ६६ ॥

तमिति । पितुर्जमदग्नेर्वधभवेन क्षत्रियकर्तृकवधोद्भवेन मन्युना कोपेन राज-

नाम राम इति तुल्यमात्मजे
वर्त्तमानमहिते च दारुणे ।
ह्रादमस्य भयदायि चाभव-
द्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥

अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं
सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्त्रकोपदहनार्च्चिषं ततः
सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥

तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना
राघवो विगतभीः पुरोगतः ।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं
कुर्व्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥

वंशानां निधनाय नाशार्थम् । निधनं स्यात् कुले नाशे इति विश्वः । दीक्षितं प्रवृत्तमित्यर्थः तं भार्गवं स्वां दशां चावलोक्य बालाः सूनवो यस्य स पार्थिवो विषसाद । स्वस्यातिदौर्बल्यात् शत्रोस्त्वातिक्रोधात् कान्दिशीकोऽभवदित्यर्थः ॥६७॥

नामेति । आत्मजे पुत्रे दारुणे घोरेऽहिते शत्रौ च तुल्यमविशेषेण वर्त्तमानं रामइति नाम हारसर्पयोर्वर्त्तमानं रत्नजातमिवास्य दशरथस्य ह्रादं हृदयङ्गमं भयदायि भयङ्करं चाभवत् ॥ ६८ ॥

अर्घ्यमिति । स भार्गवोऽर्घ्यम् अर्घ्यमिति वादिनं नृपमनवेक्ष्य यतो यत्र भरताग्रजः ततस्तत्र । इतराभ्योपि दृश्यन्ते इति सार्व्वविभक्तिकस्तसिः । क्षत्त्रे क्षत्रकुले विषये यः कोपदहनो रोषाग्नि स्तस्यार्च्चिषं ज्वालामिव स्थिताम् । ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्च्चि रित्यमरः । उदग्रा तारका कनीनिका यस्यास्ताम् । तारकाक्ष्णः कनीनिकेत्यमरः । दृशं सन्दधे ॥ ६९ ॥

तेनेति । कार्मुकनिषक्तमुष्टिना शरमङ्गुलीविवरचारिणं कुर्वता योद्धुमिच्छता युयुत्सुना तेन भार्गवेण विगतभीः निर्भीकः पुरोगतोऽग्रगतः राघवो निजगदे उक्तः । कर्म्मणि लिट् ॥ ७० ॥

क्षत्रजातमपकारवैरि मे
तन्निहत्य बहुशः शमं गतः ।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टना-
द्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ ७१ ॥

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवै-
स्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः ।
तन्निशम्य भवता समर्थये
वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं
शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति
व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं
द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।

क्षत्त्रेति । क्षत्त्रजातं क्षत्त्रजाति मे अपकारेण पितृवधरूपेण वैरि द्वेषि तत् क्षत्त्रजातं बहुशः एकविंशतिवारान् निहत्य शमं गतोऽस्मि तथापि सुप्तसर्पः दण्डघट्टनादिव तव विक्रमस्य श्रवादाकर्णनात् रोषितो रोषं प्रापितोऽस्मि ॥ ७१ ॥

मैथिलस्येति । अन्यैः पार्थिवैः अनमितपूर्व्वं पूर्व्वमनमितम् । सुप्सुपेति समासः । अस्य मैथिलस्य धनु-स्त्व-मक्षणोः क्षतवान् किलेति वार्त्तायाम् । वार्त्तासम्भाव्ययोः किलेत्यमरः । तद्धनुर्भग्नं निशम्याकर्ण्य भवता आत्मनो मम वीर्य्यमेव शृङ्गं भग्नमिव समर्थये मन्ये ॥ ७२ ॥

अन्यदेति । अन्यदा अन्यस्मिन् काले जगति राम इत्ययं शब्दः उच्चरितः सन् मामेवागात्, सम्प्रति त्वयि उदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्ति विपरीतवृत्तिः अन्यगामीति यावत्, स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति ॥ ७३ ॥

बिभ्रत इति । अचले क्रौञ्चाद्रावपि अकुण्ठितम् अस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ, धेनोः पितृहोमधेनो र्वत्सस्य हरणाद्धेतोः

धेनुवत्सहरणाच्च हैहय-
स्त्वञ्च कीर्त्तिमपहर्त्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥
क्षत्त्रियान्तकरणोऽपि विक्रम-
स्तेन मामवति नाजिते त्वयि।
पावकस्य महिमा स गण्यते
कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥
विद्धि चात्तबलमोजसा हरे-
रैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया।
खातमूलमनिलो नदीरयैः
पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥
तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया
संगमय्य सशरं विकृष्यताम्।

हैहयः कार्त्तवीर्य्यश्च, कीर्त्तिमपहर्त्तुमुद्यतः उद्युक्तस्त्वञ्च। वत्सहरणे भारतश्लोकः। प्रमत्तश्चाश्रमात्तस्य होमधेन्वास्ततोबलात्। जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमानिति ॥ ७४॥

क्षत्त्रियेति। तेन कारणेन क्रियते येनासौ करणः क्षत्रियान्तस्य करणोपि विक्रमः त्वयि अजिते मां नावति न प्रीणाति। तथाहि। पावकस्य अग्नेर्महिमा स गण्यते यः कक्षवत् कक्षेइव। तत्र तस्येवेति सप्तम्यर्थे वतिः। सागरेऽपि ज्वलति ॥ ७५ ॥

विद्धीति। किञ्च ऐश्वरं धनुः हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारञ्च विद्धि यद्धनुस्त्वया अभाजि अभञ्जि। भञ्जेश्च चिणीति विभाषया न लोपः। तथाहि। नदीरयैः खातमूलम् अवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति। ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मा गर्वीरिति भावः ॥ ७६ ॥

तदिति। तत्तस्मात् मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया संगमय्य संयोज्य। ल्यपि लघुपूर्वादिति णेरयादेशः। सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यतां प्रधनं रणस्तिष्ठतु प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः। प्रधनं मारणं रण इति विश्वः। एवमपि

तिष्ठतु प्रधन-मेवमप्यहं
तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

कातरोऽसि यदि-वोद्गतार्च्चिषा
तर्ज्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा
बध्यता-मभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने
भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः
प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

पूर्व्वजन्मधनुषा समागतः
सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोपि सुभगो नवाम्बुदः
किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

भद्धनुःकर्षणेपि अहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । तरसी बलरंहसी इत्यमरः। त्वया जितः ॥ ७७ ॥

कातर इति । यदिवा उद्गतार्च्चिषा उद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्ज्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि, वृथा ज्यानिघातेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः अभययाचनाञ्जलिः बध्यताम् । तौ युतावञ्जलिः पुमानित्यमरः ॥ ७८ ॥

एवमिति । भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति सति, राघवः स्मितेन हासेन विकम्पिताधरः सन् तद्धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुचितम् उत्तरं प्रत्यपद्यत अङ्गीचकार ॥ ७९ ॥

पूर्वेति । पूर्व्वजन्मनि नारायणावतारे यद्धनुस्तेन समागतः सङ्गतः स रामोऽतिमात्रमत्यन्तं लघुदर्शनः प्रियदर्शनोऽभवत् तथाहि नवाम्बुदः केवलः रिक्तोपि सुभगः त्रिदशचापेनेन्द्रधनुषा लाञ्छितश्चिह्नितः किं पुनः । सुभग एवेति भावः ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्
कार्म्मुकञ्च बलिनाधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां
धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

तावुभावपि परस्परस्थितौ
वर्द्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये
पार्व्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं
राघवः स्खलितवीर्य्यमात्मनि ।
स्वञ्च संहितममोघमाशुगं
व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥ ८३ ॥

न प्रहर्त्तुमलमस्मि निर्दयं
विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि ।

तेनेति। बलिना तेन रामेण, भूमिनिहिता एका कोटिर्यस्य तत् तत् कर्म्मणे प्रभवतीति कार्मुकं धनुश्च कर्म्मण उकञित्युकञ्प्रत्ययः। अधिरोपितं, भूभृतां रिपुर्भार्गवश्च धूमशेषो धूमकेतनः अग्निरिव निष्प्रभो निस्तेजस्कः आस बभूव। आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् दीप्त्यर्थकस्यास्तेरूपं वा ॥ ८१ ॥

ताविति। परस्परस्थितावन्योन्याभियुक्तौ। वर्द्धमानञ्च परिहीनञ्चेति द्वन्द्वः। वर्द्धमानपरिहीने तेजसी ययोस्तौ तावुभौ राघवभार्गवावपि दिनात्यये सायंकाले पर्व्वणि भवौ पार्व्वणौ शशिदिवाकराविव जनता जनसमूहः। ग्रामजनबन्धुभ्यस्तलिति तल्प्रत्ययः। पश्यति स्म अपश्यत्। अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुना औपम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

तमिति। हरसूनुसन्निभः स्कन्दसमः कृपामृदुः राघवः आत्मनि विषये स्खलितवीर्य्यं कुण्ठितशक्तिं तं भार्गवं स्वं स्वकीयं संहितम् अमोघमाशुगं वाणं चावेक्ष्य व्याजहार बभाषे ॥ ८३ ॥

नेति। अभिभवत्यपि त्वयि विप्र इति हेतोः निर्दयं प्रहर्त्तुम् अलं शक्तो

ब्रूहि किं गतिमनेन पत्त्रिणा
हन्मि लोकमुत ते मखार्ज्जितम् ॥ ८४ ॥
प्रत्युवाच तमृषिर्न्न तत्त्वत-
स्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम् ।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं
कोपितोह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥
भस्मसात् कृतवतः पितृद्विषः
पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्य्ययोऽपि मे
श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥
तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां
पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीड़यिष्यति न मां खिलीकृता
स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

नास्मि किन्तु अनेन पत्त्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि उत मखार्ज्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि ब्रूहि ब्रूहि ॥ ८४ ॥

प्रतीति । ऋषिर्भार्गव स्तं रामं प्रत्युवाच किमिति तत्त्वतः स्वरूपत स्त्वां पुरातनं पुरुषं न वेद्मि इति न, किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः, किन्तु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपितोह्यसि ॥ ८५ ॥

भस्मसादिति । पितृद्विषः पितृवैरिणो भस्मसात् कृतवतः कोपेन भस्मीकुर्व्वतः । विभाषा सातिः कात्स्न्र्य इति सातिप्रत्ययः । ससागरां वसुधाञ्च पात्रसात् पात्राधीनं देयं कृतवतः । देये त्राचेति चकारात् सातिः । कृतकृत्यस्य मे परमेष्ठिना परमपुरुषेण त्वया आहितः कृतः जयविर्य्ययः पराजयोऽपि श्लाघ्यः आशास्यएव ॥ ८६ ॥

तदिति । तत्तस्मात् कारणात् हे मतिमतां वर पुण्यतीर्थगमनाय आप्तुमिष्टामीप्सितां मे गतिं रक्ष पालय किन्तु खिलीकृता दुर्गमीकृतापि स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपं भोगनिस्पृहं मां न पीड़यिष्यति अतस्तामेव जहीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः
प्राङ्मुखश्च विससर्ज्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोपि सोऽभवत्
स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः
क्षम्यतामिति वदन् समस्पृशत् ।
निर्ज्जितेषु तरसा तरस्विनां
शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्त्तये ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं
पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया
निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते
देवकार्य्यमुपपादयिष्यतः ।

प्रत्यपद्यतेति । राघवः तथेति प्रत्यपद्यत अङ्गीकृतवान्, प्राङ्मुखः इन्द्रदिङ्मुखः सायकं विससर्ज्ज च । स सायकः सुकृतोपि साधुकारिणोपि । करोतेः क्विप् । भार्गवस्य दुरत्ययो दुरतिक्रमः स्वर्गमार्गस्य परिघः प्रतिबन्धोऽभवत् ॥८८॥

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदन् तपोनिधेर्भार्गवस्य चरणौ समस्पृशत् प्रणनाम । तथाहि तरस्विनां बलवतां तरसा बलेन निर्ज्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्त्तये भवतीति शेषः ॥ ८९ ॥

राजसत्वमिति । मातुरागतं मातृकं राजसत्वं रजोगुणप्रधानत्वमवधूय पितुरागतं पित्र्यं शमं यदा गमितोऽस्मि तदा त्वया मम अपेक्षितत्वात् अनिन्दितम् अगर्हितं फलं स्वर्गहानिलक्षणं यस्य सोऽयं निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननु उपकारीकृतः खलु ॥ ९० ॥

साधयामीति । अहं साधयामि गच्छामि, देवकार्य्यमुपपादयिष्यतः सम्पादयिष्यतस्तेऽविघ्नमस्तु विघ्नाभावोऽस्तु । अव्ययं विभक्तीत्यादिना अर्थाभावेऽव्ययीभावः । सह लक्ष्मणेन सलक्ष्मणः तम् । तेन सहेति तुल्ययोगइति बहुव्रीहिः ।

ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं
लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

तस्मिन् गते विजयिनं परिरभ्य रामं
स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत् क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव दृष्टिपातः ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्य्ये
कतिचिदवनिपालः शर्व्वरीः शर्व्वकल्पः ।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
सीताविवाहवर्णनो नाम एकादशः सर्गः ।

लक्ष्मणाग्रजं रामम् इति वच ऊचिवान् उक्तवान् । ब्रूञः क्वसुः । ऋषिस्तिरोदधे अन्तर्दधे ॥ ९१ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् भार्गवे गते सति विजयिनं रामं पिता स्नेहात् परिरभ्य आलिङ्ग्य पुनर्जातमेवामन्यत । क्षणं शुक् यस्येति विग्रहः क्षणशुचस्तस्य दशरथस्य परितोषलाभः सन्तोषप्राप्तिः कक्षाग्निना दावानलेन । कक्षः शुष्ककाननवीरुधोरिति विश्वः । लङ्घितस्याभिहतस्य तरोर्वृष्टिपात इवाभवत् ॥ ९२ ॥

अथेति । अथ, ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः । ईषदसमाप्ताविति कल्पप्प्रत्ययः । अवनिपालः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्य्या यस्मिन् स तस्मिन् पथि कतिचित् शर्व्वरीः रात्री गमयित्वा मैथिलीदर्शनीना-मङ्गनानां लोचनैः कुवलयानि येषां सञ्जातानि कुवलयिताः । तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इति इतच्प्रत्ययः । कुवलयिताः गवाक्षाः यस्या स्तां पुरमयोध्याम् अविशत् प्रविष्टवान् ॥ ९३ ॥

इति श्रीकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां
सञ्जीवनीसमाख्यायामेकादशः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

द्वादशः सर्गः ।

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान् ।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥
तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

वन्दामहे महोद्दण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ ।
तेजोनिर्ज्जितमार्त्तण्डमण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्व्विष्टेति । स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहाः । पचाद्यच् । स्निह्यन्ति पुरुषा येषु इति वा स्नेहाः । अधिकरणार्थे घञ् । विषयाः शब्दादयः तएव स्नेहाः निर्व्विष्टाः भुक्ताः विषयस्नेहाः येन स तथोक्तः । निर्वेशो भृति-भोगयोरिति विश्वः । दशा जीवनावस्था तस्या अन्तं वार्द्धकमुपेयिवान् स दशरथः उषसि प्रदीपार्च्चिरिव दीपज्वालेव आसन्नं निर्व्वाणं मोक्षो यस्य स तथोक्तः आसीत् । अर्च्चिः पक्षे तु विषयो देशः आश्रयो भाजनमिति यावत् । विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेपि चेति विश्वः । स्नेह स्तैलादिकरसे द्रवे स्यात् सौहृ-देपि चेति विश्वः । दशा वर्त्तिका । दशा वर्त्तावस्थायामिति विश्वः । निर्व्वाणं निर्वृत्तौ मोक्षे विनाशे गजमज्जन इति यादवः ॥ १ ॥

तमिति । जरा कैकेयीशङ्कयेव पलितस्य केशादिशौक्ल्यस्य छद्मना मिषेण । पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादावित्यमरः । कर्णमूलं कर्णोपकण्ठमागत्य रामे श्रीः राजलक्ष्मीः न्यस्यतां निधीयतामिति तम् आह । दशरथः वृद्धोऽहमिति विचार्य्य रामस्य यौवराज्याभिषेकं चकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ २ ॥

सा पौरान् पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥
तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥
सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥
तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत् समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छत् वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥
पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥
दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।

सेति। सा पौरकान्तस्य रामस्य अभ्युदयश्रुतिः अभिषेकवार्त्ता, कुल्या कृत्रिमा सरित् । कुल्याल्पा कृत्रिमा सरिदित्यमरः । उद्यानपादपानिव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे ॥ ३ ॥

तस्येति। क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतम् अभिषेकस्य सम्भारम् उपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिर्दूषयामास स्वदुःखमूलेन राजशोकेन प्रतिबबन्धेत्यर्थः ॥ ४ ॥

सेति। चण्डी अतिकोपना। चण्डस्त्वत्यन्तकोपन इत्यमरः। सा किल भर्त्रा आश्वासिता अनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ इन्द्रेण सिक्ता अभिदृष्टा भूर्बिले वल्मीकादौ मग्नावुरगाविव उद्ववाम उज्जगार ॥ ५ ॥

तयोरिति। सा तयोर्वरयोर्मध्ये एकेन वरेण रामं चतुर्दश समाः संवत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। प्राव्राजयत् प्रावासयत् द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलां नतूपभोगफलामिति भावः, श्रियमैच्छत् इयेष ॥ ६ ॥

पित्रेति। रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यत अङ्गीचकार सत्यागदुःखादिति भावः। पश्चात् वनाय गच्छ इति एवंरूपां तदाज्ञां पित्राज्ञां मुदितोऽग्रहीत् पित्राज्ञाकरणलाभादिति भावः ॥ ७ ॥

ददृशु विंस्मिता स्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥
स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद्गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकञ्च सतां मनः ॥ ९ ॥
राजापि तद्वियोगार्त्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥
विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम् ।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ ॥ ११ ॥
अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम् ।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः ॥ १२ ॥
श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः ॥

दधत इति । मङ्गलक्षौमे दधतो वल्कले वसानस्य आच्छादयतश्च तस्य रामस्य समसेकविधं मुखरागं मुखवर्णं जनाः विस्मिताः ददृशुः । सुखदुःखयोरविकृत इति भावः ॥ ८ ॥

सइति । स रामः गुरुं पितरं सत्याद्वरदानरूपादलोपयन् अभ्रंशयन् सीतालक्ष्मणयोः सखेति विग्रहः ताभ्यां सहितः सन् दण्डकारण्यं विवेश सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश । पितृभक्त्या सर्वे सन्तः सन्तुष्टाः इति भावः ॥ ९ ॥

राजेति । तद्वियोगार्त्तः पुत्रवियोगदुःखितः राजापि स्वकर्मणा मुनिपुत्र-वधरूपेण जातः स्वकर्म्मजस्तं शापं पुत्रशोकजं मरणात्मकं स्मृत्वा शरीरत्यागमा-त्रेण शुद्धिलाभं प्रायश्चित्तममन्यतेत्यर्थः ॥ १० ॥

विप्रोषितेति । विप्रोषिताः गताः कुमाराः यस्मिंस्तत्तथोक्तम् अस्तमित-ईश्वरो राजा यस्य तत्तथोक्तं तद्राज्यं रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां भोग्य-वस्तुतां ययौ । आमिषं भोग्यवस्तुनीति केशवः ॥ ११ ॥

अथेति । अथ अनाथाः प्रकृतयोऽमात्याः । प्रकृतिः सहजे योनावमात्ये परमात्मनीति विश्वः । मातृबन्धुनिवासिनं भरतं स्तम्भिताश्रुभिः पितृमरणगुप्त्यर्थ-मिति भावः, मौलैः सचिवैरानाययामासुः आगमयाञ्चक्रुः ॥ १२ ॥

मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत् पराङ्मुखः ॥ १३ ॥
ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन् ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥
चित्रकूटवनस्थञ्च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥
स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ १६ ॥
तमशक्यमपाक्रष्टुं निदेशात् स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात् कर्त्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥
स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत् पुरीम् ।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक् ॥ १८ ॥

श्रुत्वेति । कैकेयीतनयो भरतः पितुस्तथाविधं स्वमातृमूलं मृत्युं मरणं श्रुत्वा स्वस्या मातुः केवलं पराङ्मुखो न किन्तु श्रियोपि पराङ्मुख आसीत् ॥ १३ ॥

ससैन्य इति । ससैन्यो भरतः राममन्वगाच्च, किं कुर्व्वन् आश्रमालयैर्वनवासिभिर्दर्शितान् एते रामनिवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान् निवासवृक्षान् पश्यन् उदश्रुः रुदन् ॥ १४ ॥

चित्रेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामञ्च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः अनुच्छिष्टा अननुभूतशिष्टा सम्पत् गुणोत्कर्षो यस्याः सा । सम्पत् गुणोत्कर्ष इति केशवः । तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान् ॥ १५ ॥

स इति । स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन् रामे अकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणात् आत्मानं परिवेत्तारं मेने । परिवेत्तानुजोऽनूढ़े ज्येष्ठे दारपरिग्रहादित्यमरः । भूपरिग्रहोऽपि दारपरिग्रहसम इति भावः ॥ १६ ॥

तमिति । स्वर्गिणः पितुः निदेशात् अपाक्रष्टुं निवर्त्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्त्तुं पादुके ययाचे ॥ १७ ॥

स इति । स भरतो भ्रात्रा रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन् पुरीम् अयोध्यां नाविशदेव, किन्तु नन्दिग्रामगतः सन् तस्य रामस्य राज्यं न्यासमिव निक्षेप-

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥
रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्त्तयन् ।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥ २० ॥
प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात् ॥ २१ ॥
ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥ २२ ॥

मिवाभुनक् अपालयत् नतूपभुक्तवानित्यर्थः। अन्यथा भुजोऽनवन इत्यात्मनेपद-प्रसङ्गात्। भुजेर्लङ् ॥ १८ ॥

दृढेति। ज्येष्ठे दृढभक्तिः राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरतः इति पूर्वोक्तानुष्ठा-नेन मातुः पापस्य प्रायश्चित्तं अपनोदकं कर्म्म अकरोदिवेत्युत्प्रेक्षा। दृढभक्ति-रित्यत्र दृढशब्दस्य स्त्रियाःपुंवदित्यादिना पुंवद्भावो दुर्घटः अप्रियादिष्विति निषे-धात् भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात्, अतो दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहु-व्रीहिः इति गणव्याख्याने दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुंसकत्वस्य विवक्षित त्वात् सिद्धमिति समाधेयम्। वृत्तिकारास्तु दीर्घनिवृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपकारत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वात् दृढभक्ति-शब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः। न्यासकारोऽप्येवम्। भोजराजस्तु कर्म्मसाधन-स्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठात् भवानीभक्तिरित्यादौ कर्म्मसाधनत्वात् पुंवद्भा-वप्रतिषेधः, दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह॥१९॥

रामेति। सानुजः शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वनभवेन कन्दमूलादिना वर्त्तयन् वृत्तिं कुर्व्वन् जीवन् वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं वनवासात्मकं युवा यौवनस्थएव चचार ॥ २० ॥

प्रभावेति। स रामः कदाचित् प्रभावेण स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता छाया यस्य तं वनस्पतिमाश्रितः सन् किञ्चिदीषत् श्रमादिव सीताया अङ्के शिश्ये सुष्वाप ॥ २१ ॥

ऐन्द्रिरिति। ऐन्द्रिरिन्द्रस्य पुत्रो द्विजः पक्षी काकः तस्याः सीतायाः स्तनौ प्रियस्य रामस्योपभोगचिह्नेषु तत्कृतनखक्षतेष्वित्यर्थः पुरोभागिनो दोषैकदर्शिनः

तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ २३ ॥
रामस्त्वासन्नदेशत्वात् भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥
प्रययावातिथेयेषु वसन्नृषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥
बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥
अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥

कर्म्म पौरोभाग्यम् । दोषैकदृक् पुरोभागीत्यमरः । दुःश्लिष्टदोषघातमाचरन् कुर्व्वन्निव नखै विददार विलिलेख । किलेत्यैतिह्ये ॥ २२ ॥

तस्मिन्निति । रामया सीतया अवबोधितो रामस्तस्मिन् काके दूषीकास्त्रं काशास्त्रम् । दूषीका काशमुच्यत इति हलायुधः । आस्थत् अस्यति स्म । असु क्षेपण इति धातोर्लुङ्, अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङित्यङ्प्रत्ययः, अस्यतेस्थुगिति थुगागमः । स काकः एकनेत्रस्य व्ययेन दानेन तस्मादस्त्रादात्मानं मुमुचे मुक्तवान् मुचेः कर्त्तरि लिट् । धेनुं मुमोचेतिवत् प्रयोगः ॥ २३ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्य उत्सुकसारङ्गाम् उत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञिति ढञ्प्रत्ययः । तेषु ऋषिकुलेषु ऋष्याश्रमेषु । कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जनपदेऽन्वय इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । वर्षाभ्यष्ठगिति ठक् प्रत्ययः । तेषु ऋक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव, वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

बभाविति । तं राममनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता सीता कैकेय्या प्रतिषिद्धा निवारितापि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मीः राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

अनुसूयेति । सा सीता अनुसूयया अत्रिभार्य्यया अतिसृष्टेन दत्तेन पुण्य-

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥ २८ ॥
स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययो र्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥
तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥ ३० ॥
पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात् कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ ३१ ॥
रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्त्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

गन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्यः उच्चलिताः निर्गताः षट्पदा यस्मिंस्तत्तथा-भूतं चकार ॥ २७ ॥

सन्ध्येति । सन्ध्याभ्रकपिशो विराधो नाम राक्षसः ग्रहो राहुरिवेन्दोः तस्य रामस्य मार्गमध्वानमावृत्यावरुध्यातिष्ठत् ॥ २८ ॥

स इति । लोकस्य शोषणः स राक्षसः तयोः रामलक्ष्मणयोर्मध्ये मैथिलीं नभोनभस्ययोः श्रावणभाद्रपदयोरन्तरे मध्ये वृष्टिमवग्रहो वर्षप्रतिबन्ध इव जहार। वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समावित्यमरः ॥ २९ ॥

तमिति । ककुत्स्थस्य गोत्रापत्ये पुमांसौ काकुत्स्थौ रामलक्ष्मणौ तं विराधं विनिष्पिष्य हत्वा, अशुचिना अपवित्रेण गन्धेन स्थलीमाश्रमभुवं पुरा दूषयति दूषयिष्यतीति हेतोः । यावत्पुरानिपातयोर्लड़िति भविष्यदर्थे लट् । वसुधायां निचख्नतुः भूमौ खनित्वा निचिक्षिप्तवन्तौ च ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यामिति । ततो रामः कुम्भजन्मनोऽगस्त्यस्य शासनात् पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी । तद्धितार्थेति तत्पुरुषः संख्यापूर्वो द्विगुरिति द्विगुसंज्ञायां द्विगोरिति ङीप्, द्विगुरेकवचनमिति एकवचनम् । तस्यां पञ्चवट्यां विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव अनपोढस्थितिरनतिक्रान्तमर्यादः तस्थौ ॥ ३१ ॥

रावणावरजेति । तत्र पञ्चवट्यां मदनातुरा रावणावरजा शूर्पणखा । पूर्वपदात् संज्ञायामगइति णत्वम् । राघवम्, निदाघार्त्ता घर्मसतप्ता व्याकुला व्याली भुजङ्गी मलयद्रुमं चन्द्रनद्रुममिव अभिपेदे प्राप ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढ़ो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥
कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥
ज्येष्ठाभिगमनात् पूर्व्वं तेनाप्यनभिनन्दिता ।
साभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३५ ॥
संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ ३६ ॥
फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्या मित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

सेति । सा शूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितवंशा सती तं रामं वव्रे वृतवती, तथाहि अत्यारूढ़ोऽतिप्रवृद्धो नारीणां मनोभवः कामः कालज्ञोऽवसरज्ञो न भवतीति अकालज्ञो हि ॥ ३३ ॥

कलत्रवानिति । वृषः पुमान् । वृषः स्याद्वासवे धर्म्मे सौरभेये च शुक्रले । पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपीति विश्वः । वृषं पुरुषम् आत्मार्थमिच्छतीति वृषस्यन्ती कामुकी । वृषस्यन्ती च कामुकीत्यमरः । सुप आत्मनः क्यजिति क्यच् प्रत्ययः, अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचीति असुगागमः, ततः लटः शत्रादेशः, उगितश्चेति ङीप् । श्लोकार्थस्तु, वृषस्कन्धो रामः वृषस्यन्तीं तां राक्षसीं हे बाले अहं कलत्रवान् मे कनीयांसं कनिष्ठं भजस्वेति शशास आज्ञापितवान् ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठाभिगमनादिति । पूर्व्वं ज्येष्ठाभिगमनात् तेन लक्ष्मणेनापि अनभिनन्दिता नाङ्गीकृता भूयो रामाश्रया सा राक्षसी उभे कूले भजतीत्युभयकूलभाक् नदीवाभूत् । सा हि यातायाताभ्यां पर्य्यायेण कूलद्वयगामिनी नदीसदृश्यभूदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

संरम्भमिति । मैथिलीहासः क्षणं सौम्यां सौम्याकारां तां राक्षसीम्, निवातेन स्तिमितां निश्चलामुदधेर्वेलाम् अम्बुविकृतिम् अम्बुपूरमित्यर्थः । अब्ध्यम्बुविकृतौ वेलेत्यमरः । चन्द्रोदयइव, संरम्भं संक्षोभं निनाय ॥ ३६ ॥

फलमिति । श्लोकद्वयेनान्वयः, अस्योपहासस्य फलं सद्यः सम्प्रत्येव प्राप्स्यसि

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात्।
रूपं शूर्पणखानाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत॥ ३८॥
लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम्।
शिवाघोरस्वनां पश्चादबुबुधे विकृतेति ताम्॥ ३९॥
पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजत्॥ ४०॥
सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया।
अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्ज्जयदम्बरे॥ ४१॥
प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम्।

मां पश्य, त्वया कलत्रं कृतम् उपहासरूपं करणं व्याघ्रां विषये मृग्याः कलत्रीः परिभव इत्यवेहि॥ ३७॥

इतीति। भयाद्भर्त्तुरङ्के निविशतीमालिङ्गन्तीं मैथिलीम् इत्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्नः सदृशं शूर्पाकारनखयुक्तमित्यर्थः रूपमाकारं प्रत्यपद्यत स्वीचकार अदर्शयदित्यर्थः॥ ३८॥

लक्ष्मणइति। लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चात् शिवावद्घोरस्वनां तां शूर्पणखां श्रुत्वा तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान्। कर्त्तरि लिट्॥ ३९॥

पर्णशालामिति। अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्गः सन् क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य भीषयतीति भीषणाम्। नन्द्यादित्वात् ल्युः कर्त्तरि। तां राक्षसीं वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्यं लक्षणया, तेनायोजयत् योजितवान्। स्वभावतएव विकृतां तां कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः॥ ४०॥

सेति। सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी तया वेणुवत् कर्कशपर्वया अतएवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तया अङ्गुल्या तौ राघवौ अम्बरे व्योम्नि स्थिता। अम्बरं व्योम्नि वाससीत्यमरः। अतर्ज्जयत् अभर्त्सयत्। तर्ज्ज भर्त्सनइतिधातोश्चौरादिकादनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदेन भाव्यं तथापि चक्षिङोङित्करणात् ज्ञापकादनुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदमूह्यमित्युक्तम् आख्यातचन्द्रिकायां तर्ज्जयते भर्त्सयते तर्ज्जयतीत्यपि दृश्यते कविष्विति॥ ४१॥

प्राप्येति। सा आशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यो राक्षसेभ्य स्तथाविधं स्वाङ्ग-

रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥ ४२ ॥
मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत् पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥
उद्यतायुधानापततस्तान् दृप्तान् प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीताञ्च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥
एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥
असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥
तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात् सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

च्छेदात्मकम् उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कर्म्मणि घञ्प्रत्ययः, रामस्य कर्त्तुरुपक्रमः रामोपक्रमं रामेणादावुपक्रान्तमित्यर्थः, उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामिति क्लीवत्वम् । तन्नवं रक्षसां कर्म्मभूतानां परिभवमाचख्यौ च ॥ ४२ ॥

मुखेति । नैर्ऋता राक्षसाः । नैर्ऋतो यातुरक्षसी इत्यमरः । मुखावयवेषु कर्णादिषु लूनां छिन्नां तां पुरो दधुः अग्रे चक्रुरिति यत् तदेव रामाभियायिनां राममभिद्रवतां तेषाममङ्गलमभूत् ॥ ४३ ॥

उदिति । उद्यायुधान् उद्यतायुधान् आपततआगच्छतो दृप्तांस्तान् खरादीन् प्रेक्ष्य राघवश्चापे विजयस्याशंसाम् आशां लक्ष्मणे सीताञ्च निदधे । सीतारक्षणे लक्ष्मणं नियुज्य स्वयं युद्धाय सन्नद्ध इति भावः ॥ ४४ ॥

एक इति । दाशरथीरामः एकोऽद्वितीयः यातुधानाः कामं सहस्रशः सन्तीति शेषः, तैर्यातुधानैस्तु स रामः आजौ ते यातुधानाः यावन्तो यावत्संख्यकाएव तावांस्तावत्संख्यकश्च ददृशे ॥ ४५ ॥

असदिति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारी सद्वृत्तश्च स काकुत्स्थः असज्जनेन दुर्ज्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितम् उच्चारितञ्च दूषणं दूषणाख्यं राक्षसम् आत्मनो दूषणं दोषमिव न चक्षमे न सेहे प्रतिकर्त्तुं प्रवृत्तइत्यर्थः ॥ ४६ ॥

तमिति । स रामस्तं दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह प्रति-

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्व्वं विशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरन्तु पतत्त्रिभिः ॥ ४८ ॥

तस्मिन् रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।
उत्थितं दहृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् ।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराभवत् ॥ ५१ ॥

निग्रहात् स्वसुराप्तानां बधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्द्धसु ॥ ५२ ।

जहारेत्यर्थः । क्रमशः यथाक्रमं प्रयुक्ता अपीति शेषः तस्य ते शराः पुनः चापात् समं युगपदिवोद्ययुः । अतिलघुहस्तत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

तैरिति । देहमतीत्य भित्त्वा गच्छन्तीति देहातिगाः तैः यथा स्थिता पूर्व्व-विशुद्धिर्येषां तैः अतिवेगत्वेन देहभेदात् प्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः शितैः तीक्ष्णैः तैर्बाणैः त्रयाणां खरादीनाम् आयुः पीतं रुधिरन्तु पतत्रिभिः पीतम् ४८

तस्मिन्निति । तस्मिन् रामशरैरुत्कृत्ते छिन्ने महति रक्षसां बले उत्थितम् उत्थानक्रियाविशिष्टं प्राणिनां कबन्धेभ्यः शिरोहीनशरीरेभ्यः । कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्द्धकलेवरमित्यमरः । अन्यच्च अन्यत् किञ्चन न ददृशे । कबन्धेभ्य-इत्यत्रान्यारादिति पञ्चमी । निःशेषं हतमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

सेति । सा सुरद्विषां वरूथिनी बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा युद्धं कारयित्वा गृध्राणां छाया गृध्रच्छायम् । छायाबाहुल्ये इति क्लीवत्वम् । तस्मिन् अप्रबोधाय अपुनर्बोधाय सुष्वाप ममारेत्यर्थः । अत्र सुरतश्रान्तकान्तासमाधिर्ध्वन्यते ॥ ५० ॥

राघवेति । एका शूर्पवन्नखानि यस्याः सा शूर्पणखा । पूर्वपदात् संज्ञायामिति णत्वम्, नखमुखात् संज्ञायामिति ङीप्प्रतिषेधः । सैव रावणं प्रति राघवास्त्रैः विदीर्णानां हतानां तेषां रक्षसां खरादीनां दुष्प्रवृत्तिर्वार्त्ता तां हरति प्रापय-तीति दुष्प्रवृत्तिहराभवत् । हरतेरनुद्यमनेऽजित्यच् प्रत्ययः ॥ ५१ ॥

निग्रहादिति । स्वसुः शूर्पणखाया निग्रहादङ्गच्छेदात् आप्तानां बन्धूनां

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५३ ॥
तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्त्तिभिः ॥ ५४ ॥
स रावणहृतां ताभ्यां वचसाचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ ५५ ॥
तयोस्तस्मिन् नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात् परा ववृतिरे क्रियाः ॥ ५६ ॥
वधनिर्द्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥

खरादीनां बधाच्च कारणात् धनदानुजो रावणो रामेण दशसु मूर्द्धसु पदं पादं निहितं मेने ॥ ५२ ॥

रक्षसेति । स रावणः मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य्य पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन युद्धरूपेण क्षणं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार ॥ ५३ ॥

ताविति । सीतान्वेषिणौ तौ राघवौ लूनपक्षं रावणेन छिन्नपक्षं कण्ठवर्त्तिभिः प्राणैः दशरथप्रीतेः दशरथसख्यस्यानृणम् ऋणे विमुक्तं गृध्रं जटायुषमपश्यतां दृष्टवन्तौ । दृशेर्लङि रूपम् ॥ ५४ ॥

स इति । स जटायुः रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् । क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यमिति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । वचसा वाग्वृत्त्या आचष्ट, आत्मनः सुमहत्कर्म्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य संस्थितो मृतः ॥ ५५ ॥

तयोरिति । व्यापत्तिर्मरणं नवीभूतः पितृव्यापत्तिशोको ययोस्तौ तयोः राघवयो स्तस्मिन् गृध्रे पितरीव अग्निसंस्कारादग्निसंस्कारमारभ्य पराः उत्तराः क्रियाः ववृतिरे अवर्त्तन्त तस्य पितृवदौर्द्ध्वदेहिकं चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५६ ॥

वधेति । वधेन रामकृतेन निर्द्धूतशापस्य देवभुवं गतस्य कबन्धस्य रक्षोविशेषस्य उपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि सख्यार्थिनीत्यर्थः हरौ कपौ सुग्रीवे । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वित्यमरः । सख्यं मुमूर्च्छ ववृधे ॥ ५७ ॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥
इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्त्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥
प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्म्ममः ॥ ६० ॥
दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥
तस्यै भर्त्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुविन्दुभिः ॥ ६२ ॥

स इति । वीरः स रामो वालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे वालिस्थाने, धातोः स्थाने आदेशमिव आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः, सुग्रीवं संन्यवेशयत् स्थापितवान् । यथा अस्तेर्भूरिति अस्तिधातोः स्थाने आदेशो भूधातुरस्तिकार्य्यमशेषं समभिधत्ते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दान्तरमभिधीयते ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्चेति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रयुक्ताः कपयो हनुमत्प्रमुखाः आर्त्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुः नानादेशेषु बभ्रमुश्च ॥ ५९ ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान् भ्राता तस्य दर्शनात् तन्मुखादिति भावः तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्त्तायाम् । वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञातायां सत्यां मारुतस्यापत्यं पुमान् मारुतिः हनुमान् सागरम्, ममेत्येतदव्ययम् ममतावाचि तद्रहितो निर्ममः निस्पृहः संसारमविद्याबन्धनमिव, तीर्णः ततार । तरतेः कर्त्तरि क्तः ॥ ६० ॥

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्वता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्षसीभिर्वृता जानकी, विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौषधिः सञ्जीवनी लतेव, दृष्टा ॥ ६१ ॥

तस्या इति । कपिर्हनुमान् भर्त्तुः रामस्य सम्बन्धि अभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञान-

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणसोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥
प्रत्यभिज्ञानरत्नञ्च रामायादर्शयत् कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्त्तिमत् ॥ ६४ ॥
स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥
स्मृत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥
स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्त्तिभिः ॥ ६७ ॥

साधकम् अङ्गुलीयम् ऊर्म्मिकाम् । अङ्गुलीयकमूर्मिकेत्यमरः । जिह्वामूलाङ्गुलेश्छ इति छप्रत्ययः । तस्यै जानक्यै ददौ । किंविध मङ्गुलीयम्, अनुष्णैः शीतलैः तस्याः आनन्दाश्रुविन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव स्थितम् । भर्त्तभिज्ञानदर्शनानन्दवाष्पो जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

निर्वाप्येति । स कपिः प्रियस्य रामस्य सन्देशैः वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुखयित्वा अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतोदृप्तः क्षणं सोढ़ः अरेरिन्द्रजितः कर्त्तुः निग्रहो वाधा ब्रह्मास्त्रबन्धनरूपा येन स तथोक्तः सन् लङ्कां पुरीं ददाह भस्मीचकार ॥ ६३ ॥

प्रत्यभीति । कृती कृतकृत्यः कपिः स्वयमायातं मूर्त्तिमत् वैदेह्याः हृदयमिव स्थितं तस्याएव प्रत्यभिज्ञानरत्नञ्च रामायादर्शयत् ॥ ६४ ॥

स इति । हृदये वक्षसि न्यस्तस्य धृतस्य मणेरभिज्ञानरत्नस्य स्पर्शेन निमीलितो मोहितः स रामः अविद्यमानः पयोधरसंसर्गः स्तनस्पर्शो यस्यास्तां तथाभूतां प्रियाया आलिङ्गनेन या निर्वृतिरानन्दस्तां प्राप ॥ ६५ ॥

स्मृत्वेति । प्रियायाः उदन्तं वार्त्ताम् । उदन्तः साधुवार्त्तयोरिति विश्वः । स्मृत्वा तस्याः सीतायाः सङ्गमे उत्सुको रामो लङ्कायाः सम्बन्धी यो महार्णवएव परिक्षेपः परिवेष्टस्तं परिखालघुं दुर्गवेष्टनवत् सुतरं मेने ॥ ६६ ॥

स इति । केवलं भुवः पृष्ठे भूतले न किन्तु व्योम्नि च सम्बाधवर्त्तिभिः सङ्कट-

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥
तस्मै निशाचरैश्वर्य्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥
स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥
तेनोत्तीर्य्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्व्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥
रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

गामिभिः हरिसैन्यैः कपिबलैरनुद्रुतोऽन्वितः सन् स रामोऽरिनाशाय प्रतस्थे चचाल ॥ ६७ ॥

निविष्टमिति । उदधेः कूले निविष्टं तं रामं विशेषेण भीषयते विभीषणो रावणानुजो राक्षसः लक्ष्म्या स्नेहात् बुद्धिं कर्त्तव्यताज्ञानम् आविश्य चोदितः प्रणोदितइव प्रपेदे प्राप्तः ॥ ६८ ॥

तस्मादिति । राघवस्तस्मै विभीषणाय । प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्व्वस्य कर्त्ता इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । निशाचरैश्वर्य्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिज्ञातवान्, तथाहि कालेऽवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ताः नीतयः फलं बध्नन्ति गृह्णन्ति खलु जनयन्तीत्यर्थः॥६९॥

सइति । स रामः लवणं क्षारम् अम्भो यस्यासौ लवणाम्भास्तस्मिन् लवणाब्धौ प्लवगैः प्रयोज्यैः शार्ङ्गिणो विष्णोः स्वप्नाय शयनाय रसातलात् पातालादुन्मग्नमुत्थितं शेषमिव स्थितं सेतुं बन्धयामास ॥ ७० ॥

तेनेति । रामः तेन पथा सेतुमार्गेण उत्तीर्य्य सागरमिति शेषः पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैः अतएव द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्व्वद्भिरिव स्थितैः वानरैः लङ्कां रोधयामास ॥ ७१ ॥

रणइति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसाञ्च भीमो भयङ्करः दिग्विजृम्भितं काकुत्स्थपौलस्त्ययोः रामरावणयोः जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन् स तयोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः । अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहावित्यमरः ॥ ७२॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥ ७५ ॥

गरुड़ापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः चणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

पादपेति । किंविधो रणः पादपैर्वृक्षैराविद्धाः भग्नाः परिघाः लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन् स तथोक्तः । परिघः परिघातन इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाः चूर्णिता मुद्गरा अयोघनाः यस्मिन् स तथोक्तः । द्रुघने मुद्गरघनावित्यमरः । अतिशस्त्राः अस्त्राण्यतिक्रान्ताः नखन्यासाः यस्मिन् स तथोक्तः शैलैः रुग्णाः भग्नाः मतङ्गजाः यस्मिन् स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

अथेति । अथानन्तरं छिद्यतइति छेदः खण्डः शिरएव छेदइति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वाख्यराक्षसमायानिर्म्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां गतसंज्ञां सीतां त्रिजटा नाम काचित् सीतापक्षपातिनी राक्षसी माया-कल्पितं नत्वेतत् सत्यमिति शंसन्ती ब्रुवाणा । शप्श्यनोर्नित्यमिति नित्यं नुमागमः । समजीवयत् ॥ ७४ ॥

काममिति । सा सीता मे नाथः जीवतीति हेतोः शुचं शोकं कामं विजहौ किन्तु प्राक् पूर्व्वमस्य नाथस्यान्तं नाशं सत्यं यथार्थं मत्वा जीविता जीवितवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्त्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भावः ॥ ७५ ॥

गरुड़ेति । गरुड़स्तार्क्ष्यः तस्यापातेनागमनेन विश्लिष्टं मेघनादस्य इन्द्रजितोऽस्त्रेण नागपाशेन बन्धनं यस्मिन् स तथोक्तः चणक्लेशः दाशरथ्योः रामलक्ष्मणयोः स्वप्नवृत्तः स्वप्नावस्थायां भूत इवाभवत् ॥ ७६ ॥

ततइति । ततः पौलस्त्यो रावणः शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । कासू-

स मारुतिसमानीतमहौषधिहृतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्य्यकं शरैः ॥ ७८ ॥
स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्य्यशेषयत् ॥ ७९ ॥
कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥
अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥
इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥

सामर्थ्ययोः शक्तिरित्यमरः । लक्ष्मणं वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्तनाहतोपि अहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदयः आसीत् ॥ ७७ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या सञ्जीवन्या हृतव्यथः सन् पुनः शरैः लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । विलापः परिदेवनमित्यमरः । आचार्य्यकम् आचार्य्यकर्म्म । योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ् इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसान् जघानेति व्यज्यते ॥७८॥

स नादमिति । स लक्ष्मणः शरत्कालो मेघस्येव मेघनादस्येन्द्रजितो नादं सिंहनादम् अन्यत्र गर्जितम् इन्द्रायुधप्रभं शक्रधनुःप्रभं धनुश्च किञ्चिदल्पमपि न पर्य्यशेषयत् नावशेषितवान् तमवधीदित्यर्थः ॥ ७९ ॥

कुम्भकर्णइति । कपीन्द्रेण सुग्रीवेण स्वसुः शूर्पणखायाः तुल्यावस्थो नासाकर्णच्छेदेन सदृशः कृतः कुम्भकर्णः टङ्केन शिलाभेदकशस्त्रेण छिन्ना मनःशिला रक्तवर्णधातुविशेषोयस्य स तथोक्तः । टङ्कः पाषाणभेदनइति, धातुर्मनःशिलाद्यद्रेरिति चामरः । शृङ्गी शिखरीव रामं रुरोध ॥ ८० ॥

अकालइति । प्रियस्वप्नः इष्टनिद्रोऽनुजः भवान् वृथा भ्रात्रा रावणेनाकाले बोधितः इतीवासौ कुम्भकर्णः रामेषुभिः रामवाणैः दीर्घनिद्रां मरणं प्रवेशितो गमितः । यथा लोकेषु इष्टवस्तुविनाशदुःखितस्य ततोपि भूयिष्ठमुपपद्यते तद्वदिति भावः ॥ ८१ ॥

इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु, समरोत्थानि रजांसि

निर्य्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगद्द्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥
रामं पदातिमालोक्य लङ्केशञ्च वरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥
तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्म्मिवायुभिः ।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥
मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।
यत्रोत्पलदलक्लैव्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥
अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।

तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेषु इव, पेतुः निपत्य स्रुतानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

निर्ययाविति । अथ पौलस्त्यो रावणः अद्य जगत् अरावणं रावणशून्यं अरामं रामशून्यं वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान् । कर्त्तरि क्तः । विजयमरणयोरन्यतरनिश्चयवान् पुनर्युद्धाय मन्दिरात् निर्ययौ निर्जगाम ॥८३॥

राममिति । पादाभ्यामततीति पदातिस्तं पादचारिणं रामम्, वरूथो रथगुप्तिः । रथगुप्तिर्वरूथोनेत्यमरः । अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते । वरूथिनं रथिनं लङ्केशं च आलोक्य पुरन्दरः इन्द्रः युगं वहन्तीति युग्याः रथाश्वाः । तद्वहति रथयुगप्रासङ्गमिति यत् प्रत्ययः । हरियुग्यं कपिलवर्णाश्वम् । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिष्वित्यमरः । रथं तस्मै रामाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥८४॥

तमिति । राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटं मार्गवशादिति भावः । जेतैव जैत्रो जयनशीलः तं जैत्रम् । जेतृस्तात् तृणशब्दात् प्रज्ञादिभ्यश्चेति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तं रथं देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बः सन् अध्यास्त अधिष्ठितवान् । आसेर्लङ् ॥ ८५ ॥

मातलिरिति । मातलिरिन्द्रसारथिः माहेन्द्रं तनुः छाद्यतेऽनेनेति तनुच्छदो वर्म्म । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेणेति घः । तं तस्य रामस्य आमुमोचासञ्जयामास यत्र तनुच्छदे सुरद्विषामस्त्राणि उत्पलदलानां यत् क्लैव्यं नपुंसकत्वं निरर्थकत्वं तदापुः ॥ ८६ ॥

अन्योन्येति । चिरादन्योन्यदर्शनेन प्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धं

रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥
भुजमूर्द्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥
जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्च्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ८९ ॥
तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥
रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।

योधनं चरितार्थं सफलमभवदिव । प्राक् पराक्रमावसरदौर्ब्बल्याद्विफलस्य अद्य तल्लाभात् साफल्यमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८७ ॥

भुजेति । यथाभूतः पूर्वं यथापूर्वः । सुप्सुपेति समासः । यथा पूर्वो न भवतीत्ययथापूर्वः निहतबन्धुत्वाद्रक्षःपरिचारशून्य इत्यर्थः अतएवैकोऽपि सन् धनदानुजो रावणः भुजाश्च मूर्द्धानश्चोरवः पादाश्च भुजमूर्द्धोरु । प्राण्यङ्गत्वात् द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्य बाहुल्याद्बहुत्वाद्धेतोः, तद्बहुत्वे यादवः । दशास्यो विंशति-भुज इत्युष्मान्मातृमन्दिरे इति । मातृवंशे मातृसम्बन्धिनि वर्गे स्थित इव ददृशे दृष्टोऽहिं । वंशो वेणौ कुले वर्गे इति विश्वः । अत्र रावणमातूरक्षोजातित्वात् तद्वर्गो रक्षोवर्ग इति लभ्यते, अतस्तैकोपि अनेकरक्षःपरिवृत इव लक्ष्यते इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

जेतारमिति । लोकपालानामिन्द्रादीनां जेतारम् । कर्तृकर्म्मणोः कृतीति कर्म्मणि षष्ठी । स्वमुखैः स्वशिरोभिरर्च्चितेश्वरं तुलितकैलासम् उत्क्षिप्तरुद्राद्रिम् एवं शौर्य्यवीर्य्यसत्त्वसम्पन्नं महावीर्य्यम् अरातिं शत्रुं रामो गुणग्राहित्वात् जेतव्योत्कर्षस्य जेतृस्वोत्कर्षहेतुत्वाच्च बह्वमन्यत साधुः मद्विक्रमस्यायं पर्य्याप्तो विषय-इति बहुमानमकरोदित्यर्थः । बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

तस्येति । अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽतएव सीतासङ्गम-शंसिनि तस्य रामस्य सव्यदतरो यस्मात् सव्येतरे दक्षिणे । न बहुव्रीहाविति इतरशब्दस्य सर्व्वनामसंज्ञाप्रतिषेधः । भुजे शरं निचखान निखातवान् ॥ ९० ॥

रावणस्येति । रामेणास्तः क्षिप्तः आशुगो वाणः, विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः । विश्रवःशब्दादपत्यार्थेऽण्प्रत्यये सति, विश्रवसो विश्रवणरवणाविति

विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः ।

अन्योऽन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याभूद्द्वयोरपि ।

जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।

परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।

हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

रवणादेभ्यः । तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य्य उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव भुवं विवेश ॥ ९१ ॥

वचसेति । वाक्यं वचसैव अस्त्रम् अस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोः तयोः रामरावणयोः वादिनोः कथकयोरिव अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

विक्रमेति । जयश्रीः विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्य्यायकरणेन तयोर्द्वयोरप्यन्तरा मध्ये । अव्ययमेतत् । वेदिर्वद्याकारा भित्तिः मत्तवारणयोरिव सामान्या साधारणा अभूत् नत्वन्यतमनियतेत्यर्थः । अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र च, अन्तरान्तरेण युक्ते इति द्वितीया न भवति अन्तराशब्दस्योक्तरीत्या अन्यत्रान्वयात् । मध्ये कामपि भित्तिं कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ९३ ॥

कृतेति । स्वयमस्त्रप्रयोगः कृतं प्रतिकृतं परकृतप्रतीकारः ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासङ्ख्यं तयोः रामरावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिं द्वयीमिति शेषः परस्परं शरव्राताः न सेहिरे । अहमेवालं किं त्वयेति चान्तरालएव इतरेतरबाणवृष्टिरितरेतरपुष्पवृष्टिमवारयदित्यर्थः ॥ ९४ ॥

अय इति । अथ रक्षो रावणः अयसः शङ्कुभिः कीलैः चितां कीर्णां शतघ्नीं लौहकण्टककीलितयष्टिविशेषम् । शतघ्नी तु चतुस्ताला लौहकण्टकसञ्चिता यष्टिरिति केशवः । हृतां विजयलक्ष्मीं वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिमिव शत्रवे राघवायाक्षिपत् क्षिप्तवान् । कूटशाल्मलिरिव कूटशाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदायाः गौणी संज्ञा । कूटशाल्मलिर्नाम एकमूलप्रकृतिः कण्टकी वृक्षविशेषः ।

राघवो रथमप्राप्तां तामाशाञ्च सुरद्विषाम् ।
अर्द्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ ९६ ॥
अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्द्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥
तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ ९८ ॥
तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्द्धादपातयत् ।
स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥ ९९ ॥
बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥ १०० ॥

रोचनः कूटशाल्मलिरित्यमरः । तस्मादश्मस्य गदायाः अयःशङ्कुचितत्वादनुसन्धे-यम् ॥ ९५ ॥

राघव इति । राघवो रथमप्राप्तां तां शतघ्नीं सुरद्विषां रक्षसाम् आशां विजयतृष्णाञ्च । आशा तृष्णा दिशोः प्रोक्तेति विश्वः । अर्द्धचन्द्र इव सुखं येषां तैर्बाणैः कदलीवत् सुखं यथा तथा चिच्छेद । अथवा कदल्यामिव सुखम् अक्लेशो यस्मिन् कर्म्मणि तदिति विग्रहः ॥ ९६ ॥

अमोघमिति । एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो रामः प्रियायाः शोकएव शल्यं तस्य निष्कर्षणम् उद्धारकं यदौषधं तत् अमोघं ब्राह्मं ब्रह्मदेवताकम् अस्त्रम् अभिमन्त्रितं बाणम् अस्मै रावणाय च, तद्वधार्थमित्यर्थः, धनुषि सन्दधे ॥ ९७ ॥

तदिति । व्योम्नि शतधा भिन्नं प्रसृतं दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तत् ब्रह्मा-स्त्रम्, करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम् । करालो दन्तुरे तुङ्गे करालो भीषणोऽपि चेति विश्वः । महोरगस्य शेषस्य वपुरिव, ददृशे दृष्टम् ॥ ९८ ॥

तेनेति । स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनास्त्रेण अज्ञातव्रणवेदनाम् अतिशैघ्र्या-दननुभूतव्रणदुःखां रावणशिरःपङ्क्तिं निमेषार्द्धात् अपातयत् पातयामास ॥ ९९ ॥

बालेति । पतिष्यतः आसन्नपातस्य रक्षःकायस्य रावणकलेवरस्य छिद्यन्ते इति छेदाः खण्डाः कण्ठानां ये छेदाः तेषां परम्परा पङ्क्तिः, वीचिभिर्भिन्ना

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनःसन्धानशङ्किनाम् ॥ १०१ ॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपाना-
मनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः
सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥ १०२ ॥

यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्य्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्द्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ १०३ ॥

ज्ञाना कृता अमु बालार्कस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव, रराज । अर्कस्य बालविशेषणमारुण्यार्थमिति भावः ॥ १०० ॥

मरुतामिति । पतितानि तस्य रावणस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनःसन्धानशङ्किनाम्, पूर्व्वं तथादर्शनादिति भावः । मरुताममराणाम् मरुतौ पवनामरावित्यमरः । मनो नातिविशश्वास अतिविश्वासं न प्राप ॥ १०१ ॥

अथेति । अथ मदेन गजगण्डसञ्चारसंक्रान्तेन गुरुपक्षैः भारायमाणपक्षैरलिवृन्दैः लोकपालद्विपानाम् ऐरावतादीनां गगनवर्त्तिनां गण्डभित्तीर्विहाय अनुगतं सुरभि सुगन्धि । सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः । गन्धोपले सौरभेय्यां सल्लकीमातृभेदयोः । सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभि स्मृतमिति विश्वः । सुरविमुक्तं पुष्पवर्षम् उपनत आसन्नो मणिबन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मिन् पौलस्त्यशत्रोः रामस्य मूर्ध्नि पपात । इदमेव राज्याभिषेकसूचकमिति भावः ॥ १०२ ॥

यन्तेति । हरेरिन्द्रस्य यन्ता मातलिः सपदि संहृतकार्मुकज्यम् अनुष्ठितं देवकार्य्यं रावणवधरूपं येन तं राघवम् आपृच्छ्य साधु यामीत्यामन्त्र्य, नामाङ्कैर्नामाक्षरचिह्नैः रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तं हरीणां वाजिनां सहस्रेण युज्यत इति हरिसहस्रयुक् तम् । यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । हरिरित्युभयत्राप्यमरः । रथम् ऊर्द्ध्वं निनाय नीतवान् ॥ १०३ ॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे संगमय्य श्रियं वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ १०४ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥

रघुपतिरिति । रघुपतिरपि जातवेदस्यग्नौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य स्वीकृत्य, प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रियं राज्यलक्ष्मीं सङ्गमय्य सङ्गतां कृत्वा । गमेर्ण्यन्तात् ल्यप्प्रत्ययः, मितां ह्रस्वः, ल्यपि लघुपूर्वादिति णेरयादेशः । रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभीषणेनानुयातोऽनुगतः सन् । विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः । भुजविजितं यद्विमानरत्नं पुष्पकं तदारूढः सन् पुरीमयोध्यां प्रतस्थे । समवप्रविभ्यः स्थ इत्यात्मनेपदम् । अत्र प्रस्थानक्रियाया अकर्म्मकत्वेऽपि तदङ्गभूतोद्देशक्रियापेक्षया सकर्म्मकत्वम् । अस्ति च धातूनां क्रियान्तरोपसर्ज्जनकस्वार्थाभिधायकत्वम्, यथा कुसूलान् पचतीत्यादौ आदानक्रियागर्भः पाको विधीयतइति ॥ १०४ ॥

इति श्रीकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां
सञ्जीवनीसमाख्यायां द्वादशः सर्गः ॥

रघुवंशम् ।

त्रयोदशः सर्गः ।

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः
पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां
रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥ १ ॥
वैदेहि पश्या मलयात् विभक्तं
मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्न-
माकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं मरणं रिपूणाम् ।
पुण्यं प्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथेति । अथ प्रस्थानानन्तरम्, जानातीति ज्ञः इगुपधेत्यादिना कप्रत्ययः । गुणानां ज्ञः रत्नाकरादिवर्णगुणाभिज्ञ इत्यर्थः स रामाभिधानो हरिः विष्णुः शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणम् आत्मनः स्वस्य पदं विष्णुपदमाकाशमित्यर्थः । वियद्विष्णुपदमित्यमरः । शब्दगुणमाकाशमिति तार्किकाः । विमानेन पुष्पकेण विगाहमानः सन् रत्नाकरं वीक्ष्य मिथोरहसि । मिथोऽन्योन्यं रहस्यपीत्यमरः । जायां पत्नीं सीताम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमद्योतनार्थम् । मिथोग्रहणं गोष्ठीविस्रम्भसूचनार्थम् ॥ १ ॥

वैदेहीति । हे वैदेहि सीते आ मलयात् मलयपर्य्यन्तम् । पञ्चम्यपाङ्परिभिरिति पञ्चमी । पदद्वयं चैतत् । मत्सेतुना विभक्तं द्विधा कृतम् अत्यायतसेतुनेत्यर्थः । हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम् फेनिलं फेनवन्तम् । फेनादिलच्चेतीलच्-

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये
रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे ।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः
पूर्वैः किलायं परिवर्द्धितो नः ॥ ३ ॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्मात्
विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि ।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्त्ति
प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं
स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।

प्रत्ययः । त्वत्प्रकारी चाहमिति भावः । अम्बुराशिम्, छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नम् आविष्कृतचारुतारम् आकाशमिव, पश्य । मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थ इति हृदयम् । छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्त्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥२॥

गुरोरिति । यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरङ्गे कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं संक्रमिते सति, तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिः नः अस्माकं पूर्व्वैः वृद्धैः सगरसुतैः अयं समुद्रः परिवर्द्धितः किल । किलेत्यैतिह्ये। अतो नः पूज्य इति भावः । यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुः तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात् स एवेति भ्रान्तिः, तन्मतैव कविना कपिलेनेति निर्द्दिष्टम् ॥ ३ ॥

गर्भमिति । अर्कमरीचयः अस्मादब्धेरपादानात् गर्भमम्मयं दधति, दधत्यर्थमित्यर्थः । अयमर्थोदशमसर्गे ताभिर्गर्भ इत्यत्र स्पष्टीकृतः । अयं लोकोपकारीति भावः । अत्राब्धौ वसूनि धनानि । धने रत्ने वसु स्मृतमिति विश्वः । विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्यानित्यर्थः । असौ आपः इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं बिभर्त्ति । अपकारेऽप्याश्रितं न त्यजतीति भावः । अनेन प्रह्लादनं ज्योतिश्चन्द्रोऽजनि जनितम् । जनेर्ण्यन्तात्कर्म्मणि लुङ् । सौम्यइति भावः ॥४॥

तां तामिति । तां तामनेकाम् । नित्यवीप्सयोरिति वीप्सायां द्विरुक्तिः । अवस्थामत्स्योभाद्यवस्थाम्, विष्णुपक्षे सत्वाद्यवस्थाम्, प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश

विष्णोरिवास्यानवधारणीय-
मीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥
नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन
संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः
संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥
पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः
शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो
धर्म्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥
रसातलादादिभवेन पुंसा
भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः ।

दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपम् उक्तरीत्या बहुप्रकारत्वाद्व्यापकत्वाच्च ईदृक्तया इयत्तया वा प्रकारतः परिमाणतश्च अनवधारणीयं दुर्निरूपम् ॥ ५ ॥

नाभीति । युगान्ते कल्पान्ते उचिता परिचिता योगः स्वात्मनिष्ठैव निद्रेव निद्रा यस्य स पुरुषो विष्णुः लोकान् संहृत्य, नाभ्यां प्ररूढं यदम्बुरुहं पद्मं तदासनेन तन्नाभिकमलाश्रयेण प्रथमेन धात्रा दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा पितामहेन संस्तूयमानः सन्, अमुम् अधिशेते अमुष्मिन् शेते इत्यर्थः । कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ॥ ६ ॥

पक्षेति । पक्षच्छिदा गोत्रभिदा इन्द्रेण । उभयत्र सत्सूद्विषेत्यादिना क्विप् । आत्तगन्धाः हृतगर्वाः अभिभूता इत्यर्थः । गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोरिति विश्वः । आत्तगर्वोऽभिभूतः स्यादित्यमरः । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्व्वताः । मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः । शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणसमर्थमेनं समुद्रम्, परेभ्यः शत्रुभ्यः उपप्लविनो भयवन्तो नृपाः धर्म्मोत्तरं धर्म्मप्रधानं मध्यमं मध्यभूपालमिव, आश्रयन्ते । अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तर इति कामन्दकः । आर्त्तबन्धुरिति भावः ॥ ७ ॥

अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं
मुहूर्त्तवक्त्राभरणं बभूव ॥ ८ ॥
मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः
स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः
पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः ॥ ९ ॥
ससत्वमादाय नदीमुखाम्भः
संमीलयन्तो विवृताननत्वात्।
अमी शिरोभि स्तिमयः सरन्ध्रै-
रूर्द्धं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥
मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भि-
र्भिन्नान् द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।

रसातलादिति। आदिभवेन पुंसा आदिवराहेण रसातलात् प्रयुक्तोद्वहन-क्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः, विवाहक्रिया च व्यज्यते, भुवो भूदेवतायाः प्रलये प्रवृद्धमस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्त्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव। तदुक्तम् उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुनेति ॥ ८ ॥

मुखेति। अन्येषां पुंसां सामान्या साधारणा न भवतीति अनन्यसामान्या कलत्रेषु वृत्तिर्भोगो यस्य स तथोक्तः, इममेवार्थं प्रतिपादयति, तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रः मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेषणं विना प्रगल्भाः धृष्टाः सिन्धूर्नदीः। सिन्धुः समुद्रे नद्यां चेति विश्वः। स्वयं पिबति पाययते च तरङ्गाधरमिति शेषः। न पादाम्याङ्यमेत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तान्नित्यं परस्मैपदनिषेधः, गतिबुद्धीत्यादिना सिन्धूनां कर्म्मत्वम्। दम्पत्योर्युगपत् पर-स्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः ॥ ९ ॥

ससत्वमिति। अमी तिमयो मत्स्यविशेषाः। तदुक्तम्। अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतदृति। विवृताननत्वाद्यात्तमुखत्वाद्धेतोः आननविवृत्येत्यर्थः ससत्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भः आदाय संमीलयन्तः चञ्चुपुटानि सङ्कुचयन्तः सन्तः सरन्ध्रैः शिरोभिः जलप्रवाहान् ऊर्द्धं वितन्वन्ति। जलयन्त्रक्रीड़ासमाधि-र्व्यज्यते ॥ १० ॥

कपोलसंसर्पितया य एषां
व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥
वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गाः
महोर्म्मिविस्फूर्ज्जथुनिर्व्विशेषाः ।
सूर्य्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागै-
र्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥
तवाधरस्पर्द्धिषु विद्रुमेषु
पर्य्यस्तमेतत् सहसोर्म्मिवेगात् ।
ऊर्द्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्
क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥
प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातु-
मावर्त्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः
प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥

मातङ्गेति । सहसोत्पतद्भिः मातङ्गनक्रैर्मातङ्गाकारैर्ग्राहैः द्विधा भिन्नान् समुद्रफेनान् पश्य, ये फेनाः एषां जलमातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति ॥ ११ ॥

वेलेति । वेलानिलाय वेलानिलं पातुमित्यर्थः क्रियार्थोपपदेत्यादिना चतुर्थी। प्रसृताः निर्गताः महोर्मीणां विस्फूर्ज्जथुः उद्रेकः । ट्वितोऽथुजित्यथुच्प्रत्ययः। तस्मान्निर्विशेषाः दुर्ग्रहभेदाः एते भुजङ्गाः सूर्य्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभि र्व्यज्यन्ते उन्नीयन्ते ॥ १२ ॥

तवेति । तव अधरस्पर्द्धिषु अधरसदृशेष्वित्यर्थः विद्रुमेषु प्रबालेषु सहसा ऊर्मिवेगात् पर्य्यस्तं प्रोत्क्षिप्तम् ऊर्द्ध्वाङ्कुरैः विद्रुमप्ररोहैः प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतत् शङ्खानां यूथं वृन्दं कथञ्चित् क्लेशात् अपक्रामति विलम्बप्रापसरतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

प्रवृत्तेति । पयांसि पातुं प्रवृत्तएव प्रवृत्तमात्रः नतु पीतवान् । तेन आवर्त्तवेगात् । स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रम इत्यमरः भ्रमता घनेन अयं समुद्रो भूयः पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमानइव भूयिष्ठ मत्यन्तमाभाति ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी
तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेलालवणाम्बुराशे-
र्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते
सम्भावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहाने-
र्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्ति-
पर्य्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्त्तेन विमानवेगात्
कूलं फलावर्ज्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत् करभोरु ! पश्चा-
न्मार्गे मृगप्रेक्षिणि ! दृष्टिपातम् ।

दूरादिति । अयश्चक्रनिभस्य लवणाम्बुराशेः दूरात् तन्वी अणुत्वेनावभासमाना तमालतालीवनराजिभि र्नीला वेला तीरभूमिः धारानिबद्धा चक्राश्रिता कलङ्करेखा मालिन्यरेखेव आभाति । मालिन्यरेखान्तु कलङ्कमाङ्करिति दण्डी ॥ १५ ॥

वेलानिलइति । हे आयताक्षि ! वेला स्यात्तीरनीरयोरिति विश्वः । वेलानिलः केतकरेणुभिः ते आननं सम्भावयति । किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते, बिम्बाधरे बद्धतृष्णं मां मण्डनेन आभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बः तस्याक्षममसहमानम् । कर्म्मणि षष्ठी । कालहानिमसहमानं वेत्तीव किम्, नो चेत् सम्भावयेदित्यर्थः ॥ १६ ॥

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः शुक्तिभिः पर्य्यस्तानि परितः क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तत्तथोक्तं फलैरावर्ज्जिताः आनमिताः पूगमाला यस्मिंस्तत् पयोधेः कूलं विमानवेगान्मुहूर्त्तेन प्राप्ता ॥ १७ ॥

कुरुष्वेति । मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो वहिरित्यमरः । करभ इव

एषा विदूरीभवतः समुद्रात्
सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

क्वचित् पथा सञ्चरते सुराणां
क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः
प्रवर्त्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धि-
स्त्रिमार्गगावीचिविमर्द्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्
आचामति स्वेदलवान् मुखे ते ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन
स्पृष्टस्त्वया चण्डि ! कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीय-
मुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

ऊरू यस्याः सा करभोरूः । ऊरूत्तरपदादौपम्य इत्यूङ् । तस्याः सम्बुद्धिः, हे करभोरु ! मृगवत्मे चत इति विग्रहः हे मृगप्रेक्षिणि तावत्पश्चान्मार्गे लङ्घिताध्वनि दृष्टिपातं कुरुष्व । एषा सकानना भूमिः विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पतति निष्क्रामतीव । विदूर शब्दाद्विशेष्यनिम्नात् च्विः ॥ १८ ॥

क्वचिदिति । हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधः तथा प्रवर्त्तते पश्य । क्वचित् सुराणां पथा सञ्चरते, क्वचिद्घनानां क्वचित्पततां पक्षिणाञ्च पथा सञ्चरते । समस्तृतीयायुक्तादिति संपूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ॥ १९ ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपदानगन्धिः ऐरावतमदगन्धिः त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा । तद्धितार्थेत्यादिना उत्तरपदसमासः । तस्याः वीचीनां विमर्द्देन सम्पर्केण शीतः असौ आकाशवायुः दिनयौवनोत्थान् मध्याह्नसम्भवान् ते मुखे स्वेदलवान् आचामति हरति । अनेन सुरपथसञ्चारो दर्शितः ॥ २० ॥

करेणेति । हे चण्डि ! कोपने ! चण्डस्त्वत्यन्तकोपनइत्यमरः । कुतूः

अमी जनस्थानमपोढ़विघ्नं
मत्वा समारब्धनवोटजानि।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं
चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां
भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्द-
विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु! यतोऽपनीता
तं मार्गमेताः कृपया लता मे।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः
शाखाभिरावर्ज्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

रुलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कवर्यो वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्टः उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीवार्पयतीव। चण्डी-त्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीतः क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

अमी इति। अमी चीरभृतस्तापसाः जनस्थानमपोढ़विघ्नमस्तविघ्नं मत्वा समारब्धा नवाः उटजाः पर्णशालाः येषु तानि। पर्णशालोटजोऽस्त्रियामित्य-मरः। चिरोज्झितानि राक्षसभयादित्यर्थः आश्रममण्डलानि आश्रमविभागान् यथास्वं स्वमनतिक्रम्य अध्यासते अधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

सैषेति। सा पूर्व्वानुभूता स्थली एषा, दृश्यत इत्यर्थः। यत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वता अन्विष्यता मया त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगः तेन यद्दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निःशब्दम्। उर्व्यां भ्रष्टम् एकं नूपुरं मञ्जीरः। मञ्जीरो नूपुरो ऽस्त्रियामित्यमरः। अदृश्यत दृष्टम्। हेतूत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

त्वमिति। हे भीरु भयशीले! ऊङुतइत्यूङ्, ततो नदीत्वात् सम्बुद्धौ ह्रस्वः। त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण। सार्वविभक्तिकस्तसिः। अपनीता अप-हृता तं मार्गं वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमशक्नुवन्त्यः एताः लताः आवर्ज्जिताः नमिताः पल्लवाः पाणिस्थानीयाः याभिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षा-
स्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्या-
मुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्ता-
दाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च
त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २३ ॥

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां
कादम्बमर्द्धोद्गतकेसरञ्च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवु-
र्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥ २७ ॥

पूर्व्वानुभूतं स्मरता च यत्र
कम्पोत्तरं भीरु ! तवोपगूढम् ।

कृपया मेऽदर्शयन् हस्तचेष्टयादर्शयन्नित्यर्थः । शाखा वृक्षान्तरे भुजे इति विश्वः । लतादीनामपि ज्ञानमस्त्येव । तदुक्तं मनुना । अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता इति ॥ २४ ॥

मृग्यश्चेति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षाः निस्पृहा मृग्यः मृगाङ्गनाश्च उत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्त्तयन्त्यः सत्यः तव अगतिज्ञं गत्यनभिज्ञं मां समबोधयन् दृष्टिचेष्टया त्वद्गतिमबोधयन्नित्यर्थः ॥ २५॥

एतदिति । माल्यवतोनाम गिरेरम्बरलेखि अभ्रङ्कषं शृङ्गमेतत् पुरस्तादग्रे आविर्भवति । यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैः नवं पयो मया तद्विप्रयोगेन यदश्रु तच्च समं युगपद्विसृष्टम् । मेघदर्शनाद्वर्षतुल्यमश्रु मुक्तमिति भावः ॥ २६ ॥

गन्धश्चेति । यस्मिन् शृङ्गे धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च, अर्द्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमञ्च, स्निग्धाः मधुराः शिखिनां वर्हिणाम् । शिखिनौ वह्निवर्हिणावित्यमरः । केकाश्च, त्वया विना मे असह्यानि बभूवुः । नपुंसकमनपुंसकेनेति नपुंसकैकशेषः ॥२७॥

गुहाविसारीण्यतिवाहितानि
मया कथञ्चिद्घनगर्ज्जितानि ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिवाष्पयोगात्
मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विड़म्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते
विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढ़ा-
न्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदा-
दमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

अत्राावियुक्तानि रथाङ्गनाम्ना
मन्योन्य दत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्त्तिना ते
मया प्रिये ! सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

पूर्वेति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्व्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढ़मुपगूहनं स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्ज्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात् क्लेशेन गमितानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैः विकसितकुड्मलैः नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैररुणवर्णैः आसारेण धारासम्पातेन । धारासम्पात आसार इत्यमरः । सिक्तायाः क्षितेर्वाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोः विड़म्ब्यमाना अनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः, सादृश्यात् स्मर्य्यमाणेति शेषः, मामक्षिणोत् अपीड़यत् ॥ २९ ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढ़ानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नानि आलक्ष्या ईषद्दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसाः येषु तानि अमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिः अतएव खेदात् पिबतीव न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अत्रेति । अत्र पम्पासरसि अन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेशराणि अवियुक्तानि

इमां तटाशोकलताञ्च तन्वीं
स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः
सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां
श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो
गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययापि
घटाम्बुसंवर्द्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा
दृष्टा चिरात् पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्त-
स्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।

रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्त्तिना दूरदेशवर्त्तिना मया हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि तदानीं त्वामस्मार्षमित्यर्थः ॥ २१ ॥

इमामिति । किञ्च स्तनवदभिरामाभ्यां स्तवकाभ्याम् अभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकलताम् अतस्त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या परिरब्धुमालिङ्गितुं कामोयस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुः निषिद्धः नेयं सीतेति निवारितः । परिरब्धुकामः इत्यत्र तुंकाममनसोरपीति वचनात् मकारलोपः ॥ २२ ॥

अमूरिति । विमानस्यान्तरेषु अवकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा स्वयूथशब्दभ्रमात् खमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूः गोदावरीसारसपङ्क्तयः त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ॥ २३ ॥

एषेति । पेशलमध्ययापि भाराक्षमयापीत्यर्थः त्वया घटाम्बुभिः संवर्द्धिताः बालचूताः यस्याः सा उन्मुखाः अस्मदभिमुखाः त्वत्संवर्द्धिता एव कृष्णसाराः यस्याः सा चिरात् दृष्टा एषा पञ्चवटी मे मनः आनन्दयति आह्लादयति । पञ्चवटीशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः ॥ २४ ॥

रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्द्धा
स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥
भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः
प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतो-
र्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥
त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्त्ते-
स्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः
समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥
एतन्मुनेर्म्मानिनि ! शातकर्णेः
पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।

अत्रेति । अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्याः समीपे अनुगोदम् । अनु-र्यत्समयेत्यव्ययीभावः । मृगयायाः निवृत्तः तरङ्गवातेन विनीतखेदः रहोरहसि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्द्धा सन् अहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म्म । सुप्त इति यत्तत् स्मरामीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदेति । यो मुनिः भ्रूभेदमात्रेण भ्रूभङ्गमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्रत्वात् प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रंशयति स्म । आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोः कलुष-जलप्रसादहेतोः तस्य मुनेरगस्त्यस्य, अगस्त्यस्योदये शरदि जलं प्रसीदतीति उक्तं प्राक्, भूमौ भवः भौमः स्थानपरिग्रहः आश्रमोऽयं दृश्यत इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम् । परिगृह्यत इति परिग्रहः स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः ॥ ३६ ॥

त्रेतेति । अनिन्द्यकीर्त्तेस्तस्यागस्त्यस्य आक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि, त्रय एव त्रेता अग्नित्रयम् । अग्नित्रयमिदं त्रेतेत्यमरः । पृषोदरा-दित्वादेत्वम् । त्रेतेत्यग्नयः त्रेताग्नयः तेषां धूमाग्रमिदं घ्रात्वा आघ्राय रजोगुणा-द्विमुक्तः मे मम आत्मा अन्तःकरणं लघिमानं लघुत्वगुणं समश्नुते प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

एतदिति । हे मानिनि ! शातकर्णेः मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरो नाम पञ्चाप्सर-

आभाति पर्य्यन्तवनं विदूरात्
मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥
पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्ति-
श्चरन्मृगैः सार्द्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः
पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥
तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः
प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः
क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥ ४० ॥
हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां
मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः ।

इति प्रसिद्धम् । पञ्च अप्सरसो यस्मिन्निति विग्रहः । पर्य्यन्तेषु वनानि यस्य तत् पर्य्यन्तवनं एतत् विहारवारि क्रीड़ासरो विदूरात्, मेघानामन्तरे मध्ये आलक्ष्यमीषद्दृश्यम् । आ ईषदर्थेऽभिव्याप्ताविव्यमरः । इन्दुबिम्बमिव, आभाति ॥३८॥

पुरेति । पुरा पूर्व्वस्मिन् काले दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिः तन्मात्राहारः मृगैः सार्द्धं सह चरन् स ऋषिः समाधेस्तपसोभीतेन मघोना इन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम् । तद्धितार्थेत्यादिना उत्तरपद समासः । तदेव कूटबन्धं कपटयन्त्रमुपनीतः । उन्माथः कूटयन्त्रं स्यादित्यमरः । किलेत्यैतिह्ये । मृगसाहचर्य्यात् मृगवदेव बद्ध इति भावः ॥ ३९ ॥

तस्येति । अन्तर्हितसौधभाजः जलान्तर्गतप्रासादगतस्य तस्य शातकर्णेः अयं प्रसक्तः सन्ततः सङ्गीतमृदङ्गघोषो वियद्गतः सन् पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि । चन्द्रशाला शिरोगृहमिति हलायुधः । क्षणं प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैः मुखराः ध्वनन्तीः करोति । स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वान इत्यमरः ॥ ४० ॥

हविरिति । नाम्ना सुतीक्ष्णः सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः सौम्यः असौ अपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम् । काष्ठं दार्व्विन्धनं त्वेध इत्यमरः । चतुर्णां हविर्भुजाम् अग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्य्यः । असूर्य्यललाटयो-

असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी
नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥
अमुं सहासप्रहितेक्षणानि
व्याजार्द्धसन्दर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्त्तुं जनितेन्द्रशङ्कं
सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥
एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां
कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्द्ध्वबाहुः
सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥
वाचंयमत्वात् प्रणतिं ममैषः
कम्पेन किञ्चित् प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।

र्शितपोरिति खश्प्रत्ययः, अरुर्द्विषदित्यादिना मुमागमः । ललाटन्तपः सप्तसप्तिः सप्ताश्वः सूर्य्यो यस्य स तथोक्तः सन् तपस्यति तपश्चरति । कर्मणोरोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोरिति क्यङ्, तपसः परस्मैपदञ्चेति वक्तव्यम् ॥ ४१ ॥

अमुमिति । जनितेन्द्रशङ्कं तपसेति शेषः । अमुं सुतीक्ष्णं सहासं प्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिषेण । पुंस्यर्द्धोऽर्द्धं समेंऽशके इति विश्वः । अर्द्धमीषत् सन्दर्शिताः मेखलाः येषु तानि सुराङ्गनानां विभ्रमाः विलासा एव चेष्टितानि विकर्त्तुं स्खलयितुम् अलं समर्थानि न बभूवुरिति शेषः ॥ ४२ ॥

एषइति । ऊर्द्ध्वबाहुरेषः सुतीक्ष्णः अक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कुशाएव सूचयः ताः लूनातीति कुशसूचिलावस्तम् । कर्म्मण्यण् । एभिर्विशेषणैः जयशीलत्वं भूतदया कर्म्मक्षमत्वञ्च द्योत्यते । सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते । निमित्तात्कर्म्मयोगइति सप्तमी । इतः प्राध्वं प्रह्वतानुकूलबन्ध्वं प्रयुङ्क्ते । आनुकूल्यार्थकं प्राध्वमित्यमरः । अव्ययञ्चैतत् ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वादिति । एष सुतीक्ष्णः वाचं यच्छतीति वाचंयमो मौनव्रती ।

दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां
पुनः सहस्रार्च्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्न-
स्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं
यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु
भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्य्या
स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ
शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।

वाचि यमोव्रतइति खच्प्रत्ययः, वाचंयमपुरन्दरौ चेति सुम् । तस्य भावस्तत्त्वात् मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्द्धः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरोधानं तस्मान्मुक्ताम् । अपेतापोढ़मुक्तपतितेति पञ्चमीसमासः । दृष्टिं पुनः सहस्रार्च्चिषि सूर्य्ये सन्निधत्ते सम्यक् धत्त इत्यर्थः, अन्यथा अकर्म्मकत्वप्रसङ्गात् ॥ ४४॥

अद इति । शरणे रक्षणे साधु शरण्यं पावयतीति पावनम् अदो दृश्यमानं तपोवनम् आहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः सम्बन्धि, यः शरभङ्गः चिराय अग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां शुद्धां तनुमप्यहौषीत् हुतवान् । जुहोतेर्लुङ् ॥ ४५ ॥

छायेति । अधुना अस्मिन् काले तस्य शरभङ्गस्य सम्बन्धिनी अतिथीनां सपर्य्या अतिथिपूजा । पूजा नमस्यापचितिः सपर्य्यार्च्चार्हणाः समा इत्यमरः । छायाभिः विनीतोऽपनीतः अध्वपरिश्रमो यैः तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भाव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां तेषु अमीषु पादपेषु आम्रमहच्चेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता, पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयतइत्यर्थः ॥ ४६ ॥

धारेति । धारा निर्झराः, यद्वा धारया सातत्येन स्वेदोद्गारि दर्य्येव मुखं यस्य सः शृङ्गं शिखरं विषाणञ्च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुदएव वप्रपङ्को वप्रक्रीड़ासक्त-

बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुः
दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥
एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा
सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे
मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥
अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः
प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी
मयावतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥
अनिग्रहत्रासविनीतसत्व-
मपुष्पलिङ्गात् फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपःसाधनमेतदत्रे-
राविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

पङ्क्तो यस्य सः असौ चित्रकूटः हे बन्धुरगात्रि उन्नतानताङ्गि । बन्धुरं तून्नतानतमित्यमरः । दृप्तः ककुद्मान् वृषभ इव मे चक्षुः बध्नाति नान्यासक्तं करोति॥ ४७॥

एषेति । प्रसन्नोनिर्म्मलः स्तिमितो निस्पन्दः प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्त्यवकाशस्य भावात् तन्वी दूरदेशवर्त्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम कार्चिच्चित्रकूटनिकटगा एषा सरित् नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति । अत्र नगस्य शिरस्त्वमुपकण्ठस्य कण्ठत्वञ्च गम्यते ॥ ४८ ॥

अयमिति । गिरेः समीपे अनुगिरम् । गिरेश्च सेनकस्येति समासान्तः टच्प्रत्ययः । सुजात स्तमालोऽयं दृश्यते । यस्य तमालस्य शोभनोगन्धो यस्य तत् सुगन्धि । गन्धस्येत्यादिना इकारः समासान्तः । प्रवालं पल्लवमादाय मया ते यवाङ्कुरवदापाण्डौ कपोले शोभते यः सोऽवतंसः परिकल्पितः ॥ ४९ ॥

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्वाः जन्तवो यस्मिंस्तत् अपुष्पलिङ्गात् पुष्पनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणः

अत्राभिषेकाय तपोधनानां
सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्त्तयामास किलानुसूया
त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणा-
ममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निर्वातनिष्कम्पतया विभान्ति
योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥ ५२ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः
सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुड़ानां
सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

इच्छाः यस्मिन् तत् अतएव आविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् अत्रेर्मुने स्तपसः साधनं वनमेतत् ॥ ५० ॥

अत्रेति। अत्र वने अनुसूया अत्रिपत्नी, सप्त च ते ऋषयश्च सप्तर्षयः। दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासः। तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालां हरशिरःस्रजं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानाम् ऋषीणाम् अभिषेकाय स्नानाय, प्रवर्त्तयामास, किलेत्यैतिह्ये ॥ ५१ ॥

वीरेति। वीरासनैः जयसाधनैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्ते ध्यानजुषः तेषां तैरु-पविश्य ध्यायताम् ऋषीणां सम्बन्धिनः समध्यासितवेदिमध्याः। इदं वीरासन-स्थानीयम्। अमी शाखिनोऽपि निवातनिष्कम्पतया योगाधिरूढ़ाइव ध्यानभाज इव विभान्ति। ध्यायन्तोपि निश्चलाङ्गा भवन्ति। वीरासने वशिष्ठः। एकपाद-मथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितम्। इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृत-मिति ॥ ५२ ॥

त्वयेति। त्वया पुरस्तात् पूर्वं यः उपयाचितः प्रार्थितः। तथाच रामा-यणे। न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत्। नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे

क्वचित् प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै-
र्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजाना-
मिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥

क्वचित् खगानां प्रियमानसानां
कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा
भक्तिर्भुव श्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥

क्वचित् प्रभा चान्द्रमसी तमोभि-
श्छायाविलीनैः शवलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा
रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥

व्रतं पतिरिति । श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन् सपद्मरागो गारु-ड़ानां मणीनां राशिरिव विभाति ॥ ५३ ॥

क्वचिदित्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति क्वचिदिति । हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा मिश्रौघा गङ्गा जाह्नवी विभाति त्वं पश्य । केव, क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपि-भिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलै रुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्कजानां पुण्डरीकाणां मालेव, विभातीति सर्व्वत्र सम्बन्धः ॥ ५४ ॥

क्वचिदिति । क्वचित् कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पङ्क्तिरिव । राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणै-र्लोहितैः सिता इत्यमरः । अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिका भुव-श्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव ॥ ५५ ॥

क्वचिदिति । क्वचित् छायासु विलीनैः स्थितैस्तमोभिः शवलीकृता कर्व्वुरी-कृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शर-दभ्रलेखा शरन्मेघपङ्क्तिरिव ॥ ५६ ॥

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव
भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि ! विभाति गङ्गा
भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते
पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूय-
स्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तत्
यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत् सुमन्त्रः
कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां
निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।

क्वचिदिति । क्वचित् कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागा ईश्वरस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यातः । कलापकम् ॥ ५७ ॥

समुद्रेति । अत्र समुद्रपत्न्योः गङ्गायमुनयोर्जलसन्निपाते सङ्गमे अभिषेकात् स्नानात् पूतात्मनां तनुत्यजां पुंसां तत्त्वावबोधेन तत्त्वज्ञानेन विनापि प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरयोगो नास्ति किल । अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः अत्र स्नानादेव मुक्तिरित्यर्थः ॥ ५८ ॥

पुरमिति । निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदं यस्मिन् पुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीषु सुमन्त्रः हे कैकेयि ! तव कामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः इत्यरुदत् । रुदिरश्रुविमोचने लुङ् ॥ ५९ ॥

पयोधरैरिति । पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैः निर्विष्ट उपभुक्तो हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत् । तत्र ताः क्रीड़न्तीति व्यज्यते । ब्रह्मण इदं ब्राह्मम् । नस्तद्धित इति टिलोपः । ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्याः सरय्वाः,

ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो
बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥
जलानि या तीरनिखातयूपा
वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णै-
रिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥
यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां
प्राज्यैः पयोभिः परिवर्द्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे
सम्भावयत्युत्तरकोशलानाम् ॥ ६२ ॥
सेयं मदीया जननीव तेन
मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।

बुद्धेर्महत्तत्त्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव, कारणम् आप्तस्य वाचः आप्तवाचो वेदाः यद्वा बहुव्रीहिणा मुनयः उदाहरन्ति प्रचक्षते ॥ ६० ॥

जलानीति । यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्थो दारुविशेषः । तीरनिखातयूपा या सरयूः तुरङ्गमेधाः अश्वमेधाः तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभि-रिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैः पूर्वैः । तद्राजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतानि अतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलानि अयोध्यां राजधानीं नगरीम् अनु समीपे तया लक्षि-तयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य लक्षणेत्थम्भूतेत्यादिना कर्मप्रवचनीयत्वात् तद्योगे द्वितीया । वहति प्रापयति ॥ ६१ ॥

यामिति । यां सरयूं मे मानसं कर्तृ, सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गः तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । पयः क्षीरं पयोऽम्बु चेत्य-मरः । परिवर्द्धितानां पुष्टानाम् उत्तरकोशलानाम् उत्तरकोशलेश्वराणां सामान्य-धात्रीं साधारणमातरमिव, सम्भावयति । धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृ-ष्विति विश्वः ॥ ६२ ॥

सेति । मदीया जननी कौशल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता

दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्म्मां
तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥
विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्तात्
यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः
प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥
अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय
प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्
संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥
असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः
पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासाः
मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

सेयं सरयूः दूरे वसन्तं प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैः तरङ्गैरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

विरक्तेति । विरक्ता अतिरक्ता या सन्ध्या तद्वत् कपिशं ताम्रं पृथिव्या इदं पार्थिवं रजो धूलिः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात् कारणादुज्जिहीते उद्गच्छति, तस्मात् हनुरस्यास्तीति हनूमान् । शरादीनाञ्चेति दीर्घः । तेन कथिता प्रवृत्तिः अस्मदागमनवार्त्ता यस्य सः भरतः ससैन्यः सन् मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि । शङ्का भयवितर्कयोरिति शब्दार्णवः । अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्दलाभः ॥ ६४ ॥

अद्धेति । किञ्च, साधुः सज्जनः स भरतः । साधुर्वार्द्धुषिके चारौ सज्जने चापि वाच्यवदिति विश्वः । पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यम् अनघाम् अदोषां भोगाभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां श्रियम्, मृधे युद्धे खरादीन् हत्वा निवृत्ताय लक्ष्मणः संरक्षिताम् अनघां त्वामिव, प्रत्यर्पयिष्यति अद्धा सत्यम् । सत्ये त्वद्धाञ्जसा द्वय मित्यमरः ॥ ६५ ॥

असाविति । असौ पदातिः पादचारी चीरवासाः वल्कलवसनो भरतः पश्चात्

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः
श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्र-
मभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीया-
मिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभि-
रुद्वीक्षितं प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥ ६८ ॥

तस्मात् पुरःसरविभीषणदर्शितेन
सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन
मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥

पृष्ठभागेऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन् । नद्यृतश्चेति कप् । गुरुं वशिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सह अर्घ्यपाणिः सन् मामभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पित्रेति । योभरतः पित्रा विसृष्टां दत्ताम् अङ्कमुत्सङ्गं गतामपि यां श्रियं युवापि मदपेक्षया मद्भक्त्या अभोक्ता सन् । तृन्नन्तत्वान्नलोकेति षष्ठीनिषेधः । इयन्ति वर्षाणि एतावतो वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तया श्रिया सह, स्त्रियेति गम्यते, उग्रं दुश्चरम् आसिधारं नाम व्रतम् अभ्यस्यतीव । युवा युवत्या सार्द्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत् । अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तदिति यादवः । इदञ्चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादासिधारव्रत मित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

एतावदिति । दाशरथौ रामे एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छाम् अधिदेवतया मिषेण विदित्वा तत्प्रेरितं सदित्यर्थः सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिः उद्वीक्षितं ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ॥ ६८ ॥

तस्मादिति । रामः सेवायां विचक्षणः कुशलो हरीश्वरः सुग्रीवः तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन् स्खलन्नत्वात् पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शि-

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य
सभ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्द्धनि चोपजघ्रौ
तद्भक्त्यपोढ़पितृराज्यमहाभिषेके ॥ ७० ॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च
प्लक्षान् प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
अन्वग्रहीत् प्रणमतः शुभदृष्टिपातैः
वार्त्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे
पौलस्त्य एष समरेषु पुरःप्रहर्त्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन
व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

तेन अदूरं महीतलं यस्य तेन भक्तिभिर्विच्छित्तिभिः रचितस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्मात् पुष्पकात् अवातरत् अवतीर्णवान् । तरतेर्लङ् ॥ ६९॥

इक्ष्वाकित्विति प्रयतः स रामः इक्ष्वाकुवंशगुरवे वशिष्ठाय प्रणम्य नमस्कृत्य अर्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकार स्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतानन्दवाष्पः सन् सभ्रातरं भरतम् अस्वजत आलिङ्गत्, तस्मिन् रामे भक्त्या अपोढ़ः परिहृतः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन् मूर्द्धनि उपजघ्रौ च । घ्रागन्धोपादाने लिटिरूपम्॥७०॥

श्मश्र्विति । श्मश्रूणां मुखरोम्णां प्रवृद्ध्या संस्काराभावादभिवृद्ध्या जनिता आननेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तान् अतएव प्ररोहैः शाखावलम्बिभिः अधोमुखैः मूलैः जटिलान् जटावतः प्लक्षान् न्यग्रोधानिव स्थितान् प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभैः कृपार्द्रैः दृष्टिपातैः वार्त्तस्यानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा च अन्वग्रहीत् अनुगृहीतवान् ॥ ७१ ॥

दुर्ज्जात इति । अयं मे दुर्ज्जातबन्धुः आपद्बन्धुः । दुर्ज्जातं व्यसनं प्रोक्तमिति विश्वः । ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः, एषः समरेषु पुरःप्रहर्त्ता, पौलस्त्यो विभीषणः इति आदृतेनादरवता । कर्त्तरि क्तः । रघूणां नन्दनेन रामेण कथितावुभौ

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैन-
मुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन
क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥ ७३ ॥
रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं
कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः
शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥ ७४ ॥
सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां
भेजे रथान् दशरथप्रभवानुशिष्टः ।

विभीषणसुग्रीवौ लक्ष्मणमनुजमपि व्युत्क्रम्य आलिङ्गनादिभिरसम्भाव्य भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तरं स भरतः सौमित्रिणा संससृजे सङ्गतः । सृज विसर्गे दैवादिकात् कर्त्तरि लिट् । नम्रशिरसं प्रणतमेनं सौमित्रिमुत्थाप्य भृशं गाढ़मालिलिङ्ग च, किं कुर्व्वन्, रूढ़ेन्द्रजित्प्रहरणव्रणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेरुरःस्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीड़यन्निव । क्लिश्नातिरयं सकर्म्मकः, क्लिश्नाति भुवनत्रयमिति दर्शनात् । ननु रामायणे, ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीञ्च परन्तप । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतोनाम चाब्रवीदिति भरतस्य कानिष्ठं प्रतीयते किमर्थं ज्यैष्ठमवलम्ब्य आर्ज्जवेन श्लोको व्याख्यातः सत्यम् । किन्तु रामायणश्लोकार्थष्टीकाकृतोक्तः श्रूयताम्, ततो लक्ष्मणमासाद्येत्यादिश्लोके आसादनं लक्ष्मणवैदेह्योः, अभिवादनन्तु वैदेह्याएव, अन्यथा पूर्व्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठं विरुध्येतेति ॥ ७३ ॥

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयः रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रानारुरुहुः, बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु वर्षत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहणसुखानि उपलेभिरे अनुबभूवुः ॥ ७४ ॥

सानुप्लव इति । सानुप्लवः सानुगः । अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवोऽनुग-इति यादवः । क्षणदाचराणां प्रभुः विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति प्रभवो जनकः

मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयै-
र्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥ ७५ ॥
भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥
तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं
वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्
प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥
लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तत्
वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।

दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवः रामः तेनानुशिष्ट आज्ञप्तः सन् रथान् भेजे। तानेव विशिनष्टि ये रथाः मायाविकल्परचितैः सङ्कल्पविशेषनिर्म्मितैरपि तदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनैः तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः तुलिता समीकृता कृत्रिमा निर्वृत्ता भक्तीनां शोभा येषां ते तथोक्ताः न भवन्ति तेऽपि तत्साम्यं न लभन्त इत्यर्थः। कृत्रिमेत्यत्र ड्वितः क्त्रिरिति क्त्रिप्रत्ययः, क्त्रेर्म्मम् नित्यमिति ममागमः ॥ ७५ ॥

भूयइति। ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन् विलसत्पताकं कामेनेच्छानुसारेण गतिर्यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि, बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयः तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम्। सायञ्चिरं प्राह्णे इत्यादिना दोषाशब्दादव्ययात् ट्यु प्रत्ययः। तरलविद्युच्चञ्चलतड़िदभ्रवृन्दमिव, अध्यास्त अधिष्ठितवान् ॥ ७६ ॥

तत्रेति। विमाने, जगताम् ईश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुर्व्वीमिव, वर्षात्ययेन शरदागमेन अभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दोरुचं चन्द्रिकामिव, रामेण दशकण्ठ एव कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात् प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरेति। लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढ़व्रतमख-

ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलञ्च शिरोऽस्य साधो-
रन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥ ७८ ॥

क्रोशार्द्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा
काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्य्यमार्य्यः
साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
दण्डकाप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

खिडतपातिव्रत्यम् अतएव वन्द्यं तत् जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगम्, ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्च इत्युभयं समेत्य मिलित्वा अन्योन्यस्य पावनं शोधकम् अभूत् ॥ ७८ ॥

क्रोशेति । आर्य्यः पूज्यः काकुत्स्थो रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरःसराः यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण । क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः । क्रोशार्द्धं क्रोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिताः उपकार्य्याः पटभवनानि यस्मिं स्तत् उदारं महत् साकेतस्यायोध्यायाः उपवनम् अध्युवास अधितष्ठौ । साकेतः स्यादयोध्यायां कोशला नन्दिनी तथेति यादवः ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां त्रयोदशः सर्गः ।

रघुवंशम्।

चतुर्दशः सर्गः।

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं
दशान्तरं तत्र समं प्रपन्ने।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ
छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ॥ १॥
उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी
यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ
ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात्॥ २॥

सञ्जीवनं मैथिलकन्यकायाः सौन्दर्य्यसर्वस्वमहानिधानम्।
शशाङ्कपङ्केरुहयोः समानं रामस्य वन्दे रमणीयमास्यम्॥

भर्तुरिति। अथ उपवनाधिष्ठानानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ, उपघ्नतरोः आश्रयवृक्षस्य। उपघ्नमाश्रय इति निपातः। छेदात् व्रतत्यौ लते इव। वल्ली तु व्रततिर्लतेत्यमरः। भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशात् शोचनीयं दशान्तरम् अवस्थान्तरम्। अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशापीति विश्वः। प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौशल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम्। दृशेः कर्त्तरि लङ्॥ १॥

उभाविति। यथाक्रमं स्वस्वमातृपूर्व्वकं प्रणतौ नमस्कृतवन्तौ हतारी हतशत्रुकौ विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणौ उभाभ्यां मातृभ्याम् अस्रैः अश्रुभिः अन्धतया हेतुना। अस्रमश्रु च शोणितमिति यादवः। विस्पष्टं न दृष्टौ किन्तु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भा दनुभवात् ज्ञातौ॥ २॥

आनन्दजः शोकजमश्रु वाष्प-
स्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वो र्जलमुष्णतप्तं
हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गा-
नार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां
न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाहं
सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्या-
वभक्तिभेदेन बधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ
वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव ।

आनन्दज इति । तयोर्मात्रोः आनन्दजः शिशिरो वाष्पः शोकजमशीतमुष्णमश्रु, उष्णतप्तं ग्रीष्मतप्तं गङ्गासरय्वोर्जलं कर्म्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव, बिभेद । आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ते इति । ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान् व्रणान् आर्द्रान् सरसानिव सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानाम् ईप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्दं नाकामयेताम् । वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः ॥ ४ ॥

क्लेशावहेति । आवहतीत्यावहा, भर्त्तुः क्लेशावहा क्लेशकारिणी अतएव अलक्षणाहं सीतेति स्वं नाम उदीरयन्ती स्वर्गः प्रतिष्ठा आस्पदं यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः श्वशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ बधूः स्नुषा । बधूः स्नुषा बधूर्जायेत्यमरः । अभक्तिभेदेन ववन्दे । स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्र्वोर्वैधव्यदर्शनदुःखं सूचितम् ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठेति । ननु वत्से उत्तिष्ठ असौ सानुजो भर्त्ता तवैव शुचिना वृत्तेन

कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां
तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः
प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्त्तयामासुरमात्यवृद्धा-
स्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

सरित्समुद्रान् सरसीश्च गत्वा
रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णो-
र्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

तपस्विवेषक्रिययापि तावत्
यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा
तस्योदितासीत् पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥

महत्कृच्छ्रं दुःखं तीर्णः तीर्णवान्, इति प्रियार्हां तां वधूं प्रियमप्यमिथ्या सत्यं ते श्वश्र्वौ ऊचतुः । उभयं दुर्वचमिति भावः ॥ ६ ॥

अथेति । अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दवाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतोः रामस्य अभिषेकम् अमात्यवृद्धाः तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयैः निर्वर्त्तयामासुः निष्पादयामासुः ॥ ७ ॥

सरिदिति । रक्षःकपीन्द्रैः सरितो गङ्गाद्याः समुद्रान् पूर्वादीन् सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितानि उपनीतानि जलानि जिष्णो र्जयशीलस्य । ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुरिति ग्स्नु प्रत्ययः । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेः मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप इव अपतन् ॥ ८ ॥

तपस्वीति । यो रामः तपस्विवेषक्रिययापि तपस्विवेषरचनयापि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयस्तावत् दर्शनीयो बभूव, तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेशरचनया उदिता या शोभा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तोदोषा द्विगुणा आसीत् ॥ ९ ॥

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्य-
स्तूर्य्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षा-
मुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्द-
माधूतवालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भरतेन साक्षात्
उपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजि-
स्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन
मुक्ता स्वयं वेणिरिवाबभासे ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां
कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।

सइति । स रामः ससैन्यः तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन् मूले भवाः-मौलाः मन्त्रिवृद्धाः तैः रक्षोभिः हरिभिश्च सह सौधेभ्यः उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणा-मन्वयराजधानीमयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ॥ १० ॥

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्द-माधूते बालव्यजने चामरे यस्य सः रथस्थः भरतेन धृतातपत्रः एवं चतुर्व्यूहो रामः प्रवृद्धः साक्षादुपायानां सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव विवेशेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रासादे यः कालागुरुधूमः तस्य राजिः रेखा वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्याः पुर्य्याः मुक्ता वेणिरिव आब-भासे । पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः । न प्रोषिते तु संस्कुर्य्यान्न वेणीञ्च प्रमो-चयेदिति हारीतः ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषां कृतसौम्यनेपथ्याम् । आकल्प-वेषौ नेपथ्यमित्यमरः । कर्णीरथः स्त्रीयोग्योऽल्परथः । कर्णीरथः प्रवहणमिति

प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः
साकेतनार्य्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥
स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं
सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्य्यै
सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥
वेश्मानि रामः परिवर्हवन्ति
विश्राण्य सौहार्द्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
वाष्पायमाणो वलिमन्निकेत-
मालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥
कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्या-
न्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद्गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति
जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

यादवः । तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्य्यः प्रासादवातायनेषु दृश्यबन्धै-र्लब्धपुटैरञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलम् आनुसूयम् अनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदा-तनम् अङ्गरागं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्य्यै शुद्धेति सन्दर्शिता पुनर्वह्निग-तेन रराज ॥ १४ ॥

वेश्मानीति । सुहृदो भावः सौहार्द्दं सौजन्यम् । हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्व्वपदस्योभयपदवृद्धिः । सौहार्द्दनिधिः रामः सुहृद्भ्यः सुग्रीवादिभ्यः परिवर्हवन्ति उप-करणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्त्वा आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुः वलिमत् पूजायुक्तं निकेतं गृहं वाष्पायमाणो वाष्पमुद्वमन् विवेश । वाष्पोष्माभ्यामुद्वमने इति क्यङ् प्रत्ययः ॥ १५ ॥

कृताञ्जलिरिति । तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः, हे अम्ब नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात् सत्यात् नाभ्रश्यत न भ्रष्टवान् इति यदस्त्रंशनं तत्

तथैव सुग्रीवविभीषणादीन्
उपाचरत् कृत्रिमसंविधाभिः ।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते
क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

सभाजनायोपगतान् स दिव्यान्
मुनीन् पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं
स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु
सुखादविज्ञातगतार्द्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्
रक्षःकपीन्द्रान् विससर्ज्ज रामः ॥ १९ ॥

चिन्त्यमानं विचार्य्यमाणं तत्र सुकृतम् इत्येवं प्रकारेण, भरतस्य मातुः कैकेय्याः लज्जां जहार अपानयत् । राज्ञां प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः । भरतग्रहणं तदपेक्षयापि कैकेय्यनुसरणद्योतनार्थम् ॥ १६ ॥

तथेति । सुग्रीवविभीषणादीन् संविधीयन्त इति संविधाः भोग्य-वस्तूनि कृत्रिमसंविधाभिः तथा तेन प्रकारेणैव उपाचरत् यथा सङ्कल्पमात्रेण इच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयः चेतसि विस्मयेन क्रान्ताः आक्रान्ताः ॥ १७ ॥

सभाजनायेति । स रामः सभाजनायाभिवन्दनाय उपगतान् दिवि भवान् मुनीन् अगस्त्यादीन् पुरस्कृत्य शत्रोरावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान् । विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रतीति । तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञातएव गतोऽर्द्धमासो येषां तान् अनन्तरं सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ता अग्र्यपूजा उत्तमसम्भावना एभ्यस्तान्, एतेन सौहार्द्दातिशय उक्तः, रक्षःकपीन्द्रान् रामः विससर्ज्ज विसृष्टवान् ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं
हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः
पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं
निस्तीर्य्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्म्मार्थकामेषु समां प्रपेदे
यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

सर्व्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्
स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु
नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

तेनार्थवान् लोभपराङ्मुखेन
तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।

तच्चेति । तच्च आत्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारेः रावणस्य जीवितेन सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथस्य कुवेरस्य उद्वहनाय अन्वमंस्त अनुज्ञातवान् । मन्यतेर्लुङ् । भूयोग्रहणेन पूर्व्वमप्येतत् कौवेरमेवेति सूच्यते ॥ २० ॥

पितुरिति । रामः एवं पितुर्नियोगात् शासनात् वनवासं निस्तीर्य्य अनन्तरं प्रतिपन्नराज्यः सन् धर्म्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेषु अनुजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे अवैषम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

सर्वास्विति । स रामो वत्सलत्वात् स्निग्धत्वात् नतु लोकप्रतीत्यर्थम् । स्निग्धस्तु वत्सलइत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिः तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव, चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीताः पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ॥ २२ ॥

तेनेति । लोको लोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेण अर्थवान् धनिकः आस बभूव । तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमेतत् । विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता तेन क्रिया-

तेनास लोकः पितृमान् विनेत्रा
तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥
स पौरकार्य्याणि समीक्ष्य काले
रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा ।
उपस्थित श्चारु वपुस्तदीयं
कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥
तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थान्
आसेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु ।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु
सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥ २५ ॥
अथाधिकस्निग्धविलोचनेन
मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीत्
अनक्षरव्यञ्जितदौर्हृदेन ॥ २६ ॥

वाननुष्ठानवान् । विनेत्रा नियामकेन तेन पितृमान् पितृवन्नियच्छतीत्यर्थः । शोकमपनुदतीति शोकापनुदः सुखस्याहर्त्ता तेन । तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोरिति कप्रत्ययः । तेन पुत्री पुत्रवान्।स पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

सइति । स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्य्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया, उपभोगोत्सुकया अतएव तदीयं सीतासम्बन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्येव, उपस्थितः सङ्गतः सन् रेमे । उपस्थानं सङ्गतिरिति यादवः ॥ २४ ॥

तयोरिति । चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तलेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टम् इन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयान् शब्दादीन् आसेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः दण्डकेषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि सञ्चिन्त्यमानानि स्मर्य्यमाणानि सुखानि अभूवन् । स्मारकन्तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

अथेति । अथ सीता अधिकस्निग्धविलोचनेन अत्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं
वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम् ।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः
पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥ २७ ॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः
सम्बद्धवैखानसकन्यकानि ।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं
भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीर-
स्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः ।
आलोकयिष्यन् मुदितामयोध्यां
प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्
विगाह्यमानां सरयूञ्च नौभिः ।

त्वग्विशेषवत् पाण्डुरेण अतएव अनक्षरमवाग्व्यापारं यथा भवति तथा व्यञ्जितं दौर्हृदं गर्भो येन तेन मुखेन परितोषुः पत्युरानन्दयित्री आसीत् ॥ २६ ॥

तामिति । प्रतीतो गर्भज्ञानवान् रमयतीति रमणः प्रियां कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तरेण नीलिम्ना आक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहसि अङ्कम् आरोप्य अभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ । एतच्च दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयादिति शास्त्रात् नतु लौल्यादित्यनुसन्धेयम् ॥ २७ ॥

सेति । सा सीता हिंस्रैर्दष्टाः नीवारा एव बलयो येषु तानि, तिर्य्यग्भिक्षुकादिदानं बलिः । सम्बद्धाः कृतसम्बन्धाः कृतसख्याः वैखानसानां कन्यका येषु तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिललाष ॥ २८ ॥

तस्यैइति । रघुप्रवीरो रामः तस्यै सीतायै तत् पूर्व्वोक्तम् ईप्सितं मनोरथं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्कालोचितैरनुयातः सन् मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन् अभ्रं लेढ़ीत्यभ्रंलिहमभ्रङ्कषं प्रासादमारुरोह । वहाभ्रे लिह इति खश्प्रत्ययः, अरुर्द्विषदिति मुमागमः ॥ २९ ॥

विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः
पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः
स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं
पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्व्वं
स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः
परिग्रहान्मानवदेव ! देव्याः ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैव-
मभ्याहतं कीर्त्तिविपर्य्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं
वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥

ऋद्धापणमिति । स रामः ऋद्धाः समृद्धाः आपणाः पण्यभूमयो यस्मिन् तं राजपथं नौभिः समुद्रवाहिनीभिः विगाह्यमानां सरयूञ्च पौरैर्विलासिभिः अध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनश्च विलासिनः । पुमान् स्त्रियेत्येकशेषः ॥ ३० ॥

स इति । वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठः विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषः तद्वदुरू भुजौ यस्य सः विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः स्ववृत्तम् उद्दिश्य भद्रं भद्रनामकम् अपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ । अपसर्पश्चरः स्पशः, किंवदन्ती जनश्रुतिरिति चामरः ॥ ३१ ॥

निर्बन्धेति । निर्बन्धेन आग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पः जगाद । किमिति, हे मानवदेव रक्षोभवने उषितायाः देव्याः सीतायाः परिग्रहात् स्वीकारात् अन्यत्र इतरांशे तं वर्जयित्वेत्यर्थः त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

कलत्रेति । एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्त्तिविपर्य्ययेण अपकीर्त्या अभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोर्बहुलमिति

किमात्मनिर्व्वादकथामुपेक्षे
जायामदोषामुत सन्त्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वा-
दासीत् स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं
त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थात्
यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥

स सन्निपात्यावरजान् हतौजा-
स्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे
तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

ह्रस्वः, कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेन अभितप्तं सन्तप्तम् अय इव विददे विदीर्णम् । कर्त्तरि लिट् ॥ ३३ ॥

किमिति । आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा तां किम् उपेक्षे, उत अदोषां साध्वीं जायां सन्त्यजामि । उभयत्रापि प्रश्ने लट् । इत्येकपक्षाश्रये अन्यतरपक्षपरिग्रहे विक्लवत्वादपरिच्छेत्तृत्वात् स रामो दोला इव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ॥ ३४ ॥

निश्चित्येति । किञ्च वाच्यमपवादम् नास्ति अन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्त्तुमैच्छत् । तथाहि, यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशोगरीयः गुरुतरम् इन्द्रियार्थात् स्रक्चन्दनवनितादेरिन्द्रियविषयात् गरीय इति किमुत वक्तव्यम् । पञ्चमी विभक्ते इत्युभयत्रापि पञ्चमी । सीता चेन्द्रियार्थ एव ॥ २५ ॥

स इति । हतौजाः निस्तेजस्कः स रामः तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षान् अवरजान् सन्निपात्य संगमय्य आत्माश्रयं स्वविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्यः आचचक्षे पुनरिदं वाक्यमुवाच च ॥ ३६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूते-
रुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः
पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तम्
अपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे
आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्ता-
वुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्
समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

अवैमि चैनामनघेति किन्तु
लोकापवादो बलवान् मतो मे ।

राजर्षीति । रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्तात् शुद्धात् मत्तो मत्सकाशात्, दर्पणस्य पयोदवातादिव अम्भःकणादित्यर्थः, कीदृशोऽयं कलङ्कः उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ॥ ३७ ॥

पौरेष्विति । सोऽहम् अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं प्रसरन्तं स एव पूर्वो यस्य स तं तत्पूर्वम् अवर्णमपवादम् । अवर्णाक्षेपनिर्वाद-परीवादापवादवदित्यमरः । द्विपेन्द्रः आलानमेव आलानिकम् । विनयादित्वात्-स्वार्थे ठक् । अथवा आलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येति आलानिकम् । प्रयोजनमिति ठक् । स्थाणुं स्तम्भमिव, चूतवृक्ष इतिवत् सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । सोढुं नेशे न शक्नोमि ॥ ३८ ॥

तस्येति । तस्यावर्णस्यापनोदाय फलप्रवृत्तौ अपत्योत्पत्तौ उपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निस्पृहः सन् वैदेहसुताम्, पुरस्तात् पूर्वं पितुराज्ञया समुद्रनेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः तामिव, त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे-
नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो नच मे प्रयासः
व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं
पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तै-
र्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्
प्राणान् मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां
नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो
निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह

अवैमीति । एनां सीताम् अनघा साध्वीति चावैमि किन्तु मे मम लोकापवादः बलवान् मतः । कुतः हि यस्मात् प्रजाभिः भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्म्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता, अतो लोकापवादएव बलवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

रक्षइति । किञ्च मे रक्षोवधान्तः प्रयासः व्यर्थो न, किन्तु सः वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधनाय । तथाहि, अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः पदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकाङ्क्षया दशति किम्, किन्तु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

तदिति । तत्तस्मादेष मे सर्गः निश्चयः । सर्गः स्वभावनिर्मोक्ष निश्चयाध्यायसृष्टिष्वित्यमरः । करुणार्द्रचित्तै र्भवद्भि र्न प्रतिषेधनीयः निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान् प्राणान् मया चिरं धारयितुं धारणं कारयितुं वो युष्माकम् अर्थिता अर्थित्वम् इच्छा यदि अस्तीति शेषः ॥ ४२ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशम् अति-

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा
विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्त्तिः-
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी
स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

प्रजावती दोहदशंसिनी ते
तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां
प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान् मातरि भार्गवेण
पितुर्नियोगात् प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तत्
आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

क्रूराग्रहम् ईशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुम् अनुमोदितुं वा शक्तो नासीत् पक्षद्वयस्यापि प्रबलत्वादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

स इति । लोकत्रयगीतकीर्त्तिः यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्व्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितम् आज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य हे सौम्य सुभग, इत्याभाष्य च पृथक् भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्य आदिदेश आज्ञापयामास ॥ ४ ४॥

प्रजावतीति । दोहदो गर्भिणीमनोरथः तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया । प्रजावती भ्रातृजायेत्यमरः । तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहैव । स्पृहिगृहीत्यादिना आलुच्प्रत्ययः । स त्वं रथी सन् तद्व्यपदेशेन दोहदमिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा । विभाषायद्रत्ययादेशः । त्यज ॥ ४५ ॥

स इति । पितुर्नियोगाच्छासनात् भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा । न लोकेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । मातरि द्विषतीव द्विषद्वत् । तत्र तस्येवेति वतिप्रत्ययः । प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवान् श्रुतवान् । भाषायां सदवसश्रुव इति क्वसु प्रत्ययः । स लक्ष्मणः तत् अग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत्, हि यस्मात् गुरूणामाज्ञा अविचारणीया ॥ ४६॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीताम्
अत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः ।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिम्
आरोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान् प्रदेशान्
प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत् ।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय
जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्
सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा ।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखम्
अत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्
सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा ।

अथेति । अथासौ लक्ष्मणः अनुकूलश्रवणेन प्रतीताम् दृष्टाकर्णनेन तुष्टां वैदेहसुताम् अत्रस्नुभिरभीरुभिः गर्भिणीवहनयोग्यैः । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुरिति क्नुप्रत्ययः । तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मिं गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

सेति । सा सीता रुचिरान् प्रदेशान् नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः प्रियं करोतीति प्रियङ्करः प्रियकारी इत्यनन्दत् । क्षेमप्रियेति चकारात् खच्प्रत्ययः । तं प्रियम् आत्मनि विषये कल्पद्रुमतां विहाय असिपत्रवृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत् । बुध्यतेर्लुङ् । असिपत्रः खड्गाकारदलः कोऽप्यपूर्वो वृक्षविशेषः । असिपत्रो भवेत् कोषकारे च नरकान्तरे इति विश्वः । आसन्नघातुक इति भावः ॥ ४८ ॥

जुगूहेति । पथि लक्ष्मणो यत् दुःखं तस्याः सीतायाः जुगूह प्रतिसंहृतवान् तत् गुरु भावि भविष्यत् दुःखम् अत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेन अक्ष्णा अस्यै सीतायै आख्यातम् । स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः ॥ ४९ ॥

राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयात्
इत्याशशंसे करणैरबाह्यैः ॥ ५० ॥
गुरो र्नियोगाद्वनितां वनान्ते
साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्य्यतेवोत्थितवीचिहस्तै-
र्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात् ॥ ५१ ॥
रथात् स यन्त्रा निगृहीतवाहात्
तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेष-
स्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः ॥ ५२ ॥
अथ व्यवस्थापितवाक् कथञ्चित्
सौमित्रिरन्तर्गतवाष्पकण्ठः।

सेति। सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेण उपगतात् प्राप्तात् विषादात् दुःखात् सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा सती सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादिति अवाह्यैः करणैः अन्तःकरणैः आशशंसे। शंसतेरिच्छाया-मात्मनेपदमिष्यते। करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायं, पुनः पुनराशशंसे इत्यर्थः ॥ ५० ॥

गुरोरिति। गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात् साध्वीं वनिताम् अत्याज्यामित्यर्थः। वनान्ते विहास्यन् त्यक्ष्यन् सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नो-र्दुहित्रा जाह्नव्या उत्थितैर्वीचिहस्तैः अवार्य्यत इव। अकार्य्यं मा कुर्व्वित्यवार्य्यत इवेति उत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

रथादिति। सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीत-वाहात् रुद्धाश्वात् रथात् भ्रातृजायां पुलिने अवतार्य्य आरोप्य निषादेन किरा-तेन आहृतनौविशेषः आनीतनौकः सन् गङ्गां भागीरथीं सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार। सन्धा प्रतिज्ञा मर्य्यादेत्यमरः ॥ ५२ ॥

अथेति। अथ कथञ्चित् व्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाक् येन सः अन्त-र्गतवाष्पः कण्ठो यस्य सः कण्ठस्तम्भिताश्रुरित्यर्थः सौमित्रिः महीपतेः शासनम्,

औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं
महीपतेः शासनमुज्जगार ॥ ५३ ॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा
प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्त्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं
लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां
त्यजेदकस्मात् पतिरार्य्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै
ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं
प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो
मोहादभूत् कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

मेघः उत्पाते भवमौत्पातिकमश्मवर्षं शिलावर्षमिव, उज्जगार उद्गीर्णवान्। दारुणत्वेनावाच्यत्वादुज्जगारेत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

ततइति। ततः, अभिषङ्गः पराभवः। अभिषङ्गः पराभवः इत्यमरः। स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता प्रभ्रश्यभानानि पतन्ति आभरणान्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव सहसा स्वमूर्त्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्वोत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम भूमौ पपातेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

इक्ष्वाकिति। इक्ष्वाकुवंशप्रभवो महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः आर्य्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्त्ता त्वाम् अकस्मादकारणात् कथं त्यजेत् असम्भावितमित्यर्थः, इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत् त्यागहेतुज्ञानावधेः प्रागित्यर्थः जननी क्षितिः तस्यै सीतायै प्रवेशम् आत्मनीति शेषः न ददौ ॥ ५५ ॥

सेति। लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद, प्रत्यागतासुः लब्धसंज्ञा सती अन्तः समतप्यत दुःखेनादह्यतेत्यर्थः। तपेः कर्म्मणि लङ्। कर्म्मकर्त्त-

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्य्या
निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं
पुनःपुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं ताम्
आख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं
देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं
प्रीतास्मि ते सौम्य ! चिराय जीव ।
विडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन
भ्राता यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

रीति केचित्तन्न तपस्तपःकर्म्मकस्यैवेति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्रा-त्मजःयत्नलब्धः प्रबोधः मोहात् कष्टतरो दुःखदोऽभूत्, दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ॥ ५६ ॥

नचेति । आर्य्या साध्वी सा सीता वृजिनादृते एनसा विनापि । कलुषं वृजिनैनोघमित्यमरः । अन्यारादितरर्त्ते इति पञ्चमी । निराकरिष्णो र्निरासकस्य । अलंकृञिति इष्णुच् प्रत्ययः । भर्तुः अवर्णमपवादं न चावदत् नैवावादीत्, किन्तु स्थिरदुःखभाजम् अतएव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ॥ ५७ ॥

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उप-दिष्टो वाल्मीकेः निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् निघ्नस्य परा-धीनस्य । अधीनो निघ्न आयत्त इत्यमरः । मे भर्तुर्निदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तत् हे देवि क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ॥ ५८ ॥

सीतेति । सीता तं लक्ष्मणम् उत्थाप्य वाक्यं जगाद, किमिति हे सौम्य ! साधो ते प्रीतास्मि चिराय चिरं जीव, यत् यस्मात् विडौजसा इन्द्रेण विष्णुरिव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्राता त्वमित्थं परवान् परतन्त्रोऽसि ॥ ५९ ॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण
विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः ।
प्रजानिषेकं मयि वर्त्तमानं
सूनोरनुध्यायत चेतसेति ॥ ६० ॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम् ।
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य ॥ ६१ ॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं
न कामचारो मयि शङ्कनीयः ।
ममैव जन्मान्तरपातकानां
विपाकविस्फूर्ज्जथुरप्रसह्यः ॥ ६२ ॥

श्वश्रूजनमिति । सर्वं श्वश्रूजनम् अनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन् मत्प्रणामसुक्त्वेत्यर्थः विज्ञापय । किमिति, निषिच्यतइति निषेकः, मयि वर्त्तमानं सूनोस्तनुजस्य प्रजानिषेकं गर्भं चेतसा अनुध्यायत शिवमस्त्विति चिन्तयत इति ॥ ६० ॥

वाच्य इति । स राजा त्वया मद्वचनात् मद्वचनमिति कृत्वा, ल्यलोपे पञ्चमी । वाच्यः वक्तव्यः । किमित्यतआह वह्नावित्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः । अक्ष्णोः समीपे समक्षम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः सामीप्यार्थे वा, अव्ययीभावे शरदिति समासान्तः टच्प्रत्ययः । समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्यापवादस्य श्रवणाद्धेतोः अहासीरत्याक्षीरिति यत् तत् श्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किं किन्तु असदृशमित्यर्थः । यद्वा श्रुतस्य श्रवणस्य चेति योजना । कामचार्य्यसीति भावः ॥ ६१ ॥

कल्याणेति । अथवा कल्याणबुद्धेः सुधियः तव कर्त्तुः मयि विषये अयं त्यागो न कामचारः इच्छया करणं न शङ्कनीयः कामचारशङ्कापि न क्रियतइत्यर्थः । किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानाम् अप्रसह्यः विपच्यत इति विपाकः फलितएव विस्फूर्ज्जथुः अशनिनिर्घोषः । स्फूर्ज्जथुर्वज्रनिर्घोषइत्यमरः ॥ ६२ ॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं
वनं मया सार्द्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्
सोढास्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां
तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं
कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे
कुर्य्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेज-
स्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

साहं तपःसूर्य्य निविष्टदृष्टि-
रूर्द्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।

उपस्थितामिति । पूर्व्वमुपस्थितां प्राप्तां लक्ष्मीमपास्य मया सार्द्धं वनं प्रपन्नोऽसि प्राप्तोऽसि । तत्तस्मात् तया लक्ष्म्या अतिरोषात् त्वद्भवने आस्पदं प्रतिष्ठाम् । आस्पदं प्रतिष्ठायामिति निपातः । प्राप्य वसन्ती अहं सोढ़ा नास्मि ॥ ६३ ॥

निशाचरेति । निशाचरैः उपप्लुताः पीड़िताः भर्त्तारो यासां ताः निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः । नद्यृतश्चेति कप्प्रत्ययः । तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् अनुग्रहात् शरण्या शरणसमर्था भूत्वा अद्य त्वयि दीप्यमाने सत्येव शरणार्थम् अन्यं तपस्विनं कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि ॥ ६४ ॥

किंवाइति । किंवा अथवा तव सम्बन्धिना अत्यन्तेन पुनःप्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन् हतजीविते तुच्छजीविते उपेक्षां कुर्य्यां कुर्य्यामेव, रक्षणीयं रक्षणार्हम् अन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम् । शुक्रं तेजोरेतसी च वीजवीर्य्येन्द्रियाणि चेत्यमरः । मे मम अन्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ॥ ६५ ॥

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्त्ता नच विप्रयोगः ॥ ६६ ॥
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्
स एव धर्म्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्व्वासिताप्येवमतस्त्वयाहं
तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥
तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं
रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभारात्
चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥
नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षाः
दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावम्
अत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥६९॥

सेति । साहं प्रसूतेरूर्द्ध्वं सूर्य्ये निविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपः चरितुं यतिष्ये, यथा भूयः तेन तपसा मे मम जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्त्ता स्याः विप्रयोगश्च स्यान्न ॥ ६६ ॥

नृपस्येति । वर्णानां ब्राह्मणादीनाम् आश्रमाणां ब्रह्मचर्य्यादीनाञ्च पालनं यत् सएव नृपस्य धर्म्मः मनुना प्रणीतः उक्तः, अतः कारणात् एवं त्वया निर्व्वासिता निष्कासितापि अहं तपस्विभिः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथा अवेक्षणीया, कलत्रदृष्ट्यभावेऽपि वर्णाश्रमदृष्टिः सीतायां कर्त्तव्येत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तथेति । तथेति तस्याः सीतायाः वाचं प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथं व्यतीते अतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभारात् दुःखातिरेकात् मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा वाग्वृत्त्येत्यर्थः विग्ना भीता कुररीव । उत्क्रोशकुररौ समावित्यमरः । भूयो भूयिष्ठं चक्रन्द चुक्रोश ॥ ६८ ॥

नृत्यमिति । मयूराः नृत्यं विजहुः त्यक्तवन्तः, वृक्षाः कुसुमानि, हरिण्यः

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी
कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥ ७०॥

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य
सीता विलापाद्विरता ववन्दे।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी
दाश्वान् सुपुत्राशिषमित्युवाच॥ ७१॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां
मिथ्यापवादक्षुभितेन भर्त्रा।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं
प्राप्तासि वैदेहि! पितुर्निकेतम्॥ ७२॥

उपात्तान् दर्भान्, इत्थं तस्याः सीतायाः समदुःखभावं प्रपन्ने तुल्यदुःखत्वं प्राप्ते वनेऽपि अत्यन्तं रुदितमासीत्। यथा रामगेहेऽपि इत्यपिशब्दार्थः॥ ६९॥

तामिति। कुशेध्माहरणाय यातः कविर्वाल्मीकिः रुदितानुसारी सन् तां सीतामभ्यगच्छत् अभिगमनं चक्रे। दयालुतयेत्याह निषादेति। निषादेन व्याधेन विद्धस्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनेनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत श्लोकरूपेणावोचदित्यर्थः। स च श्लोकः पठ्यते। मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितमिति। तिरश्चामपि दुःखं न सेहे किमुतान्येषामिति भावः॥ ७०॥

तमिति। सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे। दोहदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्प्राप्तिहेतुभूतां दाश्वान् दत्तवान् इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच। दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्चेति कस्वन्तो निपातः॥ ७१॥

जान इति। त्वां मिथ्यापवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः समाधिदृष्ट्या जाने। हे वैदेहि! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि
सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात् कलुषप्रवृत्ता-
वस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

तवोरुकीर्त्तिः श्वशुरः सखा मे
सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां
किन्तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे
तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूते-
रपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

गृहं प्राप्नासि । तत्तस्मान्मा व्यथिष्ठाः मा शोचीः । व्यथेर्लुङ् । नङ्योगे मा इत्यड़ागमप्रतिषेधः । भर्त्तुरपेक्षितानां पितृगृहवास एव उचित इति भावः ॥७२ ॥

उत्खातेति । उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थने अश्लाघिन्यपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात् कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः कोपोऽस्त्येव । सर्वगुणाच्छादकोऽयं दोष इत्यर्थः । सीतानुनयार्थोऽयं रामोपलम्भः ॥ ७३ ॥

तवेति । उरुकीर्त्तिस्तव श्वशुरो दशरथो मे सखा, ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरः ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकारी, त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुर्य्यग्रे स्थिता, येन निमित्तेन मम अनुकम्प्या अनुग्राह्या नासि तत् किम् न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

तपस्वीति । तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन् वने अनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेस्ते अपत्यसंस्कारमयो जातकर्म्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ॥ ७५ ॥

अमून्येति । सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः । अधिकरणार्थे घञ् । मुनीनां सन्निवेशैरुटजैरमून्यतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वा अपहन्त्रीम् ।

अभूून्यतीरां मुनिसन्निवेशै-
स्तमोऽपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः
सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

पुष्पं फलं चार्त्तवमाहरन्त्यो
वीजञ्च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गाम्
उदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्
संवर्द्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक् तनयोपपत्तेः
स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां
वाल्मीकिरादाय दयार्द्रचेताः ।

तमस्तु क्लीवे पापे नरकशोकयोरित्यमरः। तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा। बलिक्रियापेक्षया पूर्व्वकालता। तस्याः सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजाविधिभिः ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ॥ ७५ ॥

पुष्पमिति। ऋतुरस्य प्राप्तः आर्त्तवं स्वकालप्राप्तं पुष्पं फलञ्च अकृष्टरोहि अकृष्टेचेत्रोत्थम् अकृष्टपच्यमित्यर्थः बलये हितं बालेयं पूजायोग्यम्। छदिरुपधिबलेर्ढञिति ढञ्प्रत्ययः। वीजं नीवारादिधान्यञ्च आहरन्त्यः उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यकाः नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

पयइति। स्वबलानुरूपैः स्वशक्त्यनुसारिभिः पयसामम्भसां घटैः। स्तन्यैरिति च ध्वन्यते। आश्रमबालवृक्षान् संवर्द्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक् पूर्व्वम् असंशयं यथा तथा स्तनं धयति पिवतीति स्तनन्धयः शिशुः। नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोरिति खश्प्रत्ययः, अरुर्द्विषदिति मुमागमः। तस्मिन् या प्रीतिस्तामवाप्स्यसि। ततः परं सुलभएव विनोद इति भावः ॥ ७८ ॥

सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं
स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

तामर्पयामास च शोकदीनां
तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशो-
रन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीप-
मास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्य्यानुपदं दिनान्ते
निवास-हेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती
प्रयुक्तपूजा विधिनातिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं
पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

अनुग्रहेति । दयार्द्रचेताः वाल्मीकिः अनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्तां तां सीताम् आदाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वम् अधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ॥ ७९ ॥

तामिति । शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीतायाः आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु, पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकालः ओषधीष्विव, अर्पयामास । अत्र पराशरः, अमायान्तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यत इति ॥ ८० ॥

तादिति । तास्तापस्यः तस्यै सीतायै सपर्य्यानुपदं पूजानन्तरं दिनान्ते सायं काले निवासएव हेतुस्तस्य निवासार्थमित्यर्थः । षष्ठी हेतुप्रयोग इति षष्ठी । इङ्गुदी तापसतरुरित्यमरः । इङ्गुदीस्नेहेन कृतप्रदीपं अन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिन् तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ॥ ८१ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमे अभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्
किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीता परिदेवनान्त-
मनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सवाष्प-
स्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता
न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्
वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं
राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

तामेकभार्य्यां परिवादभीरोः
साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।

शास्त्रेण अतिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्तत्ये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ॥८२॥

अपीति। प्रभुः राजा अधुनापि सानुनयः सानुतापः स्यात् किम्, इति काकुः। उत्सुकः शक्रजितः इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनम् अग्रजाय शशंस ॥ ८३ ॥

बभूवेति। सहसा सपदि सवाष्पो रामः तुषारवर्षी सहस्यचन्द्र इव बभूव अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योभूत्। पौषे तैषसहस्यौ द्वावित्यमरः। युक्तञ्चैतदित्याह, कौलीनाल्लोकापवादात् भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता गृहान्निरस्ता न मनस्तः मनसश्चित्तान्न निरस्ता। पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

निगृह्येति। धीमान् वर्णानामाश्रमाणाञ्चावेक्षणे अनुसन्धाने जागरूकोऽप्रमत्तः। जागरूक इति ऊकप्रत्ययः। रजोरिक्तमनाः रजोगुणशून्यचेताः स रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगं शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तमित्यर्थः ऋद्धं राज्यं शशास ॥ ८५ ॥

वक्षःस्थसङ्घट्टसुखं वसन्ती
रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत् क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्त्तुः
सा दुर्व्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
सीतापरित्यागो नाम चतुर्द्दशः सर्गः ॥

तामिति । परिवादभीरोः अतएव एकभार्य्यामपि साध्वीमपि तां सीतां त्यक्तवतो नृपस्य वक्षसि असङ्घट्टसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे दिदीपे । तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति ॥ ८६ ॥

सीतामिति । दशमुखरिपुः रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वा अन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यत् । उपाद्यमः स्वकरणे इत्यात्मनेपदम् । किञ्च तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमायाः हिरण्मय्याः सखा प्रतिकृतिसखः सन् क्रतूनाजहार आहृतवानिति यत् तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्रदेशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्व्वारं दुर्निरोधं परित्यागेन यद्दुःखं तत् कथमपि विषेहे विसोढ़वती ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां
चतुर्द्दशः सर्गः ॥

रघुवंशम्।

पञ्चदशः सर्गः।

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्॥ १॥
लवणेन विलुप्तेज्या स्तामिस्रेण तमभ्ययुः।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः॥ २॥
अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन् न प्रजह्रुः स्वतेजसा।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्व्वन्ति तपसो व्ययम्॥ ३॥

कृतेति। कृतसीतापरित्यागः स पृथिवीपालो रामः रत्नाकर एव मेखला यस्यास्तां सार्णवामित्यर्थः केवलामेकामित्यर्थः पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान्, नतु पार्थिवीमित्यर्थः। सापि रत्नखचितमेखला। पृथिव्याः कान्तासमाधिर्व्यज्यते। रामस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकाभिप्रायः॥ १॥

लवणेनेति। लवणेन लवणाख्येन तामिस्रेण तमिस्राचारिणा रक्षसेत्यर्थः विलुप्तेज्याः लुप्तयागक्रियाः अतएव शरणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो मुनयः शरण्यं शरणार्हं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारम् अभ्ययुः प्राप्ताः यातेर्लङ्॥ २॥

अवेक्ष्येति। ते मुनयो राममवेक्ष्य रक्षितारमिति शेषः तस्मिन् लवणे स्वतेजसा शापरूपेण न प्रजह्रुः। तथाहि, त्रायत इति त्राणम्। कर्त्तरि ल्युट्। तदभावे शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तः तपसो व्ययं कुर्व्वन्ति। शापदाना-त्तपसोव्यय इति प्रसिद्धेः॥ ३॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थ स्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्म्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥
ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्ज्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥
आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥
यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्त्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥
अग्रजेन प्रयुक्ताशी स्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन् पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विघ्नप्रतिक्रियां लवणवधरूपां प्रतिशुश्राव प्रतिजज्ञे । तथाहि, भुवि शार्ङ्गिणो विष्णोः प्रवृत्तिः रामरूपेणावतरणं धर्म्मसंरक्षणमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथैव ॥ ४ ॥

ते इति । ते मुनयो रामाय विबुधद्विषः सुरारेः लवणस्य वधोपायमाचख्युः । लुनातीति लवणः, नन्द्यादित्वात् ल्युः, तत्रैव निपातनाखत्वम् । लवणः शूली शूलवान् दुर्ज्जयः अजयः, किन्तु विशूलः शूलरहितः प्रार्थ्यताम् अभिगम्यताम् । याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैरिति केशवः ॥ ५ ॥

आदिदेशेति । अथ तेषां मुनीनां क्षेमाय क्षेमकरणाय राघवो रामः शत्रुघ्नमादिदेश । अत्रोत्प्रेक्षते । अस्य शत्रुघ्नस्य नाम अरिनिग्रहात् शत्रुहननाद्धेतोः यथाभूतोऽर्थो यस्य तत् यथार्थं करिष्यन्निव । शत्रून् हन्तीति शत्रुघ्नः । अमनुष्यकर्तृके चेति चकारात् कृतघ्नशत्रुघ्नादयः सिद्धाः इति दुर्गसिंहः । पाणिनीयेऽपि बहुलग्रहणाद्यथेष्टसिद्धिः कृत्यल्युटोबहुलमिति ॥ ६ ॥

रामस्य स्वयमप्रयाणे हेतुमाह

यइति । हि यस्मात्, परान् शत्रून् तापयतीति परन्तपः । द्विषत्परयोस्तापेरिति खच्प्रत्ययः, खचि ह्रस्व इति ह्रस्वः । रघूणां मध्ये यः कश्चन एकः, अपवादो विशेषशास्त्रम् उत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव, परं शत्रुं व्यावर्त्तयितुं बाधितुम् ईश्वरः समर्थः । अतः शत्रुघ्नमेवादिदेशेति पूर्वेणान्वयः ॥ ७ ॥

अग्रजेनेति । ततः अग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्व्वादो रथी अभीः

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥
आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥
तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥
तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम् ।
तपःप्रभावसिद्धाभि र्विशेषप्रतिपत्तिभिः ॥ १२ ॥
तस्यामेवास्य यामिन्या मन्तर्वत्नी प्रजावती ।

निर्भीको दाशरथिः पुष्पाणि सञ्जातानि यासां ताः पुष्पिताः सुरभीः आमोदमानाः वनस्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

रामेति । रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य, अध्ययनमर्थोऽभिधेयो यस्य तस्य धातोरिङध्ययन इत्यस्य धातोः पश्चात् अधिरुपसर्ग इव, अर्थसिद्धये प्रयोजनसाधनाय इत्येकत्र, अन्यत्र अभिधेय साधनाय अभवत् । अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिष्वित्यमरः । यथा, इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरत इति न्यायेन अध्युपसर्गः स्वयमेवार्थसाधकस्य धातोः सन्निधिमात्रेणोपकरोति, सेनापि तस्य तद्वदिति भावः ॥ ९ ॥

आदिष्टेति । रथप्रष्ठैः रथाग्रगामिभिः । प्रष्ठोऽग्रगामिनीति निपातः । मुनिभिः पूर्वोक्तै रादिष्टवर्त्मा निर्दिष्टमार्गः गच्छन् तपतां देदीप्यमानानां मध्ये वरः श्रेष्ठः स शत्रुघ्नो वालखिल्यैर्मुनिभिः अंशुमान् सूर्य्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्ठा इत्यनुसन्धेयम् ॥ १० ॥

तस्येति । यतो गच्छतः । इण्धातोः शतृप्रत्ययः । तस्य शत्रुघ्नस्य मार्गवशात् रथस्वने उत्कण्ठा उद्ग्रीवा मृगा यस्मिन् तस्मिन् वाल्मीकीये वाल्मीकिसम्बन्धिनि । वृद्धाच्छ इति छप्रत्ययः । तपोवने एका वसतिः रात्रिर्बभूव तत्रैकां रात्रिमुषितमित्यर्थः । वसती रात्रि वेश्मनोरित्यमरः ॥ ११ ॥

तमिति । क्लान्तवाहनं श्रान्तयुग्यं तं कुमारं शत्रुघ्नम् ऋषिः वाल्मीकिः तपःप्रभावसिद्धाभिः विशेषप्रतिपत्तिभिः उत्कृष्टसम्भावनाभिः पूजयामास ॥ १२ ॥

तस्यामिति । तस्यामेव यामिन्यां रात्रौ अस्य शत्रुघ्नस्य अन्तरस्था अस्तीति

सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः ॥ १३ ॥
सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान् ।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ ॥ १४ ॥
स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः ।
वनात् करमिवादाय सत्वराशिमुपस्थितः ॥ १५ ॥
धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥
अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अन्तर्वत्नी च गर्भिणीत्यमरः । अन्तर्वत्पतिवतोर्नुगिति ङीपि नुगागमश्च । प्रजावती भ्रातृजाया सीता क्षितिः सम्पन्नौ समग्रौ कोशदण्डाविव सुतौ असूत ॥ १३ ॥

सन्तानेति । भ्रातुर्ज्येष्ठस्य सन्तानश्रवणाद्धेतोः सौमनस्यवान् प्रीतिमान् सौमित्रिः शत्रुघ्नः प्रातर्युक्तरथः सज्जरथः सन् प्राञ्जलिः कृताञ्जलिः मुनिम् आमन्त्र्य आपृच्छ्य ययौ ॥ १४ ॥

सचेति । स शत्रुघ्नश्च मधूपघ्नं नाम लवणपुरं प्राप, कुम्भीनसी नाम रावणस्वसा तस्याः कुक्षिजः पुत्रो लवणश्च वनात् करं बलिमिव सत्वानां राशिमादायोपस्थितः प्राप्तः ॥ १५ ॥

धूमेति । किम्भूतो लवणः, धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः । धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते इत्यमरः । वसागन्धो हृन्मेदोगन्धः सोऽस्यास्तीति वसागन्धी । हृन्मेदस्तु वपा वसेत्यमरः । ज्वालाइव बभ्रवः पिशङ्गा शिरोरुहाः केशाः यस्य स तथोक्तः । विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात् पिङ्गले त्रिष्वित्यमरः । क्रव्यं मांसमदन्तीति क्रव्यादो राक्षसा स्तेषां गणएव परीवारो यस्य स तथोक्तः अतएव जङ्गमश्चरिष्णु श्चिताग्निरिव स्थितः । कृशानुपक्षे धूमैर्धूम्रवर्णः, ज्वाला एव शिरोरुहाः, क्रव्यादो गृध्रादयः इत्यनुसन्धेयम् ॥ १६ ॥

अपशूलमिति । लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नः अपशूलं शूलरहितं तं लवणम् आसाद्य रुरोध । तथाहि, रन्ध्रप्रहरणशीलानाम्, अपशूलतैवात्र रन्ध्रम् । जयः सम्मुखीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि । यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खइति खप्रत्ययः । अधिकारलक्षणार्थस्तु दुर्लभ एव ॥ १७ ॥

नातिपर्य्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ १८ ॥
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥
सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः ।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ २० ॥
विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥ २१ ॥
ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताड़ितः ।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ २२ ॥
तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

नेति । इतीति । राक्षसो लवणः, अद्य मत्कुक्षेः भुज्यतइति भोजनं भोज्यं मृगादिकं नातिपर्य्याप्तम् अनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्ट्या भाग्येन मे त्वम् उपपादितः कल्पितोऽसि, इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया प्रांशुमुन्नतं द्रुमं मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेन उत्पाटयामास ॥ १८ । १९ ॥

सौमित्रेरिति । नैर्ऋतेरितो रक्षःप्रेरितः शाखी अन्तरा मध्ये निशितैर्बाणैः शकलीकृतः सन् सौमित्रेः शत्रुघ्नस्य गात्रं न प्राप, किन्तु पुष्परजः प्राप ॥२०॥

विनाशादिति । रक्षो लवणस्तस्य वृक्षस्य विनाशाद्धेतोः महोपलं महान्तं पाषाणं पृथक् स्थितं कृतान्तस्य यमस्य मुष्टिमिव । मुष्टिशब्दोद्विलिङ्गः । तस्मै शत्रुघ्नाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ २१ ॥

ऐन्द्रमिति । स महोपलः शत्रुघ्नेन ऐन्द्रमिन्द्रदेवताकमस्त्रमुपादाय ताड़ितोऽभिहतः सन् सिकतात्वात् सिकताभावादपि परां परमाणुतां प्रपेदे । यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्याहुः ॥ २२ ॥

तमिति । निशाचरो राक्षसः दक्षिणं दोः । ककुद्दोषणी इति भगवतो भाष्यकारस्य प्रयोगात् दोष्शब्दस्य नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम् । भुजबाहू प्रवेष्टो दोरिति पुंलिङ्गसाहचर्य्यात् पुंस्त्वञ्च । तथा च प्रयोगः । दोषं तस्य तथाविधस्य भजन

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥ २४ ॥
वयसां पङ्क्तयः पेतु र्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ २५ ॥
स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्य्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥ २६ ॥
तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीड़यावनतं शिरः ॥ २७ ॥
उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्म्ममे निर्म्ममोऽर्थेषु मथुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

इति । सव्येतरं बाहुम् उद्यम्य एकस्ताल स्तदाख्यवृक्षो यस्मिन् स एकतालः उत्पातपवनेन प्रेरितो गिरिरिव तं शत्रुघ्नम् उपाद्रवत् अभिद्रुतः ॥ २३ ॥

कार्ष्णेनेति । स शत्रुर्लवणः कार्ष्णेन वैष्णवेन पत्रिणा वाणेन । उक्तञ्च रामायणे । एकमेव प्रजनितो विष्णोस्तेजोमयः शरइति । विष्णु र्नारायणः कृष्ण इत्यमरः । भिन्नहृदयः पतन् भुवः कम्पम् आनिनाय नीतवान् देहभारादित्यर्थः, आश्रमवासिनां कम्पं जहार तन्नाशादकुतोभयाः बभूवुरित्यर्थः ॥ २४ ॥

वयसामिति । हतस्य विद्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषो राक्षसस्य उपरि वयसां पक्षिणां पङ्क्तयः पेतुः, तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ॥ २५ ॥

सइति । स वीरः शत्रुघ्नो लवणं हत्वा तदा आत्मानं महौजसो महाबलस्य इन्द्रजिद्वधेन शोभिनो भ्रातु र्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयितं सोदर्य्यम् एकोदरं मेने । सोदराद्यदिति यत्प्रत्ययः ॥ २६ ॥

तस्येति । चरितार्थैः कृतार्थैः कृतकार्य्यैः तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य शत्रुघ्नस्य विक्रमेण उदग्रमुन्नतं व्रीड़या लज्जया अवनतं नम्रं शिरः शुशुभे । विक्रान्तस्य लज्जैव भूषणमिति भावः ॥ २७ ॥

उपेति । पौरुषभूषणः अर्थेषु विषयेषु निर्ममो निस्पृहः मधुराकृतिः सौम्यरूपः स शत्रुघ्नः कालिन्द्याः यमुनायाः उपकूलं कूले । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मथुरां नाम पुरीं निर्म्ममे निर्म्मितवान् ॥ २८ ॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥
तत्र सौधगतः पश्यन् यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥
स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥
साङ्गञ्च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥

येति । या पूः शोभनो राजा यस्याः पुरः सा सुराज्ञी सुराज्ञ्याः भावः सौराज्यं तेन प्रकाशाभिः प्रकाशमानाभिः पौराणां विभूतिभिः ऐश्वर्यैः स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरिक्तजनस्तस्य वमनम् आहरणं कृत्वा उपनिवेशिता उपस्थापितेव बभौ । अत्र कौटिल्यः । भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेदिति ॥ २९ ॥

तत्रेति । तत्र मथुरायां सौधगतो हर्म्यारूढः स चक्रवाकिनीं चक्रवाकवतीं यमुनां हेमभक्तिमतीं सुवर्णरचनावतीं भूमेः प्रवेणीं वेणीमिव । वेणी प्रवेणीत्यमरः। पश्यन् पिप्रिये प्रीतः । प्रीङ्प्रीणन इति धातोर्दैवादिकाल्लिट् ॥ ३० ॥

सखा इति । दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृत् मन्त्रस्रष्टा स वाल्मीकिरपि । सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञ इति क्विप् । उभयोर्दशरथजनकयोः प्रीत्या स्नेहेन मैथिलेयौ मैथिलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्रं सञ्चस्कार संस्कृतवान् ॥ ३१ ॥

स इति । स कविर्वाल्मीकिः कुशैर्दर्भैः लवैर्गोपुच्छलोमभिः । लवो लवणकिञ्जल्कपत्त्रगोपुच्छलोमसु इति वैजयन्ती । उन्मृष्टो गर्भक्लेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तौ मैथिलेयौ तेषां कुशानाञ्च लवानाञ्चाख्यया नामतो नाम्ना यथासंख्यं कुशलवावेव चकार किल । कुशोन्मृष्टः कुशः, लवोन्मृष्टो लवः ॥ ३२ ॥

साङ्गमिति । किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ अतिक्रान्तबाल्यौ तौ साङ्गञ्च वेदमध्याप्य

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किञ्चित् शिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥३४॥
इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताग्नितेजसः ।
तद्योगात् पतिवत्नीषु पत्नीष्वासन् द्विसूनवः ॥ ३५ ॥
शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥
भूयस्तपोव्ययो माभूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ ३७ ॥
वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात् पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ ३८ ॥

कवीनां प्रथमपद्धतिं कवितावीजमित्यर्थः स्वकृतिं काव्यं रामायणाख्यं गापयामास । गापयतेर्लिट् । शब्दकर्म्मत्वाद्गतिबुद्धीत्यादिना द्विकर्म्मकत्वम् ॥ ३३ ॥

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्तं मातुरग्रतो मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां रामविरहवेदनां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः । ॥ ३४ ॥

इतरेपीति । रघो र्वंश्याः वंशे भवाः त्रेतेत्यग्नयस्त्रेताग्नयः तेषां तेज इव तेजो येषां ते त्रेताग्नितेजसः इतरे रामादन्ये त्रयो भरतादयोऽपि तद्योगाद्भरतादिसम्बन्धात् पतिवत्नीषु भर्त्तृमतीषु जीवत्पतिकासु ख्यातिमतीष्वित्यर्थः । पतिवत्नी सभर्तृकेत्यमरः । अन्तर्वत्पतिवतोर्नुगिति ङीप्प्रत्ययो नुगागमश्च । पत्नीषु द्विसूनवः आसन् । द्वौ द्वौ सूनू येषां ते द्विसूनव इति विग्रहः । क्वचित् संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत् ॥ ३५ ॥

शत्रुघातिनीति । पूर्वजोत्सुको ज्येष्ठप्रियः शत्रुघ्नो बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तन्नामकयोः सून्वोः मथुरा च विदिशा च ते नगर्यौ निदधे निधाय गतइत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भूयइति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनययोः कुशलवयो रुद्गीतेन निःस्पन्दमृगं गीतप्रियतया निश्चलहरिणं वाल्मीकेराश्रमम् भूयः पुनरपि तपोव्ययः संविधानकरणार्थं तपोहानि र्मा भूदिति हेतोः, अत्यगात् अतिक्रम्य गतइत्यर्थः ॥ ३७ ॥

वशीति । वशी सः लवणस्य वधाद्धेतोः पौरैः पौरजनैः अत्यन्तं गौरवं

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम्।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः॥ ३९॥
तमभ्यनन्दत् प्रणतं लवणान्तकमग्रजः।
कालनेमिवधात् प्रीत स्तुराषाड़िव शार्ङ्गिणम्॥ ४०॥
स पृष्टः सर्वतो वार्त्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम्।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात्॥ ४१॥
अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम्।
अवतार्य्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः॥ ४२॥
शोचनीयासि वसुधे या त्वं दशरथात् च्युता।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता॥ ४३॥

यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा ईप्सितः सन् रथ्यासंस्कारै स्तोरणादिभिः शोभते या तामयोध्यां विवेश च॥ ३८॥

स इति। स शत्रुघ्नः सभामध्ये सभासद्भिः सभ्यैः उपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागात् भुवोऽसामान्यप्रतिम् असाधारणपतिं रामं ददर्श॥ ३९॥

तमिति। अग्रजो रामोलवणस्यान्तकं हन्तारं प्रणतं तं शत्रुघ्नम्, कालनेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात् प्रीतः तुरां वेगं सहते इति तुराषाड़िन्द्रः। छन्दसि सह इति खिः। यद्वा सहतेर्णिचि कृते साहयतेः क्विप्। अन्येषामपि दृश्यत इति पूर्व्वपदस्य दीर्घः। सहेः साड़ः षः इति षत्वम्। शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव, अभ्यनन्दत्॥ ४०॥

स इति। स शत्रुघ्नः पृष्टः सन् सर्व्वतो वार्त्तं कुशलं राज्ञे आख्यत् आख्यातवान्। चक्षिङोलुङ्। चक्षिङः ख्याञिति ख्याञादेशः, अस्यति वक्तीत्यङ्, आतोलोप इति चेत्याकारलोपः। ख्यातेर्वा लुङ्। सन्ततिं कुशलवोत्पत्तिं नाख्यत्। कुतः, कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यतः आद्यस्य कवे र्वाल्मीकेः शासनात्॥ ४१॥

अथेति। अथ जनपदे भवो जानपदो विप्रः कश्चिदिति शेषः अप्राप्तयौवनं शिशुं पुत्रमिति शेषः भूपतेः रामस्य द्वारि अङ्कशय्यास्थं यथा तथा अवतार्य्य अङ्कस्थत्वेनैवावरोप्य चक्रन्द चुक्रोश॥ ४२॥

शोचनीयेति। हे वसुधे दशरथात् च्युता या त्वं रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता सती शोचनीयासि॥ ४३॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः ।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत् ॥ ४४ ॥
स मुहूर्त्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम् ।
यानं सस्मार कौवेरं वैवस्वतजिगीषया ॥ ४५ ॥
आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः ।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती ॥ ४६ ॥
राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्त्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ ४७ ॥
इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन् वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्त्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥
अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनम् ।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥

श्रुत्वेति । गोप्ता रक्षको राघवः तस्य विप्रस्य शुचः शोकस्य हेतुं पुत्रमरणरूपं श्रुत्वा जिह्राय लज्जितः । कुतः, हि यस्मात् अकालभवो मृत्युः इक्ष्वाकूणां पदं राष्ट्रं नास्पृशत् । वृद्धे जीवति यवीयान्न म्रियतइत्यर्थः ॥ ४४ ॥

सइति । स रामो दुःखितं द्विजं मुहूर्त्तं क्षमस्वेति आश्वास्य वैवस्वतस्यान्तकस्यापि जिगीषया जेतुमिच्छया कौवेरं यानं पुष्पकं सस्मार ॥ ४५ ॥

आत्तेति । स रघूद्वहो रामः आत्तशस्त्रः सन् तत् पुष्पकमध्यास्य प्रस्थितः । अथ तस्य पुरो गूढ़रूपा सरस्वती अशरीरा वाक् उच्चचार उद्बभूव ॥ ४६ ॥

राजन्निति । हे राजन् ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णधर्म्मव्यतिरेकः प्रवर्त्तते, तम् अपचारमन्विष्य प्रशमयेः, ततः कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि ॥ ४७ ॥

इतीति । इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचारं विनेष्यन् वेगेन निष्कम्पकेतुना पत्त्रेण वाहनेन पुष्पकेण । पत्त्रं वाहनपक्षयो रित्यमरः । दिशः पपात धावति स्म ॥ ४८ ॥

अथेति । अथ इक्ष्वाकुवंशप्रभव ऐक्ष्वाको रामः । कोपधादणित्यणि कृते दाण्डिनायनेत्यादिना उकारलोपनिपातः । धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखावलम्बिनमधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कञ्चित् पुरुषं ददर्श ॥ ४९ ॥

दृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥
तपस्यनधिकारित्वात् प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥
स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥
कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥
रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ ५४ ॥
कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।

दृष्टेति । राज्ञा नाम चान्वयश्च तौ दृष्टौ नामान्वयौ यस्य स तथोक्तः धूमं पिबतीति धूमपः । सुपीति योगविभागात् कप्रत्ययः । स पुरुषः आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम् । अनेन प्रयोजनमपि दृष्ट इति ज्ञेयम् । शम्बुकं नाम शूद्रम् आचष्ट बभाषे किल ॥ ५० ॥

तपसीति । तपस्यनधिकारित्वात् प्रजानामघावहं तं शूद्रं शीर्षच्छेद्यम् । शीर्षच्छेदात् यच्चेति यत्प्रत्ययः । परिच्छिद्य निश्चित्य नियन्ता रक्षको रामः शस्त्रम् आददे जग्राह ॥ ५१ ॥

सइति । स रामः ज्योतिष्कणैः स्फुलिङ्गैः राहतानि दग्धानि श्मश्रूणि यस्य तत् तस्य वक्त्रं हिमक्लिष्टकिंञ्जल्कं पङ्कजमिव कण्ठएव नालं तस्मादपातयत् ॥५२॥

कृतेति । शूद्रः शम्बुकः राज्ञा स्वयं कृतदण्डः कृतशिक्षः सन् सतां गतिं लेभे, दुश्चरेणापि स्वमार्गविलङ्घिना अनधिकारदुष्टेनेत्यर्थः तपसा न लेभे । अत्र मनुः । राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथेति ॥ ५३ ॥

रघुनाथ इति । रघुनाथोऽपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसा अगस्त्येन, इन्दुना शरत्काल इव, संयुयुजे सङ्गतः । इन्दावपि विशेषणं योज्यम् । रघुनाथेत्यत्र क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः ॥ ५४ ॥

ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥ ५५ ॥
तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक् परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥
तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्त्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥
तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः शस्यमिवाम्भोभि रभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैन मभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥
उपशल्यनिविष्टैस्तै श्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

कुम्भेति । कुम्भयोनिरगस्त्यः पीतेन समुद्रेण आत्मनिष्क्रयमिव आत्ममोचनमूल्यमिव दत्तम् अतएव परिगृह्यत इति व्युत्पत्त्या परिग्रहः दिव्यानां परिग्रहः परिग्राह्य इत्यर्थः तम् अलङ्कारं तस्मै रामाय ददौ ॥ ५५ ॥

तमिति । मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना तमलङ्कारं दधद्रामः पश्चात् निववृते निवृत्तः, परासुर्मृतो द्विजात्मजः प्राक् रामात् पूर्वं निववृते ॥ ५६ ॥

तस्येति । पुत्रसमागतः पुत्रेण सङ्गतो द्विजः वैवस्वतादन्तकादपि त्रातुः रक्षकस्य । भीत्रार्थानां भयहेतुरित्यपादानात् पञ्चमी । तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्तां निन्दां स्तुत्या निवर्त्तयामास ॥ ५७ ॥

तमिति । अध्वरायाश्वमेधाय मुक्ताश्वं तं रामं रक्षःकपिनरेश्वराः सुग्रीवविभीषणादयो राजानश्च, मेघाः अम्भोभिः शस्यमिव, उपायनैरभ्यवर्षन् ॥५८॥

दिग्भ्य इति । निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्याः सम्बन्धीनि भौमानि धिष्ण्यानि स्थानान्येव न । धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नावित्यमरः । किन्तु ज्योतिर्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्यः एनं राममभिजग्मुः ॥ ५९ ॥

उपेति । चत्वारि द्वाराण्येव मुखानि यस्याः सा चतुर्द्वारमुखी अयोध्या उपशल्येषु ग्रामान्तेषु निविष्टैः । ग्रामान्त उपशल्यं स्यादित्यमरः । तैः महर्षिभिः, सद्यः सृष्टलोका पितामहस्येयं पैतामही तनु मूर्त्तिरिव, बभौ ॥ ६० ॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीत् यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥ ६१ ॥
विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रवृत्ते मखः ।
आसन् यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ ६२ ॥
अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥ ६३ ॥
वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम् ॥ ६४ ॥
रूपे गीते च माधुर्य्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम् ।

श्लाघ्य इति । वैदेह्यास्त्यागोऽपि श्लाघ्यो वर्ण्यएव, कुतः, यस्मात् प्राग्वंशः प्राचीनस्थूणो यज्ञशालाविशेषः तद्वासिनः नास्त्यन्या जाया यस्य तस्य अनन्यजानेः । जायाया निङिति समासान्तो निङादेशः । पत्युः रामस्य हिरण्मयी सौवर्णी । दाण्डिनायनादिसूत्रेण निपातः । सा निजैव जाया पत्नी आसीत् ॥ ६१ ॥

विधेरिति । ततः विधेः शास्त्रादधिकसम्भारोऽतिरिच्यमानपरिकरो मखः प्रवृत्ते प्रवृत्तः । तत्र मखे विहन्यन्ते एभिरिति विघ्नाः प्रत्यूहाः । मखे यज्ञे यज्ञार्थे कविधानमिति कः । क्रियाविघ्नाः अनुष्ठानविघातकाः राक्षसा एव रक्षिणः रक्षका आसन् ॥ ६२ ॥

अथेति । अथ मैथिलेयौ मैथिलीतनयौ । स्त्रीभ्यो ढक् । कुशलवौ गुरुणा वाल्मीकिना चोदितौ प्रेरितौ सन्तौ प्राचेतसो वाल्मीकिः उपज्ञायतइत्युपज्ञा । आतश्चोपसर्गे इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः । प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञं प्राचेतसेनादौ ज्ञातमित्यर्थः । उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यादित्यमरः । उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायामिति नपुंसकत्वम् । अय्यते ज्ञायते अनेनेत्ययनं चरितं रामायणं रामायणाख्यं काव्यम् । पूर्वपदात् संज्ञायामग इति णत्वम् उत्तरायणमितिवत् । इतस्ततो जगतुः । गायतेर्लिट् ॥ ६३ ॥

वृत्तमिति । रामस्य वृत्तं वर्ण्यं वस्त्विति शेषः, वाल्मीकेः कृतिः काव्यं गेयमिति शेषः, तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ पुनरिति शेषः, अतएव तत् किं येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुम् अलं शक्तौ न स्याताम् । सर्व्वं सरसमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली ॥ ६५ ॥
तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रात र्निर्वातेव वनस्थली ॥ ६६ ॥
वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥ ६७ ॥
उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥
गेये को नु विनेता वां कस्यचेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥

रूप इति । ते जानन्तीति तज्ज्ञास्तैस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयोः रूपे आकारे गीते च माधुर्य्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्दः सन् यथासंख्यं ददर्श शुश्राव च ॥ ६५ ॥

तदिति । तयोर्गीतश्रवणे एकाग्रा आसक्ता अश्रुमुखी आनन्दादिति भावः, संसत् सभा, प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव, बभौ शुशुभे। आनन्दपारवश्यान्निष्पन्दमास्तेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

वय इति । जनता जनानां समूहः । ग्रामजनबन्धुभ्यस्तलिति तल् प्रत्ययः । वयोवेषाभ्यामेव विसंवादि विलक्षणं तदा तयोः रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य नास्त्यक्षिकम्पो यस्मिन् कर्म्मणि तत् यथा तथा । नञर्थस्य नशब्दस्य बहुव्रीहिः । व्यतिष्ठत् अतिष्ठत् । समवप्रविभ्यस्य इत्यात्मने पदम् । विस्मयादनिमिषमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उभयोरिति । लोको जनः उभयोः कुमारयोः प्रावीण्येन नैपुण्येन तथा न विसिष्मिये न विस्मितवान् यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया नैस्पृह्येण विसिष्मिये ॥ ६८ ॥

गेय इति । गेये गीते कोनु वां युवयोर्विनेता शिक्षकः । नुशब्दः प्रश्ने । नु पृच्छायां वितर्के चेत्यमरः । गेये केन विनीतौ वामिति पाठे वामिति युष्मदर्थप्रतिपादकमव्ययम् द्रष्टव्यम् । तथाचायमर्थः, केन पुंसा वां युवां गेये विषये विनीतौ शिक्षितौ । कर्म्मणि निष्ठा प्रत्ययः । इयञ्च कस्य कवेः कृतिरिति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ कुशलवौ वाल्मीकिमशंसतामुक्तवन्तौ विनेतारं कविञ्चेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥
स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥
तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षस-स्तान्तु नावत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥ ७२ ॥
ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्त्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥
इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥
अन्येद्युरथ काकुत्स्थः सन्निपात्य पुरौकसः ।

अथेति । अथ सावरजो रामः प्राचेतसं वाल्मीकिमुपेयिवान् प्राप्तः सन् देहमात्मन ऊरीकृत्य आत्मानं स्थापयित्वेत्यर्थः, राज्यमस्मै प्राचेतसाय न्यवेदयत् समर्पितवान् ॥ ७० ॥

सइति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । प्रयोजन मिति ठञ् । स्याद्दयालुः कारुणिक इत्यमरः । स कविः रामाय तौ मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुतौ आख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं स्वीकारं वव्रे ययाचे ॥ ७१ ॥

तातेति । हे तात ते स्नुषा नोऽस्माकम् अक्ष्णोः समीपं समक्षम् । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजाः तां न श्रद्दधुः न विशश्वसुः ॥ ७२ ॥

ताइति । मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु । विश्वासस्य बुद्धिरूपत्वात् णौ गमिरबोधन इति इणो गम्यादेशो नास्ति । ततोऽनन्तरं पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये ॥ ७३ ॥

इतीति । राज्ञा इति प्रतिश्रुते सति मुनिः आश्रमात् जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः, स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव, आनाययामास ॥ ७४ ॥

अन्येद्युरिति । अथ काकुत्स्थो रामः अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि प्रस्तुत प्रति-

कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥
स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्च्चिषं सूर्य्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ ७६ ॥
काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥
जनास्तदालोकपथात् प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्व्वे फलिता इव शालयः ॥ ७८ ॥
तां दृष्टिविषये भर्त्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥
अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्ज्जितं पयः ।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥

पत्तये प्रकृतकार्य्यानुसन्धानाय पुरौकसः पौरान् सन्निपात्य मेलयित्वा कविं वाल्मीकिम् आह्वाययामास आकारयामास ॥ ७५ ॥

स्वरेति। अथ स्वर उदात्तादिः संस्कारः शुद्धिः तद्वत्या ऋचा सावित्र्या उदर्च्चिषं सूर्य्यमिव, पुत्राभ्यामुपलक्षितया सीतया करणेन उदर्च्चिषं रामम् असौ मुनिरुपस्थित उपतस्थे ॥ ७६ ॥

काषायेति। कषायेण रक्तं काषायम्। तेन रक्तं रागादित्यण्। तेन परिवीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन प्रसन्नेन वपुषैव सा सीता शुद्धा साध्वीत्यन्वमीयत अनुमिता ॥ ७७ ॥

जनाइति। तस्याः सीतायाः कर्म्मणः आलोकपथाद्दर्शनमार्गात् प्रतिसंहृतचक्षुषः निवर्त्तितदृष्टयः सर्व्वे जनाः फलिताः शालय इव अवाङ्मुखा अवनतमुखास्तस्थुः ॥ ७८ ॥

तामिति। आस्थितविष्टरोऽधिष्ठितासनो मुनिः हे वत्से भर्तुर्दृष्टिविषये समक्षं स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकं निःसंशयं कुर्व्विति तां सीतामशात् शास्ति स्म ॥७९॥

अथेति। अथ वाल्मीकिशिष्येण आवर्ज्जितं दत्तं पुण्यं पयः आचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं वाचम् उदीरयामास उच्चारयामास ॥ ८० ॥

वाङ्मनःकर्म्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वम्भरे देवि ! मामन्तर्द्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥
एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात् सद्योभवाद्भुवः ।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥
तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी ।
समुद्ररशना साक्षात् प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् ।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥
धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः ।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥
ऋषीन् विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान् ।

वाङ्मनइति । वाङ्मनःकर्म्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खालित्यं न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि, विश्वं बिभर्त्तीति विश्वम्भरा भूमिः । संज्ञायां भृतृ इत्यादिना खच्प्रत्ययः, अरुर्द्विषदित्यादिना मुमागमः । हे विश्वम्भरे देवि माम-न्तर्द्धातुं गर्भे वासयितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

एवमिति । साध्व्या पतिव्रतया तया सीतया एवमुक्ते सति सद्यो भवाद्भु-भुवोरन्ध्रात् शातह्रदं वैद्युतं ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

तत्रेति तत्र । प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निषेदुषी आसीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात् वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमिः । खचि ह्रस्व इति ह्रस्वः । प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

सेति । सा वसुन्धरा भर्त्तरि प्रणिहितेक्षणां दत्तदृष्टिं सीताम् अङ्कमारोप्य तस्मिन् भर्त्तरि मा मेति व्याहरति वदत्येव व्यादरन्तमनादृत्येत्यर्थः । षष्ठी चानादरे इति सप्तमी । पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

धरायामिति । सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तस्य धन्विनः आत्तधनुषः तस्य रामस्य धरायां विषये संरम्भं विधिबलापेक्षी दैवशक्तिदर्शी गुरुर्ब्रह्मा शमया-मास, अवश्यम्भावी विधिरिति भावः ॥ ८५ ॥

रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥
युधाजितश्च सन्देशात् स देशं सिन्धुनामकम् ।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥
भरतस्तत्र गन्धर्वान् युधि निर्ज्जित्य केवलम् ।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥
स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात् पुनः ॥ ८९ ॥
अङ्गदं चन्द्रकेतुञ्च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥
इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान् विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥
उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।

ऋषीनिति । रामो यज्ञान्ते पुरस्कृतान् पूजितान् ऋषीन् सुहृदश्च विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः कुशलवयोर्निदधे ॥ ८६ ॥

युधाजितइति । किञ्च भृतप्रजः स रामो युधाजितः भरतमातुलस्य सन्देशात् सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय दत्तैश्वर्य्याय रामेणेति शेषः भरताय ददौ ॥ ८७ ॥

भरतइति । तत्र सिन्धुदेशे भरतो युधि गन्धर्वान्निर्ज्जित्य केवलमेकमातोद्यं वीणां ग्राहयामास आयुधं समत्याजयत् । ग्रहित्यज्योर्ण्यन्तयो र्द्विकर्म्मकत्वं नित्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ८८ ॥

स इति । स भरतः अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोस्तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः पुष्कलं पुष्कलावत्यां तक्षकं तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगर्य्योरभिषिच्य पुनः रामान्तिकमगात् ॥ ८९ ॥

अङ्गदमिति । लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य शासनात् अङ्गदं चन्द्रकेतुञ्च तदाख्यौ आत्मसम्भवौ पुत्रौ कारापथो नाम देशः तस्येश्वरौ चक्रे ॥ ९० ॥

इतीति । इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वराः रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नानां जननीनां क्रमात् निवापान् श्राद्धादीन् विदधुश्चक्रुः ॥ ९१ ॥

रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥
तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः ।
आचख्यौ दिवमध्यास्स्व शासनात् परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥
विद्वानपि तयो र्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत् ।
भीतो दुर्व्वाससः शापात् रामसन्दर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥
स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्व्वजन्मनः ॥ ९५ ॥
तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ् नाकमधितस्थुषि ।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्म्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥
स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।

उपेत्येति । अथ कालोऽन्तको मुनिवेषः सन् उपेत्य राघवं प्रोवाच, किमित्याह, रहस्येकान्ते संवादिनौ सम्भाषिणौ आवां यः पश्येत् रहस्यभङ्गं कुर्य्यादित्यर्थः तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

तथेति । स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजरूपः सन् परमेष्ठिनः ब्रह्मणः शासनात् दिवमध्यास्स्वेति आचख्यौ ॥९३॥

विद्वानिति । द्वाःस्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्व्वश्लोकोक्तं जानन्नपि रामसन्दर्शनार्थिनो दुर्व्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन् तयोः कालरामयोः समयं संवादम् अभिनत् बिभेद ॥ ९४ ॥

स इति । योगविद्योगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्व्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार ॥ ९५ ॥

तस्मिन्निति । चतुर्थो भागः चतुर्भागः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं शतांशवत् । आत्मचतुर्भागे तस्मिन् लक्ष्मणे प्राक् नाकमधितस्थुषि पूर्वं स्वर्गं जग्मुषि सति राघवो रामः भुवि त्रिपात् धर्म्म इव शिथिलं तस्थौ । पादविकलो हि शिथिलं तिष्ठतीति भावः । त्रेतायां धर्म्मस्त्रिपादित्याहुः । पाद श्चतुर्थांशः अङ्घ्रिश्च उच्यते । पादा रश्म्यङ्घ्रितूर्य्यांशा इत्यमरः । त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात् । संख्यासुपूर्वस्येत्यकारलोपः समासान्तः ॥ ९६ ॥

स इति । उदगिति । युग्मम् । स्थिरधीः स रामः, रिपव एव नागाः गजा

शरावत्यां सतां सूक्तैर्ज्जनिताश्रुलवं लवम् ॥ ९७ ॥
उदक् प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्ज्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥
जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाश्रुभिः ॥ ९९ ॥
उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिःश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥
यद्गोप्रतरकल्पोऽभूत् संमर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥
स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्त्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

स्तेषामङ्कुशं निवारकं कुशं कुशावत्यां पुर्य्यां निवेश्य स्थापयित्वा, सूक्तैः समीचीनवचनैः सतां जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा येन तं लवं लवाख्यं पुत्रम्। लवो लेशे विलासे च छेदने रामनन्दने इति विश्वः । शरावत्यां पुर्य्याम् । शरादीनाञ्चेति शरकुशयोः दीर्घः । निवेश्य, सानुजोऽग्निपुरःसरः सन् पत्यौ भर्त्तरि वात्सल्यात् अनुरागात् गृहान् वर्ज्जयित्वा गृहवर्ज्जम् । द्वितीयायाञ्चेति णमुल्। अयं क्वचिदपरीप्सायामपि दृश्यते, अनुदात्तं पदमेकवर्ज्जमित्येकाचः शेषतया व्याख्यातत्वात् । परीप्सा त्वरा । अयोध्यया अन्वितोऽनुगतः उदक् प्रतस्थे ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

जगृहुरिति । चित्तज्ञा हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाश्रुभिः अभिवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं जगृहुः तेऽप्यनुजग्मुरित्यर्थः ॥ ९९ ॥

उपस्थितेति । उपस्थितं प्राप्तं विमानं यस्य तेन भक्ताननुकम्पत इति भक्तानुकम्पिना तेन रामेण अनुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिःश्रेणिः स्वर्गाधिरोहणी चक्रे । निःश्रेणिस्त्वधिरोहणीत्यमरः ॥ १०० ॥

यदिति । यद्यस्मात्तत्र सरय्वां मज्जतां संमर्द्दो गोप्रतरो गोप्रतरणं तत्कल्पोऽभूत् अतस्तदाख्यया गोप्रतराख्यया पावनं शोधकं तीर्थं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

सइति । विभुः प्रभुः स रामः विबुधानामंशेषु सुग्रीवादिषु प्रतिपन्नात्ममूर्त्तिषु

निर्वर्त्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्य्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत् सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्त्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

सन्तु त्रिदशीभूता देवभुवनं गता ये पौरास्तेषां नूतनसुराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्त्येति । विष्वक्सेनो विष्णुः एवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्य्यं निर्वर्त्त्य निष्पाद्य, लङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनुमन्तं चोभयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव दक्षिणे गिरौ चित्रकूटे च उत्तरे गिरौ हिमवति च स्थापयित्वा, सर्वलोकप्रतिष्ठां सर्वलोकाश्रयभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविशत् ॥ १०३ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां
पञ्चदशः सर्गः ॥

रघुवंशम्।

षोड़शः सर्गः।

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा:
ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं
सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि॥ १॥

ते सेतुवार्त्तागजबन्धमुख्यै-
रभ्युच्छ्रिताः कर्म्मभिरप्यबन्ध्यैः।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां
वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः॥ २॥

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गाः मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः।
तवारविन्दाक्ष पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत्॥

अथेति। अथ रामनिर्वाणानन्तरम् इतरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भाव स्तत्ता तया गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजंतच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः। तदुक्तं जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते इति। तथाहि सुभ्रातॄणां भावः सौभ्रात्रम्। हायनान्तेत्यादिना युवादित्वादण् प्रत्ययः। एषां कुशलवादीनां कुलानुसारि वंशानुगतं हि॥ १॥

तइति। सेतुर्जलबन्धः, वार्त्ता कृषिगोरक्षणादिः। वार्त्ता कृष्याद्युदन्तयोरिति विश्वः। गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणम्, तत् मुख्यं प्रधानं येषां तैः अवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः अतिसमर्था अपीत्यर्थः ते कुशादयः प्रविभज्यन्त इति प्रवि-

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां
दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनि-
र्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

अथार्द्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे
शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः ।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषाम्
अदृष्टपूर्व्वां वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः
स्थित्वा पुरस्तात् पुरुहूतभासः ।

भागाः अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम्, वेलां समुद्रा इव, न व्यतीयुः नातिचक्रमुः । अत्र कामन्दकः । कृषि र्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरधनादानं शून्यानाञ्च निवेशनम् । अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्द्धयेदिति ॥ २ ॥

चतुर्भुजेति । चतुर्भुजो विष्णु स्तस्यांशाः रामादयः ते प्रभवाः कारणानि यस्य स तथोक्तः, दानं त्यागो मदश्च । दानं गजमदे त्यागे इति विश्वः । प्रवृत्तिर्व्यापारः प्रवाहश्च दानप्रवृत्ते रनुपारतानां तेषां कुशलवादीनां स वंशः, सामयोनिः सामवेदप्रभवो दानप्रवृत्ते रनुपारतानां सुरद्विपानां दिग्गजानां वंश इव, अष्टधा भिन्नः विप्रससार विस्तृतोऽभूत् । सामयोनिरित्यत्र पालकाव्यः । सूर्य्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः । हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्त सामान्यगायत । गायतो ब्रह्मणस्तस्मात् समुत्पेतुर्मतङ्गजा इति ॥ ३ ॥

अथेति । अथ, अर्द्धं रात्रेः अर्द्धरात्रः । अर्द्धं नपुंसकमित्येकदेशसमासः, अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेरिति समासान्तोऽच् प्रत्ययः, रात्राह्नाहाः पुंसि इति नियमात् पुंस्त्वम् । अर्द्धरात्रे निशीथे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धो न तु सुप्तः कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषां प्रोषितभर्तृकावेषाम् अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टपूर्वा ताम् । सुप्सुपेति समासः । वनितामपश्यत् ॥ ४ ॥

सेति । सा वनिता साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः सज्जनसाधारणराज्यश्रियः

जेतुः परेषां जयशब्दपूर्व्वं
तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध ॥ ५ ॥

अथानपोढ़ार्गलमप्यगारं
छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम् ।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः
प्रोवाच पूर्व्वार्द्धविसृष्टतल्पः ॥ ६ ॥

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे
योगप्रभावो नच लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां
मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा
किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां
मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

पुरुहूतभासः इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुः बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात् स्थित्वा जयशब्दपूर्व्वं यथा यथा अञ्जलिं बबन्ध ॥ ५ ॥

अथेति । अथ सविस्मयः पूर्व्वार्द्धेन शरीरपूर्व्वभागेण विसृष्टतल्पः त्यक्तशय्यः दाशरथेस्तनूजः कुशः अनपोढ़ार्गलम् अनुद्घाटितविष्कम्भमपि । तद्विष्कम्भोऽर्गलं न नेत्यमरः । अगारम्, आदर्शतलं छायामिव, प्रविष्टां तां वनितां प्रोवाच अवदत् ॥ ६ ॥

लब्धेति । का त्वमिति । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा त्वमिति शेषः, योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते, मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागम् उपद्रवमिव अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं बिभर्षि च, नहि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किञ्च हे शुभे त्वं का कस्य वा परिग्रहः पत्नी, ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम्, वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्तथा-भूतं मत्वा आचक्ष्व ॥ ७ ॥ ८ ॥

तमब्रवीत् सा गुरुणानवद्या
या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां
जानीहि राजन्नधिदेवतां माम्॥ ९॥

वस्वौकसारामभिभूय साहं
सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्य्यवंश्ये
सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम्॥ १०॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः
पर्य्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विड़म्बयत्यस्तनिमग्नसूर्य्यं
दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम्॥ ११॥

तमिति। सा वनिता तं कुशम् अब्रवीत्, अनवद्या अदोषा या पूः स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वत्पित्रा नीतपौरा, हे राजन् मां सम्प्रति वीतनाथाम् अनाथां तस्याः पुरो नगर्य्याः अयोध्यायाः अधिदेवतां जानीहि॥ ९॥

वस्वौकसारामिति। साहं सौराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बद्धोत्सवया विभूत्या, वस्वौकसारा अलका पुरी। अलका पुरी वस्वौकसारा स्यादिति कोषः। अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्त्तिनी शक्रनगरी, वस्वौकसारा शक्रस्येति विष्णुपुराणात्। तामभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्य्यवंश्ये सति करुणामवस्थां दीनां दशां प्रपन्ना प्राप्ता॥ १०॥

विशीर्णेति। तल्पानि अट्टालिकाः। तल्पं शय्याट्टदारेष्वित्यमरः। अट्टानि गृहभेदाः। अट्टं भक्ते च शुष्के च क्षौमेऽत्यर्थे गृहान्तरे इति विश्वः। विशीर्णानि तल्पानाम् अट्टानाञ्च शतानि यस्य स तथोक्तः। अथवा विशीर्णकल्पेति पाठः, अट्टाः क्षौमाः। स्यादट्टः क्षौममस्त्रियामित्यमरः। ईषदसमाप्तं विशीर्णानि विशीर्णकल्पानि अट्टशतानि यस्य स तथोक्तः पर्य्यस्तशालः स्रस्तप्राकारः। प्राकारो वरणः शाल इत्यमरः। प्रभुणा स्वामिना विना एवम्भूतो मे निवेशो निवेशनम् अस्तनिमग्नसूर्य्यम् अस्ताद्रिलीनार्कम् उग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विड़म्बयति अनुकरोति॥ ११॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां
यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचिताभिषाभिः
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥ १२ ॥
आस्फालितं यत् प्रमदाकराग्रैः
मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः
शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥
वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गात्
मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः
क्रीड़ामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

निशास्विति । निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलानि अव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम् । कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिकेत्यमरः । यो राजपथः सञ्चरत्यनेनेति सञ्चरः सञ्चारसाधनमभूत् । गोचरसञ्चरेत्यादिना घप्रत्ययान्तो निपातः । नदत्सु मुखेषु या उल्काः ताभिर्व्विचिताभिषाभिः अन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स वाह्यते गम्यते ॥ १२ ॥

आस्फालितमिति । यदम्भः प्रमदाकराग्रैः आस्फालितं ताड़ितं सत् जलक्रीड़ास्विति शेषः मृदङ्गानां यो धीरध्वनिः तमन्वगच्छत् अन्वकरोत् तत् दीर्घिकाणामम्भः इदानी वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः शृङ्गैर्विषाणैराहतं सत् क्रोशति नदत् मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थानं तस्य भङ्गात् वृक्षे शेरते इति वृक्षेशयाः । अधिकरणे शेतेरित्यच्प्रत्ययः, शयवासवासिष्वकालादित्यलुक् सप्तम्याः । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावात् अलास्याः नृत्यशून्याः दवोऽरण्यवह्निः । दवदावौ वनारण्यवह्नी इत्यमरः । तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैः हृतेभ्यः शेषाणि बर्हाणि येषां ते क्रीड़ामयूराः वनबर्हिणत्वं वनमयूरत्वं प्राप्ताः ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामाः
निक्षिप्तवत्यश्चरणान् सरागान्।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं
व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे॥ १५॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः
करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः
संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति॥ १६॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानाम्
उत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम्।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गात्
निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः॥ १७॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तम्
इतस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु।

सोपानेति। किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामाः रमण्यः सरागान् लाक्षारसार्द्रान् चरणान् निक्षिप्तवत्यः तेषु मे मम मार्गेषु अद्य सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैः अस्रदिग्धं रुधिरलिप्तं पदं निधीयते॥ १५॥

चित्रेति। पद्मवनम् अवतीर्णाः प्रविष्टाः तथा लिखिता इत्यर्थः करेणुभिः करिणीभिः चित्रगाभिरेव। करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे इत्यमरः। दत्तमृणालभङ्गाः चित्रद्विपाः आलेख्यमातङ्गाः नखा एवाङ्कुशाः तेषामाघातैः विभिन्नकुम्भाः सन्तः संरब्धसिंहप्रहृतं कुपितसिंहप्रहारं वहन्ति॥ १६॥

स्तम्भेष्विति। उत्क्रान्तवर्णक्रमा विशीर्णवर्णविन्यासाः ताश्च धूसराश्च यास्तासां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां स्त्रीप्रतिकृतीनां दारुमयीणां फणिभिर्विमुक्ता निर्मोकाः कञ्चुका एव पट्टाः। समौ कञ्चुकनिर्मोकावित्यमरः। सङ्गात् सक्तत्वात् स्तनोत्तरीयाणि स्तनाच्छादनवस्त्राणि भवन्ति॥ १७॥

कालेति। कालान्तरेण कालभेदवशेन श्यामसुधेषु मलिनचूर्णेषु इतस्ततो

त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि
हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥
आवर्ज्य शाखाः सदयञ्च यासां
पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः
क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥
रात्रावनाविष्कृतदीपभासः
कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैः
विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥ २० ॥
बलिक्रियावर्ज्जितसैकतानि
स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति ।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा
शून्यानि दूये सरयूजलानि ॥ २१ ॥

रूढ़तृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु नक्तं रात्रौ मुक्तागुणानां शुद्धिरिव शुद्धिः स्वाच्छ्यं येषां तादृशा अपि ततः पूर्व्वं ये मूर्च्छन्ति स्म तएव चन्द्रपादाः चन्द्ररश्मयः । पादा रश्मग्रङ्घ्रितूर्य्यांशा इत्यमरः । न मूर्च्छन्ति न प्रतिफलन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

आवर्ज्येति । किञ्च विलासिनीभिः सदयं शाखाः लतावयवान् आवर्ज्य आनमय्य यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ताः मदीया उद्यानलताः वन्यैः पुलिन्दैः म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः उभयैरित्यर्थः क्लिश्यन्ते पीड्यन्ते । क्लिश्नातेः कर्म्मणि लट् । भेदाः किरात शवरपुलिन्दा म्लेच्छजातय इत्यमरः ॥ १९ ॥

रात्राविति । रात्रावनाविष्कृतदीपभासः दीपप्रभाशून्या इत्यर्थः दिवापि दिवसेऽपि कान्तामुखानां श्रिया कान्त्या वियुता रहिताः विच्छिन्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैः लूतातन्तुवितानै स्तिरस्क्रियन्ते छाद्यन्ते ॥ २० ॥

बलिक्रियेति । बलिः पूजोपहारः स्यादिति शाश्वतः । बलिक्रियावर्ज्जितानि

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य
मामभ्युपेतुं कुलराजधानीम् ।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां
यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्त्तिम् ॥२२॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः
प्रत्यग्रहीत् प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा
शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं
प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्या
साक्षात् पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

सैकतानि येषां तानि स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि । कृत्यल्युटो बहुलमिति करणे अनीयच् प्रत्ययः । स्नानीय संसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि रिक्तानि उपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये ॥ २१ ॥

तदिति । तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विसृज्य कुलराजधानीम् अयोध्यां मामभ्युपैतुमर्हसि । कथमिव ते गुरुः पिता रामः तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं मानुषमूर्त्तिं हित्वा परमात्ममूर्त्तिं यथा विष्णुमूर्त्तिमिव ॥ २२ ॥

तथेति । रघूणां प्राग्रहरः श्रेष्ठः कुशः तस्याः पुरः प्रणयं याच्ञां प्रतीतो हृष्टः सन् तथेति प्रत्यग्रहीत् स्वीकृतवान् । पूः पुराधिदेवतापि अभिव्यक्तमुखप्रसादा सती इष्टलाभादिति भावः शरीरबन्धेन शरीरयोगेन करणेन तिरोबभूव अन्तर्दधे । मानवं रूपं विहाय दैवं रूपमग्रहीदित्यर्थः ॥ २३ ॥

तदिति । नृपतिः कुश स्तदद्भुतं रात्रिवृत्तं रात्रिवृत्तान्तं प्रातः संसदि सभायां द्विजेभ्यः शशंस, ते द्विजाः श्रुत्वा एनं कुशं कुलराजधान्या साक्षात् स्वयमेव पतित्वे विषये वृतम् अभ्यनन्दन् पतित्वेन वृतोऽसीत्यपूजयन् आशीर्भिरिति शेषः । अत्र गार्ग्यः, दृष्ट्वा स्वप्नं शोभनं नैव सुप्यात् पश्चाद्दृष्टो यः स पाकं विधत्ते । शंसेदिष्टं तत्र साधुर्द्विजेभ्यस्ते चाशीर्भिः प्रीणयेयुर्नरेन्द्रम् । इदमपि स्वप्नतुल्यमिति ॥ २४ ॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात् स कृत्वा
यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः
सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भि-
र्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे
तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन
प्रस्थापितः पूर्व्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन
वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां
पीड़ामपर्य्याप्तवतीव सोढुम् ।

कुशावतीमिति । स कुशः कुशावतीं श्रोत्रियेषु छान्दसेषु अधीनां श्रोत्रियसात् । तदधीनवचन इति सातिप्रत्ययः, श्रोत्रियच्छन्दोऽधीते इति निपातः । श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ इत्यमरः । कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः सान्तः-पुरः सन्, वायुरभ्रवृन्दैरिव, सैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन् अयोध्याभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

सेति । केतुमाला एव उपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैः विहारशैलैः अनुगतेव स्थिता रथा एव उदारगृहाः यस्याः सा सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवाभवत् ॥ २६ ॥

तेनेति । आतपत्रमेवामलं मण्डलं विम्बं यस्य तेन तेन कुशेन पूर्व्वनिवास-भूमिम् अयोध्यां प्रस्थापितः बलौघः आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलां नीयमानः प्राप्यमाणः उदकमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ । उदन्वानुदधौ चेति निपातनात्साधुः ॥ २७ ॥

वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीय-
मध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥
उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्
पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य
तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥
तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्
खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं
पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥
मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु
वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा
बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्रीणाम् । कर्तृकर्मणोः कृतीति कर्त्तरि षष्ठी । पीड़ां सोढुमपर्य्याप्तवतीव अशक्तेव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदम् आकाशमध्यारुरोहेवेत्युत्प्रेक्षा ॥२८॥

उद्यच्छमानेति । पश्चात् कुशावत्याः सकाशात् गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे निवेशे निमित्ते निवेष्टुञ्चेत्यर्थः उद्यच्छमाना उद्योगं कुर्व्वती । समुदाङ्भ्योयमोऽग्रन्थदृत्यात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य सा सेना यत्र पश्चात् पुरो मध्ये वा ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं कृत्स्नताबुद्धिं चकार, अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥

तस्येति । नेतुस्तस्य कुशस्य द्विपानां मदवारिभिः सेकात् तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च यथासंख्यं पथि रेणुः रजः पङ्कभावं पङ्कतां प्रपेदे पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय ॥ ३० ॥

मार्गेति । वैन्ध्येषु विन्ध्यसम्बन्धिषु कटकान्तरेषु नितम्बावकाशेषु । कट-

स धातुभेदारुणयाननेमिः
प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्य्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि
पश्यन् पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्
प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुः
हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

स पूर्व्वजानां कपिलेन रोषात्
भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भ-
स्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥

कोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेरित्यमरः । मार्गैषिणी मार्गावलोकिनी अतएव बहुधा विभिन्ना महाविरावा दीर्घशब्दा सा सेना रेवेव नर्म्मदेव । रेवा तु नर्म्मदा सोमोद्भवा मेखलकन्यकेत्यमरः । गुहामुखानि बहुप्रतिश्रुन्ति प्रतिध्वानवन्ति चकार अकरोत् ॥ ३१ ॥

स इति । धातूनां गैरिकादीनां भेदेन अरुणा याननेमिः रथचक्रधारा यस्य प्रयाणे ये ध्वनयः क्ष्वेड़ह्रेषादयः तन्मिश्राणि तूर्य्याणि यस्य एवंविधः स प्रभुः कुशः पुलिन्दैः किरातैः उपपादितानि समर्पितानि उपायनानि पश्यन् विन्ध्यं व्यलङ्घयत् ॥ ३२ ॥

तीर्थइति । तदीये वैन्ध्येऽत्र तीर्थे अवतारे गजा एव सेतुः तस्य बन्धाद्धेतोः प्रतीपगां पश्चिमवाहिनीं गङ्गाम् उत्तरतोऽस्य कुशस्य नभोलङ्घनेन लोलपक्षाः हंसाः अयत्नेन बालव्यजनीबभूवुः चामराण्यभूवन् अभूततद्भावे च्विः ॥ ३३ ॥

सइति । स कुशः कपिलेन मुनिना रोषाद्भस्मावशेषीकृता विग्रहाः देहाः येषां तेषां पूर्वजानां वृद्धानां सागराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्तौ निमित्तं नौभिर्लुलितं क्षुभितं त्रिस्रोतसः इदं त्रैस्रोतसं गाङ्गमम्भो ववन्दे ॥ ३४ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते
कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान् विततध्वराणां
यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां
स्पृष्ट्वा च शीतान् सरयूतरङ्गान् ।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः
प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥ ३६ ॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्य-
स्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा ।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि
निवेशयामास बली बलानि ॥३७ ॥

तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्ताः
तथागतां सम्भृतसाधनत्वात् ।

इतीति । इति कैश्चिदहोभिः अध्वनोन्ते अवसाने कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य विततध्वराणां विस्तृतमखानां रघूणां वेदिः प्रतिष्ठा आस्पदं येषां तान् यूपान् शतशोऽपश्यत् ॥ ३५ ॥

आधूयेति । कुलराजधान्याः उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखाः आधूय ईषत् धूत्वा, सुरभिर्मन्दश्चेत्यर्थः, शीतान् सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा, अनेन शैत्योक्तिः, क्लान्तसैन्यं तं कुशं प्रत्युज्जगाम ॥ ३६ ॥

अथेति । अथ रिपुषु मग्नं शल्यं शङ्कुः शरोवा यस्य सः । शल्यं शङ्कौ शरे वंशे इति विश्वः । पौराणां सखा पौरसखः कुलस्य ध्वजः चिह्नभूतः बली स राजा चला स्खलन्तो वा ध्वजाः येषां तानि तानि बलानि सैन्यानि तस्याः पुरः पुर्य्याः उपशल्ये ग्रामान्ते । ग्रामान्त उपशल्यं स्यादित्यमरः । निवेशयामास ॥ ३७ ॥

तामिति । प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिनां तक्षादीनां सङ्घाः सम्भृतसाधनत्वात्

पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गात्
मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ ३८ ॥
ततः सपर्य्यां सपशूपहारां
पुरः परार्द्ध्यप्रतिमागृहायाः ।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः
निर्वर्त्तयामास रघुप्रवीरः ॥ ३९ ॥
तस्याः स राजोपपदं निशान्तं
कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य ।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं
सम्भावयामास यथाप्रधानम् ॥ ४० ॥
सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः
शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः ।

मिलितोपकरणत्वात्, तां तथागतां शून्यामित्यर्थः पुरमयोध्याम्, मेघाः अपां विसर्गाज्जलसेकात् निदाघग्लपितां ग्रीष्मतप्तामुर्व्वीमिव, नवीचक्रुः परिपूरयाञ्चक्रुः ॥ ३८ ॥

तत इति । ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमाः देवताप्रतिकृतयः अर्च्चा इत्यर्थः परार्द्ध्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुरः उपोषितैः वास्तुविधानविद्भिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्य्यां निर्वर्त्तयामास कारयामास । अत्र ण्यन्तात् णिच् पुनरित्यनुसन्धेयम् अन्यथा वृतेरकर्म्मकस्य करोत्यर्थत्वे कारयत्यर्थाभावप्रसङ्गात् भवितव्यं वृतेरण्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्द्देशात् प्रयोगान्तरस्यापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

तस्या इति । स कुशः तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदं राजशब्दपूर्व्वं निशान्तं राजभवनमित्यर्थः । निशान्तं भवनोषसोरिति विश्वः । कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकम् अमात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण यथार्हं तथोचितं तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः सम्भावयामास ॥ ४० ॥

सेति । विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्याः सा । विपणिः पण्यवीथिकेत्यमरः । सा पूः अयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिः अश्वशालासंश्रयशीलैः ।

पूराबभासे विपणिस्थपण्या
सर्व्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी ॥ ४१ ॥
वसन् स तस्यां वसतौ रघूणां
पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव
भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥
अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीय-
मेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्य्यांशुकमाजगाम
घर्म्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥
अगस्त्यचिह्नादयनात् समीपं
दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते ।

वाजिशाला तु मन्दुरेत्यमरः । जिदृचीत्यादिना इनिप्रत्ययः । तुरङ्गैरश्वैः शालासु गृहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भाः तान् गतैः प्राप्तैः नागैश्च, सर्वाङ्गेषु नद्धानि आभरणानि यस्याः सा नारीव, आबभासे ॥ ४१ ॥

वसन्निति । स मैथिलेयः कुशः पुराणशोभाम् अधिरोपितायां तस्यां रघूणां वसतौ अयोध्यायां वसन् दिवो भर्त्रे देवेन्द्राय तथा अलकेश्वराय कुवेरायापि न स्पृहयाम्बभूव तावपि न गणयामासेत्यर्थः । स्पृहेरीप्सित इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। एतेनायोध्याया अन्यनगरातिशायित्वं गम्यते ॥ ४२ ॥

कुशस्य कुमुद्वतीसङ्गमं प्रस्तौति ।

अथेति । अथ अस्य कुशस्य रत्नैर्मुक्तामणिभिर्ग्रथितानि उत्तरीयाणि यस्मिं-स्तम् एकान्तमत्यन्तं पाण्ड्वोः स्तनयो र्लम्बिनो हाराः यस्मिंस्तं निश्वासहार्य्याणि अतिसूक्ष्माणि अंशुकानि यत्र तम् एवं शीतलप्रायं प्रियाया वेषं नेपथ्यम् उप-देष्टुमिव घर्म्मो ग्रीष्मः आजगाम ॥ ४३ ॥

अगस्त्येति । अगस्त्यश्चिह्नं यस्य तस्मादयनात् मार्गात् दक्षिणायनात् भास्वति समीपं सन्निवृत्ते सति उत्तरा दिक् आनन्दशीतां वाष्पवृष्टिमिव हैमवतीं हिम-

आनन्दशीतामिव वाष्पवृष्टिं
हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज्ज ॥ ४४ ॥

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्र-
मत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ
जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ ४५ ॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्
सोपानपर्व्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां
नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ ४६ ॥

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां
विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं
संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥

वत्सम्बन्धिनीं हिमस्रुतिं हिमनिष्यन्दं ससर्ज्ज । अत्र प्रोषितप्रियासमागमसमाधि-र्गम्यते ॥ ४४ ॥

प्रवृद्धेति । अतिमात्रं प्रवृद्धतापो दिवसः अत्यर्थमेव तन्वी कृशा क्षणदा च इत्येतावुभौ, विरोधक्रियया प्रणयकलहादिना विरोधाचरणेन विभिन्नौ सानु-शयौ सानुतापौ जायापती दम्पती इव, आस्तां तयोरपि तापकार्श्यसम्भवात् तत्स-दृशावभूतामित्यर्थः ॥ ४५ ॥

दिनेदिने इति । दिने दिने प्रतिदिनं शैवलवन्ति अधस्तात् यानि सोपानानां पर्वाणि भङ्गाः तानि विमुञ्चत् अतएवोद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणाम् अम्भः नारी-नितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयसं बभूव विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । प्रमाणे द्वय-सजिति द्वयसच्प्रत्ययः ॥ ४६ ॥

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेन उद्गन्धिषु उत्कटसौरभेषु । गन्धस्ये-त्यादिना समासान्त इकारादेशः । सायन्तनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं यथातथा

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के
भूयिष्ठसन्दष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां
शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्
रसेन धौतान् मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युः
धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं
विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्य्यः
केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वात्
मञ्जर्य्युदारा शुशुभेऽर्ज्जुनस्य ।

प्रत्येकमेकैकस्मिन्निचिप्तपदो मकरन्दलोभादित्यर्थः भ्रमरः एषां कुड्मलानां संख्यां गणनां चकारेव ॥ ४७ ॥

स्वेदेति । स्वेदानुविद्धमार्द्रं नूतनं नखक्षतमङ्को यस्य तस्मिन् कामिनीनां कपोले भूयिष्ठम् अत्यर्थं सन्दष्टशिखं संश्लिष्टकेसरम् अतएव कर्णात् च्युतमपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

यन्त्रेति । ऋद्धिमन्तो धनिकाः धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरै र्यन्त्र-प्रवाहैः यन्त्रसञ्चारितसलिलपूरैः परीतान् व्याप्तान् मलयोद्भवस्य रसेन चन्दनो-दकेन धौतान् क्षालितान् शिलाविशेषान् मणिमयासनानि अधिशय्य तेषु शयित्वा आतपं निन्युः आतपपरिहारं चक्रुः ॥ ४९ ॥

स्नानेति । वसन्तस्य आत्मसहकारिणोऽत्ययेनातिक्रमेण मन्दवीर्य्योऽतिदुर्बलः कामः स्नानार्द्राश्च ते मुक्ताश्च धूपसञ्चारणार्थमित्यर्थः । तेषु अनुधूपवासं धूपवासा-नन्तरं विन्यस्ताः सायन्तनमल्लिकाः येषु तेषु अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे तैरुद्दीपित-इत्यर्थः ॥ ५० ॥

दग्ध्वापि देहं गिरिशेन रोषात्
खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं
पुराणशीधुं नवपाटलञ्च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः
सर्व्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः॥ ५२ ॥

जनस्य तस्मिन् समये विगाढ़े
बभूवतु द्वौ सविशेषकान्तौ ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ
स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च ॥ ५३ ॥

आपिञ्जरेति। बद्धरजःकणत्वात् व्याप्तरजःकणत्वात् आपिञ्जरा उदारा द्राघीयसी अर्ज्जुनस्य ककुभद्रुमस्य। इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्ज्जुन इत्यमरः। मञ्जरी, देहं दग्ध्वापि रोषात् गिरिशेन गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन गिरिशस्तेन। लोमादित्वात् श प्रत्ययः। गिरौ शेते इति विग्रहे तु गिरौ शेतेर्ड इत्यस्य छन्दसि विधानात् लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात् तस्मात् पूर्व्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं न्याय्यम्। खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या मौर्व्वीव, शुशुभे॥ ५१ ॥

मनोज्ञेति। मनोज्ञगन्धमिति सर्व्वत्र सम्बध्यते सहकारभङ्गं चूतपल्लवखण्डं पुराणं वासितं शेरते अनेनेति शीधुः इक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषस्तम्। शीङो-धुक् इत्युणादिसूत्रेण शीङ्स्वप्ने इत्यस्माद्धातोर्धुक् प्रत्ययः। पक्वैरिक्षुरसैरस्त्री शीधुः पक्वरसः शिव इति यादवः। नवं पाटलायाः पुष्पं पाटलञ्च सम्बध्नता सङ्घट्टयता निदाघावधिना ग्रीष्मकालेन। अवधिस्त्ववधाने स्यात् सीम्नि काले बिलेऽपि चेति विश्वः। कामिजनेषु विषये सर्व्वे दोषाः तापादयः प्रमृष्टाः परिहृताः ॥ ५२ ॥

जनस्येति। तस्मिन् समये ग्रीष्मे विगाढ़े कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेषं सातिशयं यथा तथा कान्तौ बभूवतुः कौ द्वौ, तापापनोदे क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनाञ्च सेवा ययो स्तौ उदयस्थौ अभ्युदयस्थौ स च नृपतिः शशी च ॥५३॥

अथोर्म्मिलोलोन्मदराजहंसे
रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्त्तुमिच्छा वनितासखस्य
तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव ॥ ५४ ॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्य्या-
मानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं
प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः ॥ ५५ ॥

सा तीरसोपानपथावतारा-
दन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासी-
दुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥

अथेति। अथ ऊर्म्मिषु लोलाः सतृष्णाः उन्मदाः राजहंसाः यस्मिन् तस्मिन्। लोलश्चलसतृष्णयोरित्यमरः। रोधोलतापुष्पाणां वहे प्रापके। पचाद्यच्। ग्रीष्मेषु सुखे सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तस्य वनितासखस्य वनिताभिः सहेत्यर्थः विहर्त्तुमिच्छा बभूव ॥ ५४ ॥

सइति। चक्रधरप्रभावः विष्णुतेजाः स कुशः तीरभूमौ विहिता उपकार्य्या यस्यास्ताम् आनायो जालमेषामस्तीति आनायिनो जालिकाः। जालमानाय इति निपातः। आनायः पुंसि जालं स्यादित्यमरः। तैरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहां तां सरयूं श्रीमहिम्नोः सम्पत्प्रभावयोः अनुरूपं योग्यं यथा तथा विगाहितु प्रचक्रमे। अत्र कामन्दकः, परितापिषु वासरेषु पश्यन् तटलेखास्थितमाप्तसैन्यचक्रम्। सुविशोधितनक्रमीनजालं व्यवगाहेत जलं सुहृत्समेतइति ॥ ५५ ॥

सेति। सा सरित् सरयूः तीरसोपानपथेनावतारात् अवतरणात् अन्योन्यं केयूरविघट्टिनीभिः सन्नद्धाङ्गदसङ्घर्षिणीभिः सनूपुरक्षोभाणि सनूपुरस्खलनानि पदानि यासां ताभिरङ्गनाभिर्हेतुभिः उद्विग्नहंसा भीतहंसा आसीत् ॥ ५६ ॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां
तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किराती-
मुपात्तबालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैः
विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं
पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां
यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्म्मदरागशोभां
विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वा-
दात्मानमुद्बोढुमशक्नुवत्यः ।

परस्परेति । नौसंश्रयः परस्परमभ्युक्षणे सेचने तत्पराणाम् आसक्तानां तासां स्त्रीणां मज्जने रागोऽभिलाषस्तद्दर्शी नृपः पार्श्वगतामुपात्तबालव्यजनां गृहीतचामरां किरातीं चामरग्राहिणीं बभाषे । किरातस्तथा, स्त्रियां चामरवाहिन्यां मत्स्यजात्यन्तरे द्वयोरिति केशवः ॥ ५७ ॥

पश्येति । गलिताङ्गरागैर्मदीयैः शतशोऽवरोधैः विगाह्यमानो विलोड्यमान एषः सरयूप्रवाहः, साभ्रः समेघः सन्ध्योदयः सन्ध्याविर्भाव इव, अनेकं नानाविधं वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्यति पश्य । वाक्यार्थः कर्म्म ॥ ५८ ॥

विलुप्तमिति । नौलुलिताभिर्नौक्षुभिताभिरद्भिः अन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं विलुप्तं हृतं तदञ्जनं विलोचनेषु नयनेषु मदेन या रागशोभा तां बध्नतीभिः घटयन्तीभिः अद्भिः आसां प्रतिमुक्तं प्रत्यर्पितम् । प्रतिनिधिदानमपि तत्कार्य्यकारित्वात् प्रत्यर्पणमेवेति भावः ॥ ५९ ॥

एता इति । गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधरं यस्यात्मन इति विग्रहः ।' गुरुश्रोणि-

गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः
क्लेशोत्तरं रागवशात् प्लवन्ते ॥ ६० ॥
अमी शिरीषप्रसवावतंसाः
प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम् ।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः
शैवाललोलान् छलयन्ति मीनान् ॥ ६१ ॥
आसां जलास्फालनतत्पराणां
मुक्ताफलस्पर्द्धिषु शीकरेषु ।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्य्यमाणः
संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः ॥ ६२ ॥
आवर्त्तशोभा नतनाभिकान्तेः
भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराङ्गनानाम् ।

पयोधरत्वात् आत्मानं शरीरमुद्वोढुमशक्नुवत्यः एता बालाः गाढ़ाङ्गदैः श्लिष्टाङ्गदैः बाहुभिः क्लेशोत्तरं दुःखप्रायं यथा तथा रागवशात् क्रीड़ाभिनिवेशपारतन्त्र्यात् प्लवन्ते तरन्ति ॥ ६० ॥

अमी इति । वारिविहारिणीनाम् आसां अभ्रंशिनो भ्रष्टाः निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवा चञ्चलाः । चञ्चलं तरलञ्चैव पारिप्लवपरिप्लवे इत्यमरः । अमी शिरीषप्रसवा एव अवतंसाः कर्णभूषाः शैवाललोलान् जलनीलीप्रियान् । जलनीली तु शैवालमित्यमरः । मीनान् छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति, शैवालप्रियत्वात् शिरीषेषु शैवालभ्रमात् प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

आसामिति । जलस्यास्फालने तत्पराणामासक्तानाम् आसां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्द्धिषु मौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषु उत्सर्पन्ति उत्पतन्ति ये तेषु शीकराणां मध्ये शीर्य्यमाणो गलन् हारः अतएव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि न संलक्ष्यते । विदिभिदिच्छिदेः कुरजिति कुरच्प्रत्ययः । शीकरसंसर्गात् छिन्न इति भावः ॥७२॥

आवर्त्तेति । विलासिनीनां विलसनशीलानां स्त्रीणाम् । वौ कषलसकत्थस्रम्भ इति घिनुण् प्रत्ययः । रूपावयवानाम् उपमेयानां यानि उपमानानि लोकप्रसिद्धानि तानि अदूरवर्त्तीनि अन्तिकगतानि जातानि, कस्य किमुपमानमित्य-

जातानि रूपावयवोपमाना-
न्यदूरवर्त्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः
प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां
गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बे-
ष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः
मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥

एताः करोत्पीडितवारिधाराः
दर्पात् सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।

त्वाह, नतनाभिकान्ते निम्ननाभिशोभायाः आवर्त्तशोभा । स्यादावर्त्तोऽम्भसां भ्रमइत्यमरः । भ्रुवां भङ्गस्तरङ्गः, स्तनानां द्वन्द्वचराः चक्रवाकाः, उपमानमिति सर्व्वत्र सम्बध्यते ॥ ६३ ॥

तीरेति । उत्कलापै रुच्चबर्हैः प्रस्निग्धाः मधुराः केकाः येषां तैः तीरस्थलीषु स्थितै र्बर्हिभिः मयूरै-रभिनन्द्यमानं रक्तं श्राव्यं गीतानुगं गीतानुसारि आसां स्त्रीणां सम्बन्धि वार्य्येव मृदङ्ग स्तस्य वाद्यं वाद्यध्वनिः श्रोत्रेषु संमूर्च्छति व्याप्नोति ॥ ६४ ॥

सन्दष्टेति । सन्दष्टवस्त्रेषु जलसेकात् संश्लिष्टांशुकेषु अबलानां नितम्बेषु अधिकरणेषु इन्दुप्रकाशेन ज्योत्स्नया अन्तरितानि आवृतानि यानि उडूनि नक्षत्राणि तत्तुल्याः मुक्तामयत्वादिति भावः, अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः निश्चला इत्यर्थः रशनाएव कलापाः भूषाः । कलापो भूषणे बर्हे इत्यमरः । मौनं निःशब्दतामित्यर्थः भजन्ते ॥ ६५ ॥

एता इति । दर्पात् सखीजनं प्रति करै रुत्पीड़िता उत्सारिताः वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुन स्तथैव सखीभि र्वदनेषु सिक्ताः एता स्तरुण्यो वक्रेतराग्रैः

वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्य-
श्चूर्णारुणान् वारिलवान् वमन्ति ॥ ६६ ॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्त्रलेखो
विश्लेषिमुक्ताफलपत्त्रवेष्टः।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखाना-
मम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य्य रेमे
विलोलहारः सह ताभिरप्सु।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः
करेणुभि र्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ताः
भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः
प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

जलसेकादृज्वग्रैः अलकैः करणैः चूर्णैः कुङ्कुमादिभिः अरुणान् वारिलवान् उदकविन्दून् वमन्ति वर्षन्ति ॥ ६६ ॥

उद्बन्धेति। उद्बन्धा उद्भ्रष्टाः केशाः यस्मिन् सः च्युतपत्त्रलेखः च्युतपत्त्ररचनः विश्लेषिणो विस्रंसिनः मुक्ताफलपत्त्रवेष्टाः मुक्तामयताड़ङ्काः यस्मिन् सः एवमम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखानां वेषो नेपथ्यं मनोज्ञएव। रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोतीति भावः ॥ ६७ ॥

स इति। स कुशः नौ विमानमिव, नौविमानम् उपमितसमासः, तस्मादवतीर्य्य विलोलहारः सन् ताभिस्त्रीभिः सह, करेणुभिः सह स्कन्धावलग्ना उद्धूतपद्मिनी उत्पाटितनलिनी यस्य स तथोक्तः सन्। नद्यतश्चेति कप्रत्ययः। वन्यो द्विपेन्द्र इव, अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

तत इति। ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन। भुवश्चेति चकाराद्दिष्णुच्। नृपेण अनुगताः सङ्गताः ताः स्त्रियः सातिशयं यथा तथा विरेजुः, प्रागेव इन्द्र-

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तै-
स्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः सोऽतितरां बभासे
सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ ७० ॥

तेनावरोधप्रमदासखेन
विगाह्यमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभि-
र्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥

यत् कुम्भयोनेरधिगम्य रामः
कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्त्तु-
रज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदार-
स्तीरोपकार्य्यां गतमात्र एव ।

नीलयोगात् पूर्व्वमेव, केवला अपीत्यर्थः, मुक्ताः मणयो नयनाभिरामाः उन्मयूख मिन्द्रनीलं प्राप्य किमुत अभिरामा इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

वर्णोदकैरिति । तं कुशम् आयताक्ष्यः काञ्चनस्य शृङ्गैर्मुक्तानि तै वर्णोदकैः कुङ्कुमादिवर्णद्रव्यसहितोदकैः प्रणयात् स्नेहात् असिञ्चन् तथागतस्तथा स्थितः वर्णोदकसिक्तइत्यर्थः स कुशः, सधातुनिष्यन्दो गैरिकद्रव्ययुक्तः अद्रिराज इव, अतितरां बभासे अत्यर्थं चकासे ॥ ७० ॥

तेनेति । अवरोधप्रमदासखेन अन्तःपुरसुन्दरीसहचरेण तां सरिद्वरां सरयूं विगाह्यमानेन तेन कुशेन आकाशगङ्गायां रतिः क्रीड़ा यस्य सः अप्सरोभिर्वृतः आवृतो मरुत्वानिन्द्रः अनुयातलीलः अनुकृतश्रीरभूदिति शेषः इन्द्रमनुकृतवानित्यर्थः ॥ ७१ ॥

यदिति । यदाभरणं रामः कुम्भयोनेरगस्त्यात् अधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं दिदेश ददौ, राज्यसममूल्यमित्यर्थः, सलिले विहर्तुः क्रीड़ितुः अस्य कुशस्य तज्जैत्राभरणं जयशीलमाभरणम् अज्ञातपातं सत् ममज्ज वुवोड़ ॥ ७२ ॥

दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुम्
अपोढ़नेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥

जयश्रियः संवननं यतस्त-
दामुक्तपूर्व्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्
स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्व्वान्
आनायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
वन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य
तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥

कृतः प्रयत्नो नच देव लब्धं
मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।

स्नात्वेति । असौ कुशः सदारः सन् यथाकामं यथेच्छं स्नात्वा विगाह्य तीरे या उपकार्य्या पूर्व्वोक्ता तां गतमात्रो गतएव अपोढ़नेपथ्यविधिः अकृतप्रसाधनएव दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श ॥ ७३ ॥

जयेति । यतः कारणात् तदाभरणं जयश्रियः संवननं वशीकरणम् । वश-क्रिया संवननमित्यमरः । यस्माच्च गुरुणा पित्रा आमुक्तपूर्व्वं पूर्व्वमामुक्तं धृत-मित्यर्थः । सह सुपेति समासः । अतो हेतोः अस्याभरणस्य भ्रंशं नाशं न सेहे लोभान्न, कुतः, हि यस्मात् धीरः विद्वान् स कुशः तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य सः, पुष्पेष्विव आभरणेषु धृतेषु निर्माल्यबुद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

तत इति । ततः नद्यां स्नान्ति कौशलेनेति नदीष्णास्तान् । सुपीति योग-विभागात् कप्रत्ययः, निनदीभ्यां स्नातेः कौशल इति षत्वम् । सर्व्वानानायिनो जालिकान् तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेषणे निमित्ते आशु समाज्ञापयत् आदिदेश, ते आनायिनः सरयूं विगाह्य विलोड्य वन्ध्यश्रमाः विफलप्रयासाः तथापि तद्गतिं ज्ञात्वा अम्लानमुखप्रसादाः सश्रीकमुखाः सन्तः तं कुशमूचुः ॥ ७५ ॥

कृत इति । हे देव प्रयत्नः कृतः पयसि मग्नं ते आभरणोत्तमं नच लब्धं

नागेन लौल्यात् कुमुदेन नून-
मुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं
धनुर्द्धरः कोपविलोहिताक्षः ।
गारुत्मतं तीरगत-स्तरस्वी
भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

तस्मिन् ह्रदः संहितमात्र एव
क्षोभात् समाविद्धतरङ्गहस्तः ।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः
करीव वन्यः परुषं ररास ॥ ७८ ॥

तस्मात् समुद्रादिव मथ्यमानात्
उद्वृत्तनक्रात् सहसोन्ममज्ज ।
लक्ष्म्येव सार्द्धं सुरराजवृक्षः
कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः ॥ ७९ ॥

किन्तु तदाभरणम् अन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन कुमुदाख्येन नागेन पन्नगेन लौल्यात् लोभादुपात्तं गृहीतं नूनमिति वितर्के ॥ ७६ ॥

तत इति । ततो धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः तरस्वी बलवान् सः कुशः तीरगतः सन् धनुराततज्यम् अधिज्यं कृत्वा भुजङ्गस्य कुमुदस्य नाशाय गारुत्मतं गरुत्मद्दैवताकम् अस्त्रं समाददे ॥ ७७ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्नस्त्रे संहितमात्रे सत्येव ह्रदः क्षोभाद्धेतोः समाविद्धाः सङ्कुटितास्तरङ्गा एव हस्ता यस्य सः रोधांसि निघ्नन् पातयन्, अवपाते गजग्रहण गर्त्ते मग्नः पतितः । अवपातस्तु हस्त्यर्थे गर्त्तश्छन्नस्तृणादिनेति यादवः । वन्यः करीव परुषं घोरं ररास दध्वान ॥ ७८ ॥

तस्मादिति । मथ्यमानात्समुद्रादिव उद्वृत्तनक्रात् क्षुभितग्राहात् तस्मात् ह्रदात्, लक्ष्म्या सार्द्धं सुरराजस्येन्द्रस्य वृक्षः पारिजात इव, कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः कुमुदः सहसोन्ममज्ज ॥ ७९ ॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्त-
मुपस्थितं वीक्ष्य विशाम्पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार
प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः॥ ८०॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्
कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान्।
मानोन्नतेनाप्यभिनन्द्य मूर्द्ध्ना
मूर्द्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे॥ ८१॥

अवैमि कार्य्यान्तरमानुषस्य
विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम्।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेय-
माराधनीयस्य धृतेर्व्विघातम्॥ ८२॥

विभूषणेति। विशाम्पति र्मनुजपतिः कुशः। द्वौ विशौ वैश्यमनुजावित्यमरः। विभूषणं प्रत्युपहरति प्रत्यर्पयतीति विभूषणप्रत्युपहारः। कर्म्मण्यण्। विभूषणप्रत्युपहारो हस्तो यस्य तम् उपस्थितं प्राप्तं तं कुमुदं वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रतिसंजहार, तथाहि सन्तः प्रह्वेषु नम्रेषु अनिर्बन्धरुषः अनियतकोपा हि॥ ८०॥

त्रैलोक्येति। अस्त्रं विद्वान् अस्त्रविद्वान्। न लोकेत्यादिना षष्ठीसमासनिषेधः। द्वितीयाश्रितेत्यत्र गम्यादीनामुपसंख्यानात् द्वितीयेति योगविभागाद्वा समासः। गारुड़ास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थः कुमुदः त्रयोलोकास्त्रैलोक्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः। त्रैलोक्यनाथो रामः प्रभवो जनको यस्य तम् अतएव प्रभावात् द्विषाम् अङ्कुशं निवारकं मूर्द्धाभिषिक्तं राजानं कुशं मानोन्नतेनापि मूर्द्ध्ना अभिवन्द्य प्रणम्य बभाषे॥८१॥

अवैमीति। त्वाम्, ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत् कार्य्यान्तरः कार्य्यार्थः। स्यानात्मीयान्यतादर्थ्यरन्ध्रान्तर्य्येषु चान्तरमिति शाश्वतः। स चासौ मानुषश्चेति तस्य विष्णोः रामस्य सुताख्यां पुत्रसंज्ञाम् अपरां तनुं मूर्त्तिमवैमि, आत्मा वै पुत्रनामासीति श्रुतेरित्यर्थः। स जानन्नहम् आराधनीयस्योपास्यस्य तव धृतेः

कराभिघातोत्थितकन्दुकेय-
मालोक्य बाला-तिकूतूहलेन ।
ह्रदात् पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षात्
आदत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते
ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमे-
रुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥

इमां स्वसारञ्च यवीयसीं मे
कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय
शुश्रूषया पार्थिव पादयो-स्ते ॥ ८५ ॥

प्रीतेः । ष्ट प्रीताविति धातोः स्त्रियां क्तिन् । विघातं कथं नाम आचरेयम् असम्भावितमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

करेति । कराभिघातेनोत्थित ऊर्द्धं गतः कन्दुको यस्याः सा कन्दुकार्थम् ऊर्द्धं पश्यन्तीत्यर्थः इयं बाला अतिकुतूहलेनात्यन्तकौतुकेन, अन्तरिक्षात् ज्योतिर्नक्षत्रमिव । ज्योतिर्भद्योतदृष्टिष्वित्यमरः । ह्रदात् पतत् त्वदीयं जैत्राभरणमालोक्य आदत्त अग्टह्णात् ॥ ८३ ॥

तदिति । तदेतदाभरणम् आजानुविलम्बिना दीर्घेण ज्याघातेन या रेखा रेखाकाराः ग्रन्थयः तेषां किणं चिह्नं तदेव लाञ्छनं यस्य तेन भूमेः रक्षापरिघेण रक्षार्गलेन । परिघो योगभेदास्त्रमुद्गरेऽर्गलघातयोरित्यमरः । अंसलेन बलवता ते भुजेन पुनर्योगं सङ्गतिम् उपैतु । एतैर्विशेषणैः महाभाग्यशौर्यधुरन्धरत्व-बलवत्वादि गम्यते ॥ ८४ ॥

इमामिति । किञ्च हे पार्थिव ते पादयोः चिराय शुश्रूषया परिचर्य्यया । शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्य्याप्रदानयोरिति विश्वः । आत्मापराधम् आभरण-ग्रहणरूपं नुदतीं परिजिहीर्षतीमित्यर्थः । आशंसायां भूतवच्चेति चकाराद्वर्त्त-मानार्थे शटप्रत्ययः । आच्छीनद्योर्नुमित्यस्य वैकल्पिकत्वान्नुमभावः । इमां मे

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं
श्लाघ्यो भवान् स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयांविधिवदास समेतबन्धुः
कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्य्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्य्यध्वनिरुदचरद्व्याश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्य्यमेघाः ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य ।

यवीयसीं कनिष्ठां स्वसारं भगिनीं कुमुद्वतीम् अनुमन्तुं नार्हसीति न अर्हसे-वेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

इतीति । इति पूर्व्वश्लोकोक्तमूचिवान् उक्तवान् । ब्रुवः क्वसुः । उपहृता-भरणः प्रत्यर्पिताभरणः कुमुदः, हे कुमुद भवान् श्लाघ्यः स्वजनो बन्धुः इत्यनुभाषिता-रम् अनुवक्तारं क्षितीशं कुशं समेतबन्धुः युक्तबन्धुः सन् कन्यामयेन कन्यारूपेण कुलयोर्भूषणेन विधिवत् संयोजयामास । न केवलं तदीयमेव किन्तु स्वकीयमपि भूषणं तस्मै दत्तवानिति ध्वनिः । आम् प्रत्ययानुप्रयोगयोर्व्यवधानं प्रागेव समा-हितम् ॥ ८६ ॥

तस्या इति । मनुजपतिना कुशेन साहचर्य्याय सहधर्म्माचरणायेत्यर्थः माङ्गल्या मङ्गले साधु या ऊर्णा । ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यादित्यमरः । अत्र लक्ष-णया तन्निर्म्मितं सूत्रमुच्यते । तया वलयिनि वलयवति तस्याः कुमुद्वत्याः हस्ते पाणौ उच्छिखस्य उदर्च्चिषः पावकस्य पुरोऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति, दिगन्तान् व्यश्नुवानो व्याप्नुवन् दिव्यः तूर्य्यध्वनिः उदचरदुत्थितः, तदनु आश्चर्य्या अद्भुताः मेघाः गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्पं पुष्पाणि । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । ववृषुः । आश्चर्य्य-शब्दस्य रौद्रन्त्वद्भुतममी त्रिषु चतुर्द्दशेत्यमरवचनात् त्रिलिङ्गत्वम् ॥ ८७ ॥

इत्थमिति । इत्थं नागः कुमुदः त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । तद्धितार्थेत्यादिना तत्पुरुषः । अदन्तद्विगुत्वेपि पात्राद्यन्तत्वान्नपुंसकत्वम् ।

एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेयात्
शान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ कुमुद्वती-
परिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥

पाताद्यन्तैरनेकार्थौ द्विगु र्लक्ष्यानुसारतइत्यमरः। तस्य औरसं धर्म्मपत्नीजं पुत्रम्। औरसो धर्म्मपत्नीज इति याज्ञवल्क्यः। मैथिलेयं कुशं बन्धुं लब्ध्वा, कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं कुमुदं बन्धुं लब्ध्वा, एक स्तयोरन्यतरः कुमुदः पितृबधेन रिपोर्वैनतेयात् गरुड़ात्। गुरुणा वैष्णवांशेन कुशेन त्याजितक्रौर्य्या-दिति भावः। शङ्कां भयमत्यजत् अपरः कुशः शान्तव्यालां कुमुदाज्ञया वीत-सर्पभयामवनिम् अतएव पौरकान्तः पौरप्रियः सन् शशास ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां
षोड़शः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

सप्तदशः सर्गः ।

अतिथिं नाम काकुत्स्थात् पुत्रमाप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥
स पितुः पितृमान् वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात् सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥
तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात् पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत् पिता ॥ ३ ॥

नमो रामपदाम्भोजं रेणवो यत्र सन्ततम् ।
कुर्व्वन्ति कुमुदप्रीतिमरण्यगृहमेधिनः ॥

अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थात् कुशात् अतिथिं नाम पुत्रम्, चेतना बुद्धिः पश्चिमादन्तिमात् यामिन्या रात्रेर्यामात् प्रहरात् । द्वौ यामप्रहरौ समावित्यमरः । प्रसादं वैशद्यमिव, प्राप । ब्राह्मे सर्व्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवतीति प्रसिद्धिः ॥ १ ॥

स इति । पितृमान् । प्रशंसार्थे मतुप् । सुशिक्षित इत्यर्थः । अनुपमद्युतिः । सवितुश्चेदं विशेषणम् । सोऽतिथिः पितुः कुशस्य मातुः कुमुद्वत्याश्च वंशम्, सविता उत्तरदक्षिणौ उभौ मार्गाविव, अपुनात् पवित्रीकृतवान् ॥ २ ॥

तमिति । अर्थान् शब्दार्थान् दानसंग्रहादिक्रियाप्रयोजनानि च विदन्तीत्यर्थविदः तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशः तमतिथिम् आदौ प्रथमं कुलविद्यानाम् आन्वीक्षिकीत्रयीवार्त्तादण्डनीतीनाम् अर्थमभिधेयम् अग्राहयत् अबोधयत्, पश्चात् पार्थिवकन्यानां पाणिम् अग्राहयत् स्वीकारितवान् उदवाहयदित्यर्थः । ग्रहेर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विकर्म्मकत्वमस्तीत्युक्तं प्राक् ॥ ३ ॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्य्यवता कुशः ।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥
स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्ज्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥
तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात् कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥
तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्द्धभाक् ।
द्वितीयापि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥
तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्त्तुः संग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

जात्यइति । जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरः वशी कुशः अभिजातेन कुलीनेन । अभिजातः कुलीनः स्यादित्यमरः । शौर्य्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एकमात्मानम् एको न भवतीत्यनेकस्तम् अमन्यत सर्वगुणसामग्र्यादात्मजम् आत्मन एव रूपान्तरममंस्तेत्यर्थः ॥ ४ ॥

सइति । स कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तम् इन्द्रस्य साहायकं सहकारित्वम् । योपधादित्यादिना वुञ् । उपेयिवान् प्राप्तः सन् समरे नामतोऽर्थतश्च दुर्ज्जयं दैत्यं जघानावधीत् तेन दैत्येनावधि हतश्च । लुङि चेति हनो वधादेशः ॥ ५ ॥

तमिति । कुमुदस्य नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी, कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव, तं कुशम् अन्वगात् । कुशस्तु कुः पृथ्वी तस्याः मुत् प्रीतिः सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः परानन्देन स्वयमानन्दतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशः दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्द्धं सिंहासनैकदेशः तद्भागासीत्, द्वितीया कुमुद्वत्यपि शच्याः इन्द्राण्याः पारिजातांशस्य भागिनी ग्राहिणी । संपृचेत्यादिना भजेर्घिनुण् प्रत्ययः । सखी आसीत् । कस्कादित्वाद्दिवस्पतिः साधुः ॥ ७ ॥

तदिति । संग्रामं यायिनः संग्रामं यास्यतः आवश्यकार्थे णिनिः, अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरिति षष्ठीनिषेधः । भर्त्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्य्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तोमन्त्रिवृद्धाः तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः।
विमानं नव-मुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥
तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥
नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्य्यैराहतपुष्करैः।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥
दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान्।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान् स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥
पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्व्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥
तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत।
सशब्दमभिषेकश्री र्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

त इति। ते मन्त्रिणः तस्यातिथेः अभिषेकाय शिल्पिभिः उद्वेदि उन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः ॥९॥

तत्रेति। तत्र विमाने भद्रपीठे पीठविशेषे उपवेशितम् एनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः संगृहीतैः तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिण उपतस्थुः॥१०॥

नदद्भिरिति। आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः। पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखेपि चेत्यमरः। स्निग्धं मधुरं गम्भीरञ्च नदद्भिः तूर्य्यैः तस्यातिथेः अविच्छिन्नसन्तति अविच्छिन्नपारम्पर्य्यं कल्याणं शुभं अन्वमीयत अनुमितम् ॥ ११ ॥

दूर्वेति। सोऽतिथिः दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्च अभिन्नपुटाः बालपल्लवाश्च उत्तराणि प्रधानानि येषु तान्। अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित्, कमलानीत्यन्ये। ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान् नीराजनाविधीन् भेजे ॥ १२ ॥

पुरोहितेति। पुरोहितप्रमुखाः द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैः अथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्व्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे ॥१३॥

तस्येति। तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्ती ओघमहती महाप्रवाहा अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जलं तस्य श्रीः सम्पद्भिः, त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव, व्यरोचत। त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः।
प्रवृद्ध इव पर्ज्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः॥ १५॥
तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः।
ववृधे वैद्युतस्याग्ने र्वृष्टिसेकादिव द्युतिः॥ १६॥
स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु।
यावतैषां समाप्येरन् यज्ञाः पर्य्याप्तदक्षिणाः॥ १७॥
ते प्रीतमनसस्तस्मै या-माशिषमुदैरयन्।
सा तस्य कर्म्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः॥ १८॥
बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणा-मवध्यताम्।
धुर्य्याणाञ्च धुरो मोक्ष-मदोहञ्चादिशद्गवाम्॥ १९॥
क्रीड़ा-पतत्त्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः।

स्तूयमान इति। तस्मिन् क्षणे अभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमानः सोऽतिथिः, प्रवृद्धः प्रवृद्धवान्। कर्त्तरि क्तः। अतएव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्ज्जन्यो मेघ इव, अलक्ष्यत॥ १५॥

तस्येति। सन्मन्त्रैः पूताभिः शुद्धाभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य, वृष्टिसेकात् विद्युतोऽयं वैद्युतस्तस्य अविन्धनस्याग्नेरिव, द्युतिर्ववृधे॥ १६॥

स इति। सोऽतिथिः अभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यः तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ यावता वसुना एषां स्नातकानां पर्य्याप्तदक्षिणाः समग्रदक्षिणाः यज्ञाः समाप्येरन्॥ १७॥

त इति। प्रीतमनसस्ते स्नातकाः तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन् व्याहरन् सा आशीः तस्यातिथेः कर्म्म निर्वृत्तैः पूर्व्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः साम्राज्यादिभिर्दूरं दूरतः पश्चात्कृता, स्वफलदानस्य तदानीमनवकाशात् कालान्तरोद्वीक्षणं चकारेत्यर्थः॥ १८॥

बन्धेति। सोऽतिथिः बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणाम् अवध्यतां धुरं वहन्तीति धुर्य्याः बलीवर्द्दादयस्तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थं दोहनिवृत्तिं चादिशत् आदिदेश॥ १९॥

क्रीड़ेति। पञ्जरस्थाः शुकादयः अस्यातिथेः क्रीड़ापतत्त्रिणोऽपि किमुतान्ये

लब्धमोक्षास्तदादेशात् यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ २१ ॥

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २२ ॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥

चन्दनेनाङ्गरागञ्च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।

इत्यपि शब्दार्थः, तदादेशात् तस्यातिथेः शासनात् लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्टं गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ॥ २० ॥

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय प्रसाधनस्वीकाराय कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गनविशेषः । कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेरित्यमरः । तत्र न्यस्तं स्थापितं शुचि निर्मलं सोत्तरच्छदम् आस्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठम् अध्यास्त तत्रोपविष्ट-इत्यर्थः ॥ २१ ॥

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ताः प्रसाधकाः अलङ्कर्त्तारः धूपेन गन्धद्रव्यधूपेन आश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथिं तैस्तैः आकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाल्यादिभिः उपसेदुरुपतस्थुरलञ्चक्रुरित्यर्थः ॥२२॥

तेऽस्येति । ते प्रसाधकाः मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेण उन्नद्धमुद्बद्धम् अन्तर्गतस्रजम् अस्यातिथेः मौलिं धम्मिल्लं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण माणिक्येन प्रत्यूपुः प्रत्युप्तं चक्रुः ॥ २३ ॥

चन्दनेनेति । किञ्च मृगनाभ्या कस्तूरिकया सुगन्धिना चन्दनेन अङ्गरागमङ्गविलेपनं समापय्य समाप्य ततोऽनन्तरं विन्यस्ता रोचना गोरोचना यस्मिंस्तत् पत्रं पत्ररचनं चक्रुः ॥ २४ ॥

आमुक्तेति । आमुक्ताभरणः आसञ्जिताभरणः स्रजोऽस्य सन्तीति स्रग्वी । अस्मायामेधास्रजोविनिरिति विनिप्रत्ययः । हंसाश्चिह्नमस्येति हंसचिह्नं यद्दुकूलं

आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ २५ ॥
नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥
स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्त्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्म्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥
वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूड़ामणिभिरुद्‌घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥
शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव केशवम् ॥ २९ ॥

तद्वान् । अत्र बहुव्रीहिणैवार्थसिद्धेर्मत्वानर्थक्येऽपि सर्वधनीत्यादिवत् कर्म्मधारया-दपि मत्वर्थीयं प्रत्ययमिच्छन्ति, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । राज्यश्रीरेव वधूर्नवोढ़ा तस्याः वरो वोढ़ा । वधूः स्नुषा नवोढ़ा स्त्री वरो जामातृषिङ्गयोरिति विश्वः । सोऽतिथिः अतिशयेन प्रेक्ष्यो दर्शनीयः आसीत् । वरोप्येवंविशेषणः ॥ २५ ॥

नेपथ्येति । हिरण्मये सौवर्णे आदर्शे दर्पणे नेपथ्यदर्शिनो वेषं पश्यतः तस्या-तिथेश्छाया प्रतिविम्बम्, उदिते सूर्ये दर्पणकल्पे मेरौ यः कल्पतरुः तस्य छायेव, विरराज । तस्य सूर्यसंक्रान्तविम्बस्य सम्भवान्मेरावित्युक्तम् ॥ २६ ॥

स इति । सोऽतिथिः राजककुदानि राजचिह्नानि छत्रचामरादीनि । प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियामित्यमरः । तेषु व्यग्राः पाणयो येषां तैः पार्श्ववर्त्तिभिः जनैः उदीरितालोक उच्चारितजयशब्दः । आलोकोजयशब्दः स्यादिति हलायुधः । सुधर्म्मायाः देवसभायाः अनवमामन्यूनां सभामास्थानीं ययौ । स्यात् सुधर्म्मा देवसभेत्यमरः ॥ २७ ॥

वितानेति । तत्र सभायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । अस्त्री वितान-मुल्लोच इत्यमरः । महीक्षितां राज्ञां चूड़ामणिभिः शिरोरत्नैः उद्‌घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत् पितुरिदं पैतृकम् । ऋतष्ठञ् इति ठञ् प्रत्ययः । आसनं सिंहा-सनं भेजे ॥ २८ ॥

शुशुभे इति । तेन चाक्रान्तं श्रीवत्सो नाम रोमविशेषः तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । श्रीवत्सनन्द्यावर्त्तादिविच्छेदा वहवोद्वयोरिति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं

बभौ भूयःकुमारत्वादधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्रमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥
प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्व्वाभिभाषिणम् ।
मूर्त्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः॥ ३१ ॥
स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥
तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्द्ध्नि, तेनामलत्विषा ।
पूर्व्वराजवियोगौष्ण्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥
धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।

मङ्गलगृहं सभारूपम्, कौस्तुभेन मणिना आक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणं केशवस्येदं कैशवं वक्ष इव, शुशुभे ॥ २९ ॥

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वात् बाल्यात् भूयः यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम् अधिराजस्य भावः अधिराज्यम् अवाप्य, रेखाभावादर्द्धेन्दुत्वमवाप्यैव सामग्रम् उपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव, बभौ इति व्याख्यानं, तदपि यौवराज्याभाव-निश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

प्रसन्नेति । प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्ति र्यस्य तं स्मितपूर्व्वं यथा तथा अभि-भाषिणमाभाषणशीलं तमतिथिम् अनुजीविनः मूर्त्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विस्र-म्भम् अमन्यन्त । समौ विश्वासविस्रम्भावित्यमरः ॥ ३१ ॥

स इति । पुरुहूतश्रीः सोऽतिथिः कल्पद्रुमाणां समानाः ध्वजाः यस्या स्तां पुरम् अयोध्याम् ऐरावतस्य ओज इवौजो बलं यस्य तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममाणश्चरन् । अनुपसर्गाद्वेति वैकल्पिक मात्मनेपदम् । द्यां चकार स्वर्गलोकसदृशीं चकारेत्यर्थः । द्यौः स्वर्ग सुरवर्त्मनोरिति विश्वः ॥ ३२ ॥

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्द्ध्नि छत्रमुच्छ्रितमुन्नमितम्, अमलत्विषा तेन छत्रेण कृत्स्नस्य जगतः पूर्व्वराजस्य कुशस्य वियोगेन यदौष्ण्यं सन्तापः तत् हृतं नाशि-तम् । अत्र छत्रोन्नमनसन्तापहरणलक्षणयोः कारणकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादस-ङ्गतिरलङ्कारः ॥ ३३ ॥

धूमादिति । अग्ने र्धूमात् पश्चादनन्तरमित्यर्थः शिखाः ज्वालाः, रवेः उद-

सोऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥
तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भि र्विभावर्य्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्च्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥
यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलान्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ ३७ ॥
वशिष्ठस्य गुरोर्म्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किन्तत् साध्यं यदुभये साधयेयु र्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥
स धर्म्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।

यात् पश्चादनन्तरम् अंशवः उत्तिष्ठन्त इति शेषः । सोऽतिथिः तेजसामग्न्यादीनां वृत्तिं स्वभावमतीत्य गुणैः समं सहैवोत्थितः उदितः । अपूर्वमिदमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

तमिति । पौरयोषितः प्रीत्या विशदैः प्रसन्नैः नेत्रैः करणैः तमतिथिम् अन्वयुः अनुजग्मुः दृष्टिप्रसारमद्राक्षुरित्यर्थः । कथमिव, शरदि प्रसन्नैः ज्योतिर्भिः नक्षत्रैः विभावर्य्यो रात्रयो ध्रुवमिव । ध्रुव पाशवद्धत्वात्ताराचक्रस्येत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अयोध्येति । प्रशस्तेषु आयतनेषु आलयेषु अर्च्चिता अयोध्यादेवताश्च अनुध्येयम् अनुग्राह्यमेनमतिथिं प्रतिमागतै रर्चासंक्रान्तैः सान्निध्यैः सन्निधानैः अनुदध्युरनुजगृहुः । अनुध्यानमनुग्रह इत्युत्पलमालायाम् । तदनुग्रहबुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

यावदिति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिः यावत् नाश्यायते न शुष्यति । कर्त्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दुःसहः प्रतापो वेलान्तं वेलापर्य्यन्तं प्राप ॥ ३७ ॥

वशिष्ठस्येति । गुरोर्वशिष्ठस्य मन्त्राः धन्विनस्तस्य अतिथेः सायकाः इत्युभये सङ्गताः सन्तो यत्साध्यं न साधयेयुः तत् तादृक् साध्यं किं, न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामसाध्यं नास्तीति भावः ॥ ३८ ॥

स इति । धर्म्मे तिष्ठन्तीति धर्म्मस्थाः सभ्याः, राज्ञा सभासदः कार्य्याः

ददर्श संशयच्छेद्यान् व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान् विज्ञापनाफलैः ॥ ४० ॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्द्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् ।

रिपौ मित्रे च ये समा इत्युक्तलक्षणास्तेषां सखा धर्म्मस्यसखः तत्सहित इत्यर्थः अतन्द्रितोऽनलसः स नृपः शश्वदन्वहमित्यर्थः अर्थिनां साध्यार्थवतां प्रत्यर्थिनां तद्विरोधिनाञ्च संशयच्छेद्यान् संशयाद्धेतोः छेद्यान् परिच्छेद्यान् सन्दिग्धत्वा-दवश्यनिर्णेयानित्यर्थः व्यवहारान् ऋणादानादिविवादान् स्वयं ददर्श अनुसन्दधौ नतु प्राड्विवाकमेव नियुक्तवानित्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्यः, व्यवहारान्नृपः पश्ये-द्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सहेति ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परं व्यवहारदर्शनानन्तरं भृत्याननुजीविनः अभिव्यक्तं सुख-प्रसादादिलिङ्गैः स्फुटीभूतं यत् सौमनस्यं स्वामिनः प्रसन्नत्वं तेन निवेदितैः सूचितैः पाकाभिमुखैः सिद्ध्युन्मुखैः विज्ञापनानां विज्ञप्तीनां फलैः प्रेप्सितार्थैः युयोज योजया-मास । अत्र बृहस्पतिः, नियुक्तः कर्म्मनिष्पत्तौ विज्ञप्तौ च यदृच्छया । भृत्यान् धनैर्मानयंस्तु नवोऽप्यक्षोभ्यतां व्रजेदिति । कविश्च वक्ष्यति अक्षोभ्य इति । अत्र सौमनस्यफलयोजनादिभिर्नृपस्य दृढसमाधिर्ध्वन्यते इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४० ॥

प्रजा इति । प्रजाः तस्यातिथेर्गुरुणा पित्रा कुशेन नभसा श्रावणमासेन नद्य इव विवर्द्धिताः, तस्मिन्नतिथौ तु नभस्ये भाद्रपदे मासे ता इव भूयसीं वृद्धिम् अभ्युदयमाययुः प्रजापोषणेन पितरमतिशयितवानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

यदिति । सोऽतिथिः यद्वाक्यं दानादिविषयम् उवाच तन्न मिथ्या अनृतं नाभूत्, यद्वस्तु ददौ तन्न जहार न पुनराददे । किन्तु शत्रूनुद्धृत्योत्खाय प्रति-रोपयन् पुनः स्थापयन् भग्नव्रतो भग्ननियमोऽभूत् ॥ ४२ ॥

वय इति । वयोरूपविभूतीनां यौवनसौन्दर्य्यैश्वर्य्याणां मध्ये एकैकं मदकारणं मदहेतुः, तानि मदकारणानि तस्मिन् राज्ञि समस्तानि मिलितानीति शेषः, तथापि

तानि तस्मिन् समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः ॥ ४३ ॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम्।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीत् दृढ़मूल इव द्रुमः ॥ ४४ ॥

अनित्याः शत्रवो वाह्याः विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान् नित्यान् षट् पूर्वमजयद्रिपून् ॥ ४५ ॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिन् चपलापि स्वभावतः।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी ॥ ४६ ॥

कातर्य्यं केवला नीतिः शौर्य्यं श्वापदचेष्टितम्।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ ४७ ॥

तस्यातिथेः मनो नोत्सिषिचे न जगर्व। सिञ्चतेः सरितेत्त्वात् आत्मनेपदम्। अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वात् मदस्य च मदिराकार्य्यत्वेन अतत्कारकत्वात् मदशब्देन गर्वो लक्ष्यत इत्याहुः। उक्तञ्च ऐश्वर्य्यरूपतारुण्यकुलविद्यावलैरपि। इष्टलाभादिना ह्येषामवज्ञा गर्व्व ईरितः। मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृत इति। अतएव कविनापि उत्सिषिचे इत्युक्तं न तून्ममादेति ॥ ४३ ॥

इत्थमिति। इत्थम् अनुवासरमन्वहं प्रकृतिषु प्रजासु जनितरागासु सतीषु स राजा नवोऽपि दृढ़मूलो द्रुम इव अक्षोभ्यः अप्रधृष्य आसीत् ॥ ४४ ॥

अनित्या इति। यतो वाह्याः शत्रवः प्रतिनृपाः अनित्याः द्विषन्ति स्निह्यन्ति चेत्यर्थः, किञ्च ते वाह्याः विप्रकृष्टाः दूरस्थाश्च। अतः सः अभ्यन्तरानन्तर्वर्त्तिनो नित्यान् षट् रिपून् कामक्रोधादीन् पूर्वमजयत्। अन्तःशत्रुजये वाह्या अपि न दुर्ज्जया इति भावः ॥ ४५ ॥

प्रसादेति। स्वभावतश्चपला चञ्चलापि श्रीः प्रसादाभिमुखे तस्मिन् नृपे, निकषे निकषोपले हेमरेखेव, अनपायिनी स्थिरा आसीत् ॥ ४६ ॥

कातर्य्यमिति। केवला शौर्य्यवर्ज्जिता नीतिः कातर्य्यं भीरुत्वम्। शौर्य्यं केवलमित्यनुषञ्जनीयम्। केवलं नीतिरहितं शौर्य्यं श्वापदचेष्टितं व्याघ्रादिचेष्टाप्रायमित्यर्थः। व्याघ्रादयो वनचराः पशवः श्वापदा मता इति हलायुधः। अतो हेतोः सोऽतिथिः समेताभ्यां सङ्गताभ्याम् उभाभ्यां नीतिशौर्य्याभ्यां सिद्धिं जयप्राप्तिम् अन्वियेष गवेषितवान् ॥ ४७ ॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत् किञ्चित् व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ ४८ ॥
रात्रिन्दिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत् सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ ४९ ॥
मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः ।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥
परेषु स्वेषु च क्षिप्तै रविज्ञातपरस्परैः ।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥

न तस्येति । न्यस्ताः सर्व्वतः प्रहिताः प्रणिधयश्चारा एव दीधितयो रश्मयो यस्य तस्य । प्रणिधिः प्रार्थने चार इति शाश्वतः । तस्य राज्ञः, व्यभ्रस्य निर्मेघस्य विवस्वतः सूर्य्यस्येव, मण्डले स्वविषये किञ्चिदल्पमपि अदृष्टम् अज्ञातं नाभवत् नासीत् । स चारचक्षुषा सर्व्वमपश्यदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

रात्रिन्दिवेति । रात्रौ च दिवाच रात्रिन्दिवम् । अचतुरेत्यादिना अधिकरणार्थे द्वन्द्वेऽच् प्रत्ययान्तो निपातः । अव्ययान्तत्वादव्ययत्वम् । अत्र षष्ठ्यर्थलक्षणया रात्रिन्दिवमिति अहोरात्रयोरित्यर्थः तयो र्विभागाः अंशाः प्रहरादयः तेषु महीक्षितां राज्ञां यदादिष्टम् इदमस्मिन् काले कर्त्तव्यमिति मन्वादिभिरुपदिष्टं तत् स राजा विकल्पपराङ्मुखः संशयरहितः सन् नियोगेन निश्चयेन सिषेवे अनुष्ठितवानित्यर्थः । अत्र कौटिल्यः कार्य्याणां नियोगविकल्पसमुच्चयाः भवन्ति अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः अनेन अन्येन वेति विकल्पः अनेन चेति समुच्चय इति ॥ ४९ ॥

मन्त्र इति । तस्य राज्ञः प्रतिदिनं मन्त्रिभिः सह मन्त्रो विचारो बभूव । स मन्त्रः सेव्यमानोऽपि अन्वहमावर्त्त्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते । तत्र हेतुः गुप्तद्वार इति संवृतेङ्गिताकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ॥ ५० ॥

परेष्विति । यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथिः परेषु शत्रुषु स्वेषु स्वकीयेषु च मन्त्र्यादितीर्थेष्विति शेषः क्षिप्तैः प्रहितैः अविज्ञाताः परस्परे येषां तैः अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः अपसर्पैः चरैः । अपसर्पश्चर इत्यमरः । जजागार चारमुखेन सर्व्वमज्ञासीदित्यर्थः । अत्र कामन्दकः, चारान् विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च । पाषण्डादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपीति ॥ ५१ ॥

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः ॥ ५२ ॥
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्म्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५३ ॥
अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥
कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्य्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥

दुर्गाणीति । द्विषां रोद्धुः रोधकस्यापि नतु स्वयं रोध्यस्येत्यर्थः तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्द्धर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीनि आसन् । नच निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यम् इत्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह नहीति, गजानास्कन्दति हिनस्तीति गजास्कन्दी सिंहो भयाद्धेतोः गिरिगुहासु शेते इति गिरिगुहाशयो नहि किन्तु स्वभावतएवेति शेषः । अधिकरणे शेतेरित्यच्प्रत्ययः । अत्र मनुः, धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्च्छमेव वा । नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरमिति ॥५२॥

भव्येति । भव्यमुख्याः कल्याणप्रधानाः नतु विपरीताः प्रत्यवेक्ष्याः एतावत् कृतमेतावत् कर्त्तव्यमित्यनुसन्धानेन विचारणीयाः अतएव निरत्ययाः निर्बाधाः गर्भेऽभ्यन्तरे पच्यन्ते ये शालयः तेषां सधर्म्माणः अतिनिगूढ़ा इत्यर्थः । धर्म्मादनिच् केवलादित्यनिच् प्रत्ययः समासान्तः । तस्य राज्ञः समारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि गूढ़मप्रकाशं विपेचिरे फलिताइत्यर्थः । फलानुमेयाः प्रारम्भा इति भावः ॥ ५३ ॥

अपथेनेति । सोऽतिथिः उपचितो वृद्धिं गतोऽपि सन् जातु कदाचिदपि अपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः मर्य्यादां न जहावित्यर्थः । तथाहि लवणाम्भसो लवणसागरस्य वृद्धौ पूरोत्पीड़े सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निःसरणं नत्वन्यथेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

काममिति । प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागं दैवादुत्पन्नमिति शेषः सद्यः कामं सम्यक् शमयितुं क्षमः शक्तः स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्य्यः कर्त्तव्यः अनर्थहेतुत्वादित्यर्थः तद्वैराग्यं नोदपादयत् । उत्पन्नप्रतीकारादनुत्पादनं

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥ ५६ ॥
न धर्म्ममर्थकामाभ्यां बबाधे नच तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ ५७ ॥
हीनान्यनुपकर्त्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्व्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभि र्बलिष्ठश्चेत् परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ ५९ ॥

वरमिति भावः । अत्र कौटिल्यः क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम् विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्त्तारं घ्नन्ति वा स्वयम् । तस्मात् प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

शक्येष्विति । शक्तिमतः शक्तिसम्पन्नस्यापि सत स्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्धीनबलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्रा अभवत् नतु समधिकेष्वित्यर्थः । तथाहि समीरणसहायोपि दवानलः अम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न दग्धुमिति शेषः किन्तु तृणकाष्ठादिकमेव अन्विष्यतीत्यर्थः । अत्र कौटिल्यः, समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृह्णीयादिति ॥ ५६ ॥

न धर्म्ममिति । स राजा अर्थकामाभ्यां धर्म्मं न बबाधे न नाशितवान्, तेन धर्म्मेण च तावर्थकामौ न, अर्थं कामेन कामं वा अर्थेन न बबाधे एकत्रैवासक्तो नाभूदित्यर्थः । किन्तु त्रिषु धर्म्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिरभूदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

हीनानीति । मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्त्तृणि अनुपकाराणि प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेत् विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते अपकुर्व्वतइत्यर्थः । अकर्म्मकात्त्वेत्यात्मनेपदम् । अतः कारणात् तेन राज्ञा मित्राणि सुहृदः । मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के इति विश्वः । मध्यमशक्तीनि नातिक्षीणोच्छ्रितानि यथा तथा स्थापितानि ॥५८॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रेत्यादिनोक्तमर्थं सोपस्कारमाह ।

परेति । सोऽतिथिः परात्मनोः शत्रो रात्मनश्च शक्त्यादीनां शक्तिदेशकालादीनां बलाबलं न्यूनाधिकभावं परिच्छिद्य निश्चित्य, एभिः शक्त्यादिभिः परस्मात् शत्रोर्बलिष्ठः स्वयमतिशयेन बलवांश्चेत् । बलशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन् प्रत्ययः, विन्मतोर्लुगिति मतुपो लुक् । ययौ यात्रां चक्रे, अन्यथा अबलिष्ठश्चेत् आस्त अतिष्ठत् न ययौ इत्यर्थः । अत्र मनुः, यदा मन्येत भावेन हृष्टपुष्टबलं स्वकम् । परस्य

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूत श्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥
परकर्म्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्म्मसु ।
आवृणोदात्मनोरन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥
पित्रा संवर्द्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥
सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तत् अयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

विपरीतंचेत्तदा यायादरीन् प्रति । यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीनिति ॥ ५९ ॥

कोशेनेति । कोशेनार्थचयेन आश्रयणीयत्वं भवतीति शेषः इति हेतो स्तस्य राज्ञः अर्थसंग्रहः नतु लोभादित्यर्थः । तथाहि, अम्बु गर्भे यस्य सोऽम्बुगर्भः जीवनस्य जलस्य मूतः पुटवन्धो जीमूतोमेघः । मूङ्वन्धने पृषोदरादित्वात्साधुः । चातकैरभिनन्द्यते सेव्यते । अत्र कामन्दकः, धर्म्महेतो स्तथार्थाय भृत्यानां रक्षणाय च । आपदर्थञ्च संरक्ष्यः कोशो धर्म्मवता सदेति ॥ ६० ॥

परकर्म्मेति । स राजा परेषां कर्म्माणि सेतुवार्त्तादीनि अपहन्तीति परकर्म्मापहः सन् । अन्येभ्योपि दृश्यत इति अपिशब्दसामर्थ्याद्धन्ते र्डप्रत्ययः । स्वेषु कर्म्मसु उद्यतः उद्युक्तोऽभूत्, रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन् आत्मनो रन्ध्रं व्यसनादिकमावृणोत् संवृतवान् । अत्र मनुः, नास्य च्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत् कूर्म्म इवाङ्गानि पराद्विवरमात्मन इति ॥ ६१ ॥

पित्रेति । दण्डो दमः सैन्यं वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः पिता कुशेन नित्यं संवर्द्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः सम्परायो युद्धम् । युद्धायत्योः सम्पराय इत्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । तदर्हतीति ठक्प्रत्ययः । दण्डः सैन्यम् । दण्डो यमे मानभेदे लगुड़े दमसैन्ययोरिति विश्वः । स्वदेहान्न व्यशिष्यत नाभिद्यत । स्वदेहेपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबलं स्वदेहमिवारक्षदित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सर्पस्येति । सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रु र्नचकर्ष, सतु परस्माच्छत्रोः तत् शक्तित्रयम् अयस्कान्तो मणिविशेषः आयसं लोहविकारमिव चकर्ष ॥ ६३ ॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥
तपो रक्षन् स विघ्नेभ्य स्तस्करेभ्यश्च सम्पदः ।
यथास्वमाश्रमै श्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥
खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः शस्यं वनैर्गजान् ।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ ६६ ॥
स गुणानां बलानाञ्च षण्णां षण्मुखविक्रमः ।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु ॥ ६७ ॥
इति क्रमात् प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम् ।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे ॥ ६८ ॥

वापीष्विति । स्रवन्तीषु नदीषु वापीषु दीर्घिकास्विव । वापी तु दीर्घिकेत्यमरः । वनेष्वरण्येषु उपवनेषु आरामेष्विव । आरामः स्यादुपवनमित्यमरः । अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मस्विव, सार्थाः वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुः चरन्ति स्म ॥ ६४ ॥

तप इति । विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन् तस्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन् स राजा आश्रमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्वर्णैरपि ब्राह्मणादिभिश्च यथास्वं स्वमनतिक्रम्य षडंशभाक् चक्रे यथाक्रममाश्रमैस्तपसः वर्णैः सम्पदाञ्च षष्ठांशभाक् कृत इत्यर्थः । षष्ठोऽंशः षडंशः संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमुक्तं प्राक् ॥ ६५ ॥

खनिभिरिति । भूर्भूमिस्तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं रक्षानुरूपमेव वेतनं भृतिं दिदेश ददौ । कथं खनिभिराकरैः । खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः । रत्नं माणिक्यादिकं सुषुवे अजीजनत्, क्षेत्रैः शस्यम्, वनैर्गजान् हस्तिनः सुषुवे ॥ ६६ ॥

स इति । षण्मुखविक्रमः स राजा षण्णां गुणानां सन्धिविग्रहादीनां बलानां मूलभृत्यादीनाञ्च साधनीयेषु वस्तुषु साध्येष्वर्थेषु विनियोगं जानातीति, विनियोगस्य ज्ञः इति वा, विनियोगज्ञः । कर्म्मविवक्षायामुपपदसमासः, आतोऽनुपसर्गे क इति कप्रत्ययः । शेषविवक्षायां षष्ठीसमासः, इगुपधेत्यादिना कप्रत्ययः । बभूव, इदमत्र प्रयोक्तव्यमित्यादि अज्ञासीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

इतीति । इति चतुर्विधां सामाद्युपायैरिति शेषः राजनीतिं दण्डनीतिं क्रमात् सामादिक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा आतीर्थात् मन्त्र्याद्यष्टादशात्मकतीर्थपर्य्यन्तम् । योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यादिति

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन् सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिणी ॥ ६९ ॥
प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धभिन्नान्यदन्तिनः॥ ७० ॥
प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥
सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥
स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथापि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥

इत्यायुधः । तस्याः नीतेः फलम् अप्रतीघातम् अप्रतिबन्धं यथा तथा आनशे प्राप्तवान् । मन्त्यादिषु यमुद्दिश्य य उपायः प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

कूटेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञेऽपि सन्मार्गेण योधिनि धर्म्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिणी जयश्रीः अभिसारिकावृत्तिं भेजे। कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिकेत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्य आगच्छदित्यर्थः ॥ ६९ ॥

प्राय इति । अरीणां सर्वेषां प्रतापेन अतितेजसैव भग्नत्वात् तस्य राज्ञः, गन्धेन मदगन्धेन भिन्ना भग्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव, प्रायः प्रायेण रणो दुर्ल्लभः । खलर्थयोगेपि शेषविवक्षायां षष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ॥७०॥

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रो हीयते समुद्रोऽपि तथाविधः चन्द्रवदेव प्रवृद्धो हीयते । प्रवृद्ध इति वा पाठः । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा वृद्धिर्यस्य स तत् समवृद्धिश्चाभूत् तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी । जिदृक्षीत्यादिना इनिप्रत्ययः । नाभूत् ॥ ७१ ॥

सन्त इति । अत्यर्थं कृशा दरिद्राः अतएवार्थिनो याचनशीलाः सन्तो विद्वांसः महतस्तस्य राज्ञोऽभिगमनात्, उदधेरभिगमनाज्जीमूता इव, दातृत्वं प्रापुः, अर्थिषु दानभोगपर्य्याप्तं धनं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

स्तूयमान इति । स राजा स्तुत्यं स्तोत्रार्हमेव यत् तदेव समाचरन् अतएव स्तूयमानः सन् जिह्राय ललज्ज, तथापि ह्रीणत्वे पि तत्कारिणः स्तोत्रकारिणो

दुरितं दर्शनेन घ्नन् तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः ।
प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे शश्वत् सूर्य्य इवोदितः ॥७४ ॥
इन्दोरगतयः पद्मे सूर्य्यस्य कुमुदेऽंशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ ७५ ॥
पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥
एवमुद्यन् प्रभावेण शास्त्रनिर्द्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥
पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्म्ययोगतः ।

द्वेष्टीति तत्कारिद्वेषिणः तस्य राज्ञो यशो ववृधे । गुणाढ्यस्य स्तुतौ लज्जैव भूषणमिति भावः ॥ ७३ ॥

दुरितमिति । स राजा उदितः सूर्य्य इव दर्शनेन दुरितं घ्नन् निवर्त्तयन् । तथा च स्मर्य्यते अग्निचित् कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्रा पुनन्त्येते तस्मात् पश्येत नित्यश इति । तत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्य अर्थेन समर्थनेन प्रकाशेन च तमोऽज्ञानं ध्वान्तञ्च नुदन् शश्वत् प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे स्वाधीना चकार ॥ ७४ ॥

इन्दोरिति । इन्दोरंशवः पद्मे अगतयः प्रवेशरहिता इत्यर्थः, सूर्य्यस्यांशवः कुमुदे अगतयः । गुणिनस्तस्य गुणास्तु विपक्षे शत्रावपि अन्तरमवकाशं लेभिरे प्रापुः ॥ ७५ ॥

परेति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसन्धानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथापि तद्धर्म्म्यं धर्म्मादनपेतमेव । धर्म्मपथ्यर्थन्यायादनपेत इति यत्प्रत्ययः । बभूव । मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिः परान् सन्दध्यादिति कौटिल्यः ॥ ७६ ॥

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्द्दिष्टवर्त्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजमित्यमरः । उद्यन् उद्युञ्जानः सः, वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव, राज्ञां राजा राजराजो बभूव ॥ ७७ ॥

पञ्चममिति । तं राजानमिति शेषः, साधर्म्म्ययोगतः यथाक्रमं लोकसंरक्षण परोपकारभूधारणरूपसमानधर्म्मत्वबलात् लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां

भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥
दूरापवर्ज्जितच्छत्रै स्तस्याज्ञां शासनार्पिताम् ।
दधुः शिरोभिर्भूपालाः देवाः पौरन्दरीमिव ॥ ७९ ॥
ऋत्विजः स तथानर्च्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ ८० ॥
इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूत्
यादोनाथः शिवजलपथः कर्म्मणे नौचराणाम् ।
पूर्व्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुवेरः
तस्मिन् दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
अतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥

पञ्चममूचुः, महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चानां षष्ठमूचुः, कुलभूभृतां कुलाचलानां महेन्द्रमलयादीनां सप्तानामष्टममूचुः ॥ ७८ ॥

दूरेति । भूपालाः शासनेषु अर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञः आज्ञाम्, देवाः पौरन्दरीमैन्द्रीमाज्ञामिव दूरापवर्ज्जितच्छत्रैः दूरात्परिहृतातपत्रैःशिरोभिर्दधुः॥७९॥

ऋत्विज इति । स राजा महाक्रतावश्वमेधे ऋत्विजो याजकान् दक्षिणाभिः तथा आनर्च अर्च्चयामास । अर्च्चतेर्भौवादिकाल्लिट् । यथा अस्य राज्ञो धनदस्य च नाम साधारणीभूतमेकीभूतम्, उभयोरपि धनसंज्ञा यथा स्यात्तथेत्यर्थः ॥८०॥

इन्द्रादिति । इन्द्राद्वृष्टिरभूत् यमः नियमिता निवारिता गदस्य रोगस्योद्रेक एव वृत्तिर्येन सोऽभूत्, यादोनाथो वरुणः नौचराणां नाविकानां कर्म्मणे सञ्चाराय शिवजलपथः सुचरजलमार्गोऽभूत्, तदनु पूर्व्वापेक्षी रघुरामादिमहिमाभिज्ञः कुवेरः कोषवृद्धिं विदधे, इत्थं लोकपाला स्तस्मिन् राज्ञि विषये दण्डोपनतस्य शरणागतस्य चरितं वृत्तिं भेजिरे । दुर्बलो बलवत्सेवी विरुद्धाच्छङ्किता-दिभिः । वर्त्तेत दण्डोपनतो भर्त्तर्य्येवमवस्थित इति कौटिल्यः ॥ ८१ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायां
सप्तदशः सर्गः ।

रघुवंशम् ।

अष्टादशः सर्गः ।

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायाम्
उत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्
पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

तेनोरुवीर्य्येण पिता प्रजायै
कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः
शस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

शब्दादि निर्व्विश्य सुखं चिराय
तस्मिन् प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।

यत्पदाम्बुजसम्पर्कादहल्यासीदपांशुला ।
कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स इति । निषिद्धशत्रु र्निवारितरिपुः सोऽतिथिः नैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्य अर्थपतेः राज्ञः सुतायां निषधात् निषधाख्यात् नगेन्द्रात् पर्व्वतादनूनसारम् अन्यूनबलं पुत्रम् उत्पादयामास, यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ॥ १ ॥

तेनेति । उरुवीर्य्येण अतिपराक्रमेण अतएव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन तेन यूना निषधेन पिता अतिथिः, सुवृष्टियोगात् सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन शस्येन जीवलोक इव, ननन्द जहर्ष ॥ २ ॥

कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैः
द्यामर्ज्जितां कर्म्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥
पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः
ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः
पुरार्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥
तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते
वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः ।
यो नड्वलानीव गजः परेषां
बलान्यमृद्नान्नलिनाभवक्त्रः ॥ ५ ॥
नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे
नभस्तलश्यामतनुं तनूजम् ।

शब्दादीति । कुमुद्वत्याः अपत्यं पुमान् कौमुद्वतेयः अतिथिः शब्दादि शब्दस्पर्शादि सुखं सुखसाधनं विषयवर्गं निर्विश्योपभुज्य चिराय तस्मिन् निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठापितराजशब्दः दत्तराज्यः सन् कुमुदावदातै र्निर्म्मलैः कर्म्मभि रश्वमेधादिभिः अर्ज्जितां द्यां स्वर्गमारुरोह ॥ ३ ॥

पौत्र इति । कुशेशयाक्षः शतपत्रलोचनः । शतपत्रं कुशेशयमित्यमरः । सागरधीरचेताः समुद्रगम्भीरचित्तः एकवीरोऽसहायशूरः पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः । तद्विष्कम्भेऽर्गलं न नेत्यमरः । तद्वद्दीर्घभुजः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससागराम् एकातपत्रां भुवं बुभोज पालयामास । भुजोऽनवनइत्युक्तेः परस्मैपदम् ॥ ४ ॥

तस्येति । अनलौजाः नलाभिधानो नलाख्यः तस्य निषधस्य तनयः तस्य निषधस्यान्तेऽवसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप । नलिनाभवक्त्रो यो नलः, गजो नड्वलानि नड़प्रायस्थलानीव । नड़शादात् ड्वलजिति ड्वलच् प्रत्ययः । परेषां बलानि अमृद्नात् ममर्द्द ॥ ५ ॥

नभ इति । नभश्चरै र्गन्धर्वादिभिः गीतयशाः स नलः नभस्तलश्यामतनुं

ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना
कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम् ॥ ६ ॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोशलानां
धर्म्मोत्तरस्तत् प्रभवे प्रभुत्वम् ।
मृगैरजर्य्यं जरसोपदिष्टम्
अदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध ॥ ७ ॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको
राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः ।
शान्ते पितर्य्याहृतपुण्डरीका
यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा
पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम् ।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं
वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

नभःशब्दमयेन नाम्ना ख्यातं नभःशब्दसंज्ञकमित्यर्थः, नभोमासमिव श्रावणमासमिव प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्त्रं लेभे ॥ ६ ॥

तस्मा इति । धर्म्मोत्तरो धर्म्मप्रधानो नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे तत् उत्तरकोशलानां प्रभुत्वम् आधिपत्यं विसृज्य दत्त्वा जरसा जरया उपदिष्टं वार्द्धके चिकीर्षितमित्यर्थः मृगैरजर्य्यं तैः सह सङ्गतम् । अजर्य्यं सङ्गतमिति निपातः । पुनरदेहबन्धाय पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध मोक्षार्थं वनं गतइत्यर्थः । अदेहबन्धायेत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि नञ्समासइष्यते ॥ ७ ॥

तेनेति । तेन नभसा, द्विपानां पुण्डरीको दिग्गजविशेषइव, राज्ञामजय्यो जेतुमशक्यः । क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे इति निपातः । पुण्डरीकः पुण्डरीकाख्यः पुत्त्रोऽजनि जनितः, पितरि शान्ते स्वर्गते सति आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीः यं पुण्डरीकं पुण्डरीकाक्षं विष्णुमिव श्रिता ॥ ८ ॥

स इति । अमोघं धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा । धनुषश्चेत्यनङादेशः समासान्तः। स पुण्डरीकः प्रजानां क्षेमविधानदक्षं क्षमयोपपन्नं क्षान्तियुक्तं क्षेमं धनुर्यस्य तं

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी
तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत् ।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं
देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

पिता समाराधनतत्परेण
पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन ।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन
स तेन पित्रा पितृमान् बभूव ॥ ११ ॥

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढाम्
आत्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां
जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्
स्वेषामिवासीत् द्विषतामपीष्टः ।

क्षेमधन्वानं नाम पुत्रम् । वा संज्ञायामित्यनङादेशः । क्षमां लम्भयित्वा प्रापय्य ॥ लभेर्गत्यर्थत्वात् द्विकर्म्मकत्वम् । क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णुः सन् वने तपश्चचार ॥९॥

अनीकिकीनामिति । तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरे अनीकिनीनां चमूनाम् अग्रयायी देवप्रतिमः इन्द्रादिकल्पः सुतोऽभूत् । अनीकपदावसानम् अनीकशब्दान्तं देवादि देवशब्दपूर्व्वं यस्य नाम देवानीक इति नामधेयं त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ॥ १० ॥

पितेति । स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव स पुत्रो देवानीकः आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान् बभूव । लोके पितृत्वपुत्रत्वयोः फलमनयोरेवासीदित्यर्थः ॥ ११ ॥

पूर्व्व इति । गुणानामेकनिधिः यज्वा विधिवदिष्टवान् तयोः पितृपुत्रयोर्मध्ये पूर्व्वः पिता क्षेमधन्वा आत्मसमे स्वतुल्ये आत्मोद्भवे पुत्रे देवानीके चिरोढां चिरधृतां वर्णचतुष्टयस्य धुरं रक्षाभारं निधाय यजमानलोकं यष्टृलोकं नाकं जगाम ॥ १२ ॥

सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं
माधुर्य्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥
अहीनगुर्नाम स गां समग्राम्
अहीनबाहुद्रविणः शशास।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वात्
युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥
गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः
पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भि-
श्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥
तस्मिन् प्रयाते परलोकयात्रां
जेतर्य्यरीणां तनयं तदीयम्।

वशीति। तस्य देवानीकस्य वशी समर्थः सुतः अहीनगुर्नामेति वक्ष्यमाणनामकः वशं वशकरं मधुरं वदतीति वशंवदः। प्रियवशे वदः खजिति खच् प्रत्ययः। तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् दुष्टवादित्वात् स्वेषामिव द्विषतामपि दुष्टः प्रिय आसीत्। तथाहि, प्रयुक्तमुच्चारितं माधुर्य्यं सकृदेकवारं विविग्नान् भीतानपि हरिणान् ग्रहीतुं वशीकर्त्तुम् ईष्टे शक्नोति ॥ १३ ॥

अहीनगुरिति। अहीनबाहुद्रविणः समग्रभुजपराक्रमः। द्रविणं काञ्चनं वित्तं द्रविणञ्च पराक्रम इति विश्वः। हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वात् नीचसंसर्गविमुखत्वाद्धेतोः युवापि अनर्थैरनर्थकरैर्व्यसनैः पानद्यूतादिभिर्विहीनो रहितो यः अहीनगुर्नाम, स पूर्वोक्तदेवानीकसुतः समग्रां सर्व्वां गां भुवं शशास ॥ १४ ॥

गुरोरिति। पुंसामन्तरज्ञो विशेषज्ञः चतुरो निपुणः सोऽहीनगुस्स गुरोः पितुरनन्तरम्, अवतीर्णो भुवं प्राप्त आद्यः पुमान् विष्णुरिव, अस्खलितैरप्रतिहतैश्चतुर्भिरुपक्रमैः सामाद्युपायैः। सामादिभिरुपक्रमैरिति मनुः। चतुर्दिगीशः चतसृणां दिशामीशो बभूव ॥ १५ ॥

तस्मिन्निति। अरीणां जेतरि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते

उच्चैःशिरस्त्वाज्जितपारियात्रं
लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥ १६ ॥
तस्याभवत् सूनुरुदारशीलः
शिलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः
शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥
तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा
कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि
वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥
तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव
भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।

सति उच्चैःशिरस्त्वादुन्नतशिरस्त्वात् जितः पारियात्रः कुलशैलविशेषो येन तं पारियात्रं पारियात्राख्यं तदीयं तनयं लक्ष्मीः राज्यलक्ष्मीः सिषेवे किल ॥ १६ ॥

तस्येति । तस्य पारियात्रस्य उदारशीलो महावृत्तः । शीलं स्वभावे सद्वृत्ते इत्यमरः । शिलापट्टविशालवक्षाः शिलः शिलाख्यः सूनुरभवत् । यः सूनुः शिलीमुखैः वाणैः । अलिवाणौ शिलीमुखावित्यमरः । जितारिपक्षोऽपि ईड्यमानः स्तूयमानः सन् शालीनताम् अधृष्टताम् लज्जामव्रजत् अगच्छत् । स्यादधृष्टे तु शालीन इत्यमरः । शालीनकौपीने इति निपातः ॥ १७ ॥

तमिति । अनिन्दितात्मा अगर्हितस्वभावः स पारियात्रः आत्मसम्पन्नं बुद्धिसम्पन्नम् । आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म चेत्युभयत्राप्यमरः । युवानं तं शिलं युवराजं कृत्वैव सुखान्यभुङ्क्त, नत्वकृत्वेत्येवकारार्थः । किमर्थं युवराजकरणमित्याशङ्क्य, अन्यथा सुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह सुखोपरोधीति । हि यस्माद्राज्ञां वृत्तं प्रजापालनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात् सुखप्रतिबन्धकम् अतएवोपरुद्धवृत्तम् कारादिबद्धसदृशमित्यर्थः । उपरुद्धस्य स्वयमूढभारस्य च सुखं नास्तीति भावः ॥ १८ ॥

तमिति । रागं बध्नन्तीति रागबन्धिनः रागप्रवर्त्तका इत्यर्थः तेषु भोगेषु

विलासिनीनामरतिक्षमापि
जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥ १६ ॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः
तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत् पङ्कजनाभकल्पः
कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ २० ॥

ततःपरं वज्रधरप्रभाव-
स्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः
पतिः पृथिव्याः किल वज्रनाभः ॥ २१ ॥

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां
तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता ।

विषयेषु अविष्टम्भमेव सन्तं किञ्च विलासिनीनां भोक्त्रीनां सौभाग्यविशेषेण सौन्दर्य्यातिशयेन हेतुना भोग्यं भोगार्हम् । चजोः कु घिण्ण्यतोरिति कुत्वम् । तं पारियात्रं रतिक्षमा न भवतीत्यरतिक्षमापि अतएव वृथा मत्सरिणी रतिक्षमासु विलासिनीष्वित्यर्थः जरा जहार वशीचकार ॥ १६ ॥

उन्नाभ इति । तस्य शिलाख्यस्य उन्नाभ इति उद्गतनामधेयः प्रसिद्धनामा अयथार्थं यथा तथा उन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य स गम्भीरनाभिरित्यर्थः । तदुक्तम्, स्वरः सत्वञ्च नाभिश्च गाम्भीर्य्यं त्रिषु शस्यते । पङ्कजनाभकल्पः विष्णुसदृशः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः प्रधानम् । नाभिः प्रधाने कस्तूरीमदेऽपि क्वचिदीरित इति विश्वः । सुतोऽभवत् । अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्न इत्यत्राजिति योगविभागा-दुन्नाभपद्मनाभादयः सिद्धाः ॥ २० ॥

तत इति । ततः परं वज्रधरप्रभावः इन्द्रतेजाः संयति संग्रामे वज्रघोषः अशनितुल्यध्वनिः वज्रनाभो नाम तस्योन्नाभस्यात्मजः वज्राणां हीरकाणामाकराः खनयएव भूषणानि यस्याः तस्याः पृथिव्याः पतिर्बभूव किल ॥ २१ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन् वज्रनाभे सुकृतोपलब्धां धर्म्मार्ज्जितां द्यां स्वर्गं गते सति, उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रुं शङ्खणं नाम तत्सम्भवं तदात्मजम् अर्णवान्ता

उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे
रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥
तस्यावसाने हरिदश्वधामा
पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं
पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥
आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण
तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां
विश्वम्भरामात्मजमूर्त्तिरात्मा ॥ २४ ॥
अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते
हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां
हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥

वसुधा खनिभ्यः आकरेभ्यः उदितैरुत्पन्नैः रत्नोपहारैः उत्कृष्टवस्तुसमर्पणैः उपतस्थे सिषेवे । जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयत इति भरतविश्वौ ॥२२॥

तस्येति । तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्य्यतेजाः अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दरः तत्पुत्र इति शेषः पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात् पित्र्यं पदं प्रपेदे । वेलातटेषु उषिताः निविष्टाः सैनिकाः अश्वाश्च यस्य तम् अन्वर्थनामानमित्यर्थः यं पुत्रं पुराविदो वृद्धाः व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

आराध्येति । तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीप्रतिम् आराध्योपास्य विश्वसहो नाम विश्वसखः समग्रां सर्वां विश्वम्भरां भुवं पातुं रक्षितुं सहत इति सहः क्षमः । पचाद्यच् । आत्मजमूर्त्तिः पुत्ररूपी आत्मा स्वयमेव । आत्मा वै पुत्रनामासीति श्रुतेः । विजज्ञे सुषुवे । विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्त्तते । यथाह भगवान् पाणिनिः, स मां विजायते इति ॥ २४ ॥

अंश इति । नयज्ञो नीतिज्ञः स विश्वसहः हिरण्याक्षरिपोः विष्णोरंशे

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते
वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं
कृत्वा कृती वल्कलवान् बभूव ॥ २६ ॥

कौशल्य इत्युत्तरकोशलानां
पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभूत्
नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः
स ब्रह्मभूयं गतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे
ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥

हिरण्यनाभे नाम्नि तनये जाते सति, तरूणां सानिलो हिरण्यरेता हुतभुगिव, द्विषां सुतरामसह्योऽभूत् ॥ २५ ॥

पितेति । पितॄणामनृणः निवृत्तपितृऋण इत्यर्थः । प्रजया पितृभ्य इति श्रुतेः । अत एव कृती कृतकृत्य इत्यर्थः पिता विश्वसहः अन्ते वयसि वार्द्धके अनन्तानि अविनाशानि सुखानि लिप्सुः मुमुक्षुरित्यर्थः आजानुविलम्बिबाहुं दीर्घबाहुं भाग्यसम्पन्नमिति भावः तं हिरण्यनाभं राजानं कृत्वा वल्कलवान् बभूव वनं गत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

कौशल्य इति । उत्तरकोशलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सूर्यवंशाभरणस्य सोमसुतः सोमं सुतवतः यज्वन इत्यर्थः । सोमे सुञ इति क्विप् । तस्य हिरण्यनाभस्य, द्वितीयः सोमश्चन्द्र इव नेत्रोत्सवो नयनानन्दकरः कौशल्य इति प्रसिद्धः औरसः धर्मपत्नीजः सुतोऽभूत् ॥ २७ ॥

यशोभिरिति । आ ब्रह्मसभायाः आब्रह्मसभं ब्रह्मसदनपर्य्यन्तम् । अभिविधावव्ययीभावः । यशोभिः प्रकाशः प्रसिद्धः स कौशल्यः अतिशयेन ब्रह्मवन्तं ब्रह्मिष्ठं ब्रह्मविदमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दान्मतुवन्तादिष्ठन् प्रत्यये विन्मतोर्लुगिति मतुपो लुक्, नस्तद्धित इति टिलोपः । ब्रह्मिष्ठाख्यं स्वतनुप्रसूतं स्वात्मजमेव

तस्मिन् कुलापीड़निभे विपीडं
सम्यग्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे
ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन
स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः
पुत्रः समारोपयदग्रसङ्ख्याम् ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन
सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्ये आधाय निधाय ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं तदेव गतिः ताम् आजगाम मुक्तोऽभूदित्यर्थः । स्याद्ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वमित्यमरः । भुवो भावे क्यप् ॥ २८ ॥

तस्मिन्निति । कुलापीड़निभे कुलशेखरतुल्ये । शिखास्वापीड़शेखरा वित्यमरः । सुप्रजसि सत्सन्तानवति । नित्यमसिच् प्रजामेधयोरित्यसिच्प्रत्ययः । तस्मिन् प्रजेशे अतिथौ शासनाङ्कां शासनचिह्नां महीं विपीड़ं निर्बाधं यथा तथा सम्यक् शासति सति आनन्दजलाविलाक्ष्यः आनन्दवाष्पाकुलनेत्राः प्रजा श्चिरं ननन्दुः ॥ २९ ॥

पात्रीकृतेति । गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा । योग्यभाजनयोः पात्रमित्यमरः । पत्ररथेन्द्रकेतोर्गरुड़ध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः तत्सरूप इत्यर्थः । आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपीति विश्वः । पुष्करपत्रनेत्रः पद्मदलाक्षः पुत्रः पुत्राख्यो राजा, यद्वा पुत्रशब्द आवर्त्तनीयः पुत्रः पुत्राख्यः पुत्रः सुतः, तं अतिथिं पुत्रिणाम् अग्रसंख्यां समारोपयत् अग्रगण्यं चकारेत्यर्थः ॥ ३० ॥

वंशेति । स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः विषयाः तेभ्यो निवृत्तलौल्यः निवृत्ततृष्णः अतएव मघोनः इन्द्रस्य सखा मित्रं भावी भविष्यन् स्वर्गं जिगमिषुरित्यर्थः स अतिथिो वंशकरेण वंशप्रवर्त्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां सम्भाव्य सम्पाद्य

उपस्पृशन् स्पर्शनिवृत्तलौल्यः
त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ २१ ॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं
पौष्यान्तिथौ पुष्यमसूत पत्नी।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां
पुष्टिं जनाः पुष्यइव द्वितीये ॥ २२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्य्य सूनौ
मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात् सयोगादधिगम्य योगम्
अजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ २३ ॥

ततःपरं तत्प्रभवः प्रपेदे
ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्व्वीम्।

त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु। दिक्संख्ये संज्ञायामिति समासः। उपस्पृशन् स्नानं कुर्व्वन् त्रिदशत्वं देवभूयमाप ॥ २१ ॥

तस्येति। तस्य पुत्राख्यस्य पत्नी पौष्यां पुष्यनक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्यांतिथौ। पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषीत्यमरः। नक्षत्रेण युक्तः काल इत्यण् प्रत्ययः, टिड्ढाणञिति ङीप्। प्रभया निर्जितः पुष्परागो मणिविशेषो येन तं पुष्यं पुष्याख्यम् असूत। द्वितीये पुष्ये पुष्यनक्षत्रे इव तस्मिन्नुदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं वृद्धिम् अपुष्यन् ॥ २२ ॥

महीमिति। महेच्छो महाशयः। महेच्छस्तु महाशयइत्यमरः। जन्मभीरुः संसारभीरुः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य्य विसृज्य मनीषिणे ब्रह्मविद्याविदुषे जैमिनये अर्पितात्मा शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः सयोगाद्योगिनः तस्मात् जैमिने र्योगं योगविद्यामधिगम्य अजन्मने जन्मनिवृत्तये मोक्षाय अकल्पत समपद्यत। क्लृपेः सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या। मुक्तइत्यर्थः ॥ २३ ॥

तत इति। ततः परं, स पुष्यः प्रभवः कारणं यस्य स तत्प्रभवः तदात्मज-इत्यर्थः ध्रुवेणौत्तानपादिना उपमेयः। ध्रुव औत्तानपादिः स्यादित्यमरः। ध्रुवसन्धिः उर्व्वीं प्रपेदे। ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसन्धे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन् ध्रुवसन्धौ सम-

यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे
सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये
दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः ।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी
सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः ॥ ३५ ॥

स्वर्गामिणस्तस्य तमैकमत्यात्
अमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम् ।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य
साकेतनाथं विधिवच्चकार ॥ ३६ ॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं
शावैकसिंहेन च काननेन ।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण
तोयेन चाप्रौढ़नरेन्द्रमासीत् ॥ ३७ ॥

मतामनुद्धतानामित्यर्थः अरीणां सन्धिः ध्रुवः स्थिरोऽभूत् । ततः सार्थकनामेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

सुते इति । मृगायताक्षो नृसिंहः पुरुषश्रेष्ठः स ध्रुवसन्धिः दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगयाविहारी सन् सिंहात् विपदं मरणमवापत् । व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भावः ॥ ३५ ॥

स्वरिति । स्वर्गामिणः स्वर्यातस्य तस्य ध्रुवसन्धेः अमात्यवर्गः अनाथाः नाथहीनाः अतएव दीनाः शोच्याः प्रकृतीः प्रजाः अवेक्ष्य कुलतन्तुं कुलालम्बनं एकं अद्वितीयं तं सुदर्शनम् ऐकमत्यात् विधिवत् साकेतनाथम् अयोध्याधीश्वरं चकार ॥ ३६ ॥

नवेति । अप्रौढ़नरेन्द्रं तत् रघोः कुलं नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना, शावः शिशुरेकः सिंहो यस्मिन् । पृथुकः शावकः शिशुरित्यमरः । तेन काननेन च, कुड्मलं कुड्मलावस्थं पुष्करं पङ्कजं यस्मिन् तेन तोयेन च उपमेयमुपमातुमर्हम् आसीत् ! नवेन्द्वाद्युपमानेन तस्य वर्द्धिष्णुताशौर्य्यश्रीमत्त्वानि सूचितानि ॥३७॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः
सम्भावितो मौलिपरिग्रहात् सः ।
दृष्टो हि वृण्वन् कलभप्रमाणो-
ऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः ॥ ३८ ॥

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तम्
आधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्
प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य
सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा
तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥

लोकेनेति । स बालो मौलिपरिग्रहात् किरीटस्वीकाराद्धेतोः पितृस्तुल्यः पितुः स्वरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन सम्भावित स्तर्कितः । तथाहि, कलभप्रमाणः कलभमात्रोऽपि मेघः पुरोवातमवाप्य आशाः दिशो वृण्वन् गच्छन् दृष्टोहि ॥ ३८ ॥

तमिति । राजवीथ्यां राजमार्गे अधिहस्ति हस्तिनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यान्तं गच्छन्तं हस्तिनमारुह्य गच्छन्तमित्यर्थः आधोरणालम्बितं शिशुत्वात् सादिना गृहीतम् अग्र्यवेशं उदारनेपथ्य षड्वर्षाणि भूतः षड्वर्षः । तद्धितार्थेति समासः । तमधीष्टोभृतो भूतभावीत्यधिकारे चित्तवति नित्यमिति तद्धितस्य लुक् । ईषदसमाप्तः षड्वर्षः षड्वर्षदेशीयः । ईषदसमाप्ताविल्यादिना देशीय प्रत्ययः । तं षड्वर्षदेशीयमपि बालमपि त सुदर्शनं पौराः प्रभुत्वात् पितृगौरवेण प्रैक्षन्त पितरि यादृग्गौरवं तादृशेनैव ददृशुरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

काममिति । स सुदर्शनः पैतृकस्य सिंहासनस्य कामं सम्यक् प्रतिपूरणाय नाकल्पत बालत्वाद्व्याप्तुं न पर्याप्तइत्यर्थः । चामीकरपिञ्जरेण कनकगौरेण तेजोमहिम्ना पुनः तेजःसम्पदा तु आवृतात्मा विस्तारितदेहः सन् तत् सिंहासनं व्याप व्याप्तवान् ॥ ४० ॥

तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णा-
वसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूपतयः प्रसिद्धै-
र्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

मणौ महानील इति प्रभावात्
अल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या ।
शब्दो महाराज इति प्रतीतः
तथैव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेऽपि ॥ ४२ ॥

पर्य्यन्तसञ्चारितचामरस्य
कपोललोलोभयकाकपक्षात् ।
तस्याननादुच्चरितो विवादः
चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥ ४३ ॥

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे
न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः ।

तस्मादिति । तस्मात् सिंहासनादपादानादधः अधोदेशं प्रति किञ्चिदिवावतीर्णौ ईषल्लम्बौ तपनीयपीठं काञ्चनपीठम् असंस्पृशन्तौ अल्पकत्वादव्याप्तौ सालक्तकौ लाक्षारसावसिक्तौ अस्य सुदर्शनस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैरुन्नतैर्मौलिभिर्मुकुटैर्ववन्दिरे प्रणेमुः ॥ ४१ ॥

मणाविति । अल्पप्रमाणेऽपि मणौ इन्द्रनीले प्रभावात् तेजिष्ठत्वाद्धेतोः महानील इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न तथैव अर्भके शिशावपि तस्मिन् सुदर्शने प्रतीतः प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे ॥ ४२ ॥

पर्य्यन्तेति । पर्य्यन्तयोः पार्श्वयोः सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य तस्य बालस्य सम्बन्धिनः कपोलयोर्लोलौ उभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वचनम् अर्णवानां वेलास्वपि न चस्खाल शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः । चपलसंसर्गेऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः । उभयकाकपक्षादित्यत्र वृत्तिविषये उभयपुत्र इतिवदुभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगः इत्युक्तं प्राक् ॥ ४३ ॥

तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां
मुखानि स स्मेरमुखश्चकार ॥ ४४ ॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्यः
खेदं स यायादपि भूषणेन
नितान्तगुर्व्वीमपि सोऽनुभावात्
धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव ॥ ४५ ॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां
कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावत् श्रुतवृद्धयोगात्
फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥ ४६ ॥

उरस्यपर्य्याप्तनिवेशभागा
प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।

निर्वृत्तेति। निर्वृत्ता जाम्बूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन् कृतकनकपट्टबन्धे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेरमुखः स्मितमुखः स राजा अरिसुन्दरीणां मुखानि तेनैव तिलकेनैव शून्यानि चकार। अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः ॥ ४४ ॥

शिरीषेति। शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्य्यः कोमलाङ्ग इत्यर्थः अतएव स राजा भूषणेनापि खेदं श्रमं यायात् गच्छेत्, एवंभूतः स नितान्तगुर्व्वीमपि धरित्र्याः धुरं भुवो भारम् अनुभावात् सामर्थ्यात् बिभराम्बभूव बभार। भीह्री-भृहुवां श्लुवच्चेति विकल्पादाम् प्रत्ययः ॥ ४५ ॥

न्यस्तेति। अक्षरभूमिकायाम् अक्षरलेखनस्थले न्यस्ताक्षरां रचिताक्षरपङ्क्तिरेखान्यासां लिपिं पञ्चाशद्वर्णात्मिकां मातृकां कार्त्स्न्येन यावन्न गृह्णाति स सुदर्शनस्तावत् श्रुतवृद्धयोगात् विद्यावृद्धसंसर्गात् सर्व्वाणि दण्डनीते दण्ड-शास्त्रस्य फलानि उपायुङ्क्त अन्वभूत्। प्रागेव बद्धफलस्य तस्य पश्चादभ्यस्यमानं शास्त्रं संवादार्थमिवाभवदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

उरसीति। उरसि अपर्य्याप्तो निवेशभागो निवासावकाशो यस्याः सा अत-एव प्रौढीभविष्यन्तं वर्द्धिष्णुम् आगम् उदीक्षमाणा प्रौढ़वपुष्मान् भविष्यतीति प्रतीक्ष-

सञ्जातलज्जेव तमातपत्र-
च्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः ॥ ४७ ॥

अनस्नुवानेन युगोपमानम्
अबद्धमौर्व्वीकिणलाञ्छनेन ।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणापि चासीत्
रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः ॥ ४८ ॥

न केवलं गच्छति तस्य काले
ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः
प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥ ४९ ॥

स पूर्व्वजन्मान्तरदृष्टपाराः
स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।

माणा लक्ष्मीः सञ्जातलज्जेव साक्षादालिङ्गितुं लज्जितेव तं सुदर्शनम् आतपत्र-च्छायाच्छलेन उपजुगूह आलिलिङ्ग । छत्रच्छाया लक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः । प्रौढ़ाङ्गनायाः प्रौढ़पुरुषालाभे लज्जा भवतीति ध्वनिः ॥ ४७ ॥

अनस्नुवानेनेति । युगोपमानं युगसादृश्यं अनस्नुवानेन प्राप्नुवता अबद्धो मौर्व्वीकिणो ज्याघातग्रन्थिरेव लाञ्छनं यस्य तेन अस्पृष्टः खड्गत्सरुः खड्गमुष्टिर्येन तेन । त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यादित्यमरः । एवंविधेनापि च तस्य सुदर्शनस्य भुजेन भूमिः रक्षावती आसीत् । शिशोरपि तस्य तेजस्तादृगित्यर्थः ॥ ४८ ॥

नेति । काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रकारं न ययुः, किन्तु वंशे भवाः वंश्याः लोककान्ताः जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्माः तस्य गुणाः शौर्य्यौदार्य्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

स इति । स सुदर्शनः पूर्व्वस्मिन् जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपाराः स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकरः सन् त्रयाणां धर्म्मार्थकामानां वर्गं स्त्रिवर्गः तस्य अधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्याः त्रयीवार्त्तादण्डनीतीः पितृभ्याः पितृसम्बन्धिनीः प्रकृतीः प्रजास्त्र जग्राह आयत्तीचकार । अत्र कौटिल्यः । धर्म्माधर्म्मौ त्रय्याम् अर्था-नर्थौ वार्त्तायां नयानयौ दण्डनीत्यामिति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा कामसूत्र-

तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं
जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥ ५० ॥

व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्द्धम्
उन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा
व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रबालम् ।
अकृतकविधि सर्व्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।

मिति द्रष्टव्यम् । आन्वीक्षिक्या अनुपादानं त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाह कामन्दकः । त्रयी वार्त्ता दण्डनीति स्तिस्रो विद्या मनोर्मताः । त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मतेति ॥ ५० ॥

व्यूह्येति । अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमानः शिक्ष्यमाणः अतएवोत्तरार्द्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तार्य्य स्थितः उन्नद्धचूड़ः ऊर्द्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः अञ्चितमाकुञ्चितं सव्यं जानु यस्य सः आकर्णमाकृष्टं सबाणं धनुर्धन्व वा येन सः तथोक्तः सन् व्यरोचत अशोभत ॥ ५१ ॥

अथेति । अथ स सुदर्शनः वनितानां नेत्रै र्निर्वेशनीयं भोग्यं नेत्रप्रेयमित्यर्थः । निर्वेशो भृतिभोगयोरित्यमरः । मधु क्षौद्रम्, रागबन्धोऽनुरागसन्तानएव प्रबालः पल्लवो यस्य तत् मनसिजएव तरुः तस्य पुष्पं पुष्पभूतम्, अकृतकविधि अकृत्रिमसम्पादनं सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्व्वाङ्गीणम् । तत्सर्व्वादेरित्यादिना खप्रत्ययः । आकल्पजातमाभरणसमूहभूतम्, आद्यं विलसितपदं विलासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विशिष्टमधुपुष्पाकल्पजात विलासपदत्वेन यौवनस्य चतुर्धाकरणात् सविशेषणमालारूपकमेतत् ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतीति । दूतिभिः कन्यापरीक्षणार्थं प्रेषिताभिः सन्दर्शिताभ्यो दूति-

अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५२ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ
वंशानुक्रमो नाम अष्टादशः सर्गः ।

सन्दर्शिताभ्यः प्रतिकृतीनां तूलिकादिलिखितकन्याप्रतिमानां रचनाभ्यो विन्यासेभ्यः । पञ्चमी विभक्ते इति पञ्चमी । समधिकतररूपाः चित्रनिर्माणादपि रमणीयनिर्माणा इत्यर्थः पुत्रसन्तानकामैरमात्यैराहृता आनीताः राजकन्याः यूनस्तस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ श्रीश्च भूश्च ते अधिविविदुः अधिविन्ने चक्रुः आत्मना सपत्नीभावं चक्रुरित्यर्थः । कृतसापत्निकाध्यूढाधिविन्नेत्यमरः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायाम्
अष्टादशः सर्गः ॥

रघुवंशम्।

ऊनविंशः सर्गः।

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः
स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः
पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकाः
तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः
सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः
खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।

मनसो मम संसारबन्धमुच्छेत्तुमिच्छतः।
रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निविड़ायताम् ॥

अग्निवर्णमिति। श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानाम् अपश्चिमः प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि वार्द्धके स्वे पदे स्थाने अग्नितेजसं तनयम् अग्निवर्णमभिषिच्य नैमिषं नैमिषारण्यं शिश्रिये श्रितवान् ॥ १ ॥

तत्रेति। तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्घिकाः विहारवापीः अन्तरितभूमिभिः कुशैः तल्पं शय्याम् उटजेन पर्णशालया सौधवासं विस्मृतः विस्मृतवान् सः। कर्त्तरि क्तः। फले स्वर्गादिफले निःस्पृहः तपः सञ्चिकाय सञ्चितवान् ॥ २ ॥

लब्धेति। तत्सुतः सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णः लब्धपालनविधौ लब्धस्य राज्यस्य पालनकर्म्मणि खेदं नाप अक्लेशेनापालयदित्यर्थः। कुतः, हि यस्मात् भुजनिर्ज्जित-

भोक्तुमेव भुजनिर्ज्जितद्विषा
न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥
सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं
काश्चन स्वयमवर्त्तयत् समाः ।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतःपरं
स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥
कामिनीसहचरस्य कामिन-
स्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः
पूर्व्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥
इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः
सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन् दिवानिशं
न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

द्विषा गुरुणा पित्रा मेदिनी अस्याग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता प्रसाधयितुं न। प्रसाधनं कण्टकशोधनम्, अलङ्कृतिर्ध्वन्यते। तथाच, यथालङ्कृता युवतिः केवलमुपभुज्यते तद्वदिति भावः ॥ ३ ॥

स इति। अभिकः कामुकः। अनुकाभिकाभीकः कमितेति निपातः। कम्रः कामयिताभीकः कमनः कामनोऽभिक इत्यमरः। सोऽग्निवर्णः कुलोचितमधिकारं प्रजापालनं काश्चन समाः कतिचिद्वत्सरान् स्वयमवर्त्तयत् अकरोत्। अतःपरं सचिवेषु सन्निवेश्य निधाय स्त्रीविधेयं स्त्र्यधीनं नवं यौवनं यस्य सोऽभवत् स्त्र्यासक्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कामिनीति। कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य मृदङ्गनादिषु मृदङ्गनादवत्सु वेश्मसु अधिकर्द्धिः पूर्व्वादधिकसम्भारः उत्तर उत्सवः ऋद्धिमन्तं साधनसम्पन्नं पूर्व्वमुत्सवमपोहत् अपानुदत्। उत्तरमुत्तरमधिका तस्योत्सवपरम्परा वृत्तेत्यर्थः ॥५॥

इन्द्रियेति। इन्द्रियार्थपरिशून्यं शब्दादिविषयरहितम् एकमपि क्षणान्तरं

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां
दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना
केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः
कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातप-
स्पृष्टपङ्कजतुलाधिरोहणम् ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तन-
क्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः
स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

क्षणभेदं सोढुमक्षमोऽशक्तः सोऽग्निवर्णो दिवानिशमन्तरेव विहरन् समुत्सुकाः दर्शनाकाङ्क्षिणीः प्रजाः न व्यपेक्षत नापेक्षितवान् ॥ ६ ॥

गौरवादिति । जातु कदाचित् मन्त्रिणां गौरवात् गुरुत्वाद्धेतोः मन्त्रिवचनानुरोधादित्यर्थः प्रकृतिभिः प्रजाभिः काङ्क्षितं यदपि दर्शनं ददौ तत् गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन चरणमात्रेण कल्पितं सम्पादितं नतु मुखावलोकनप्रदानेनेत्यर्थः ॥ ७ ॥

तमिति । कोमलेन मृदुलेन आत्मनखानां रागेणारुण्येन रूषितं छुरितम् अतएव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कजं तस्य तुलां साम्यमधिरोहतीति तुलाधिरोहणं तं चरणम् अनुजीविनः कृतप्रणतयः कृतनमस्काराः सन्तो भेजिरे सिषेविरे ॥ ८ ॥

यौवनेति । विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णः यौवनेन हेतुना उन्नतानां विलासिनीस्तनानां क्षोभेणाघातेन लोलानि चञ्चलानि कमलानि यासां ताः तदम्बुभिः तासां दीर्घिकाणामम्बुभिः गूढान्यन्तरितानि मोहनगृहाणि सुरतभवनानि यासु ताश्च दीर्घिकाः व्यगाहत । स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनै-
र्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्
अर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः
पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः
पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥

सातिरेकमदकारणं रहः
तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं
सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥

तत्रेति । तत्र दीर्घिकासु अङ्गनाः सेकेन हृतं लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषां तैः रज्यतेऽनेनेति रागः रागद्रव्यं लाक्षादि रागस्य परिपाटलोऽङ्गगुणः । गुणे शुक्लादयः पुंसीत्यमरः । धौतो रागपरिपाटलो येषां ते तथोक्ता अधरा येषां तैः निवृत्तसाङ्कमिकरागैरित्यर्थः अतएव अर्पितप्रकृतकान्तिभिरभिव्यञ्जितस्वाभाविकरागैरित्यर्थः एवंभूतैर्मुखैः तमग्निवर्णम् अधिकं व्यलोभयन् प्रलोभितवत्यः ॥ १० ॥

घ्राणेति । प्रियासखः सोऽग्निवर्णः घ्राणकान्तेन घ्राणतर्पणेन मधुगन्धेन कर्षिणीः मनोहारिणीः रच्यन्त इति रचनाः पानभूमय एव रचनाः रचिताः पानभूमय इत्यर्थः, वासितासखः करिणीसहचरः । वासिता स्त्री-करिण्योश्चेत्यमरः । द्विपः पुष्पिताः कमलिनीरिव, अभ्यपद्यत अभिगतः ॥ ११ ॥

सातिरेकेति । अङ्गनाः रहो रहसि सातिरेकस्य सातिशयस्य मदस्य कारणं तेनाग्निवर्णेन दत्तं मुखासवम् अभिलेषुः, बकुलेन तुल्यदोहदस्तुल्याभिलाषः । अथ दोहदम् स्पृहेहा तृडित्यमरः । बकुलद्रुमस्याङ्गना-मद्यार्थित्वात्तुल्याभिलाषत्वम् । सोऽपि इच्छाकाङ्क्षा ताभिरङ्गनाभिरुपहृतं दत्तं मुखासवमपिबत् ॥ १२ ॥

अङ्कमङ्कपरिवर्त्तनोचिते
तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे।
वल्लकी स हृदयङ्गमस्वना
वल्गुवागपि च वामलोचना॥ १३॥

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती
लोलमाल्यवलयो हरन्मनः।
नर्त्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः
पार्श्ववर्त्तिषु गुरुष्वलज्जयत्॥ १४॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं
स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात्।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्
अत्यजीवदमरालकेश्वरौ॥ १५॥

अङ्कमिति। अङ्कपरिवर्त्तनोचिते उत्सङ्गविहारार्हे उभे तस्याग्निवर्णस्य अङ्कम् अशून्यतां पूर्णतां निन्यतुः। के उभे, हृदयङ्गमस्वना मनोहरध्वनि वल्लकी वीणा च वल्गुवाक् मधुरभाषिणी वामलोचना कामिन्यपि च। हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमः सुप्युपसंख्यानात् खच्प्रत्ययः। अङ्काधिरोपितयो वीणावामाक्ष्योर्वाद्यगीताभ्यामरंस्तेत्यर्थः॥ १३॥

स इति। कृती कुशलः स्वयं प्रहतपुष्करः वादितवाद्यमुखः लोलानि माल्यानि बलयानि च यस्य स तयोक्तः मनोहरन् नर्त्तकीनामिति शेषः सोऽग्निवर्णः अभिनयातिलङ्घिनीः अभिनयेषु स्खलन्तीरित्यर्थः नर्त्तकी विलासिनीः। शिल्पिनि ष्वुन् इति ष्वुन्प्रत्ययः, षिद्गौरादिभ्य इति ङीष्। नर्त्तकीलासिके समे इत्यमरः। गुरुषु नाट्याचार्य्येषु पार्श्ववर्त्तिषु समीपस्थेषु सत्स्वेव अलज्जयत् लज्जामगमयत्॥ १४॥

चार्विति। किञ्च, चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमान्नर्त्तनप्रयासात् स्वेदेन भिन्नतिलकं विशीर्णतिलकं तन्मुखं नर्त्तकीमुखं प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्त्तितमुखमारुतः पिबन् अमराणामलकायाश्च ईश्वरौ इन्द्रकुबेरौ अत्य-

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः
काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे
सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्ज्जनं
भ्रूविभङ्गकुटिलञ्च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं
वञ्चयन् प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा
पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं
विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

जीवत् अतिक्रम्याजीवत् ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थः । इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ॥ १५ ॥

तस्येति । उपसृत्य अन्यत्र गत्वा नवेषु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गिन आसक्तिमतः सतस्तस्य सावरणाः प्रच्छन्नाः दृष्टाः प्रकाशाश्च सन्धयः साधनानि येषु ते समागमाः सङ्गमाः वल्लभाभिः प्रेयसीभिः सामिभुक्तविषयाः अर्द्धोपभुक्तेन्द्रियार्था श्चक्रिरे । यथेष्टं भुक्तश्चेत्तर्हि अयं निस्पृहः सन् अस्मत्-समीपं नायास्यतीति भावः । अत्र गोनर्द्दीयः, सन्धिर्द्विविधः सावरणः प्रकाशश्च । सावरणो भिक्षुकादिना प्रकाशः स्वयमुपेत्येति । दूतः स्वयमुपसृत्य विशेषार्थं तत्र स्थितोऽनुपजापं स्वयं सन्धेय इति वात्स्यायनः । अन्यत्र गतं कथञ्चित्सन्धाय पुनरनुपगमायार्द्धोपभोगेन अनिष्टतत्पणं चक्रुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

अङ्गुलीति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीः वञ्चयन् अन्यत्र गच्छन् अङ्गुल्यः किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्ज्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्रं वीक्षितं वीक्षणञ्च असकृत् मेखलाभि र्बन्धनञ्च अवाप । अपराधिनो दण्ड्याः इति भावः ॥ १७ ॥

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीनां विदितं यथा तथा

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहा-
न्नर्त्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्त्तते स्म स कथञ्चिदालिख-
न्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्त्तिकः ॥ १९ ॥

प्रेमगर्व्वितविपक्षमत्सरा-
दायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं
देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना
दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्
सोऽदुनोत् प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनः विरहशङ्किनः प्रियस्यासौ जनस्य प्रियजनः तस्य कातरं वचः प्रियानयनेन मां पाहीत्येवमादि दीनवचनं शुश्रुवे ॥ १८ ॥

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहात् राज्ञीभिः समागमाद्धेतोः नर्त्तकीषु वेश्यासु असुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य अङ्गुल्योः क्षरणेन स्वेदनेन सन्नवर्त्तिको विगलितशलाकः सोऽग्निवर्णः तासां नर्त्तकीनां वपुरालिखन् कथञ्चिद्वर्त्तते स्म अवर्त्तत ॥ १९ ॥

प्रेमेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्व्विते विपक्षे सपत्नजने मत्सरात् वैरात् आयतात् प्रवृद्धात् मदनाच्च हेतोः देव्यो राज्ञ्यः उज्झितरुषस्त्यक्तरोषाः सत्यः तं महीक्षितम् उत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्म्मव्याजेन कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन स कृतार्थः तस्य भावस्तत्तां निन्युः । मदनमहोत्सवव्याजान्नीतेन तेन स्वमनोरथं कारया[illegible]सुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रातरिति । सोऽग्निवर्णः, प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना । इशेर्ण्यन्ताल्लुट् । कृता खण्डनव्यथा यासां तास्तथोक्ताः खण्डिता इत्यर्थः । तदुक्तं ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायितेति । प्रणयिनीः, प्राञ्जलिः प्रसादयन्

स्वप्नकीर्त्तितविपक्षमङ्गनाः
प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः
क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्त्तनैः ॥ २२ ॥

क्लृप्तपुष्पशयनान् लतागृहान्
एत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत् परिजनाङ्गनारतं
सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया
प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते
लोलुपं ननु मनो ममेति तं
गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः ॥ २४ ॥

तथापि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्त्तकीगतेन मन्थरः अलसः अत्र शिथिलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः पुनरदुनोत् पर्य्यतापयत् ॥ २१ ॥

स्वप्नेति । स्वप्ने कीर्त्तितो विपक्षः सपत्नजनो येन तं तमग्निवर्णम् अवदन्त्यएव त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तैः क्रोधेन भिन्नानि वलयानि येषु तै र्विवर्त्तनैः पराग्विलम्बनैः प्रत्यभैत्सुः प्रतिचक्रुः तिरश्चक्रु रित्यर्थः ॥ २२ ॥

क्लृप्तेति । सोऽग्निवर्णः दूतिभिः कृतमार्गदर्शनः सन् क्लृप्तपुष्पशयनान् लतागृहानेत्य अवरोधादन्तःपुरजनात् भयेन यो वेपथुः कम्पः तदुत्तरं तत्प्रधानं यथा तथा परिजनाङ्गनारतं दासीरतम् अन्वभूत् । परिजनश्चासावङ्गना चेति विग्रहः ॥ २३ ॥

नामेति । मया ते वल्लभजनस्य प्रियजनस्य नाम प्राप्य तन्नाम्ना आह्वानं लब्ध्वा तस्य त्वद्वल्लभजनस्य यद्भाग्यम्, तत्परिहासकारणमिति शेषः, तदपि काङ्क्ष्यते । ननु वत मम मनो लोलुपं गृध्नु इत्यनेन प्रकारेण गोत्रे नाम्नि विस्खलितं स्खलितवन्तं तमग्निवर्णमूचुः । गोत्रं नाम्नि कुलेऽचलइति यादवः । तन्नामलाभे सति तद्भाग्यमपि काङ्क्षिणो मनः अहो तृष्णेति सोल्लुण्ठमुपालम्भन्तेत्यर्थः ॥ २४ ॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं
छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम् ।
उत्थितस्य शयनं विलासिन-
स्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत् ॥ २५ ॥

स स्वयं चरणरागमादधे
योषितां नच तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकै-
र्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्त्तिताधरं
हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।

चूर्णेति । चूर्णबभ्रु चूर्णैः व्यानतकरणैरधोमुखावस्थितायाः स्त्रियाश्चिकुर-गलितैः कुङ्कुमादिभिः बभ्रु पिङ्गलम् । बभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिष्वित्यमरः । लुलित-स्रगाकुलं करिपदाख्यबन्धे स्त्रिया भूमिगतमस्तकतया पतिताभि र्लुलितस्रग्भि राकुलम्, छिन्नमेखलं हरिविक्रमकरणैः स्त्रियाः उच्छ्रितैकचरणत्वात् गलितमेख-लम्, अलक्तकाङ्कितं धेनुकबन्धे भूतलनिहितकान्ताचरणत्वात् लाक्षारागरूषितं शयनं कर्त्तृ उत्थितस्य शयनादिति भावः विलासिन स्तस्याग्निवर्णस्य विभ्रम-रतानि लीलारतानि सुरतबन्धविशेषानित्यर्थः अपावृणोत् स्फुटीचकार । व्यान-तादीनां लक्षणं रतिरहस्ये । व्यानतं रतमिदं प्रिया यदि स्यादधोमुखचतुष्पदा-कृतिः । तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद्वृषादिपशुसंस्थितस्थितिः ॥ भूगतस्त-नभुजास्यमस्तकामुन्नतां स्वयमधोमुखीं स्त्रियम् । क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदन्तदुच्यते ॥ योषिदेकचरणे समुत्थिते जायते हि हरिविक्रमाह्वयः ॥ न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढ़वल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधो-मुखी धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये इति ॥ २५ ॥

सइति । सोऽग्निवर्णः स्वयमेव योषितां चरणयोः रागं लाक्षारसम् आदधे अर्पयामास । किन्तु श्लथांशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः नितम्बिभिर्नितम्बवद्भिः मेखलागुणपदैर्जघनैः । पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुर इत्यमरः । लोभ्यमाननयनः आकृष्यमाणदृष्टिः सन् तथा समाहितोऽवहितो नादधे यथा-सम्यग्रागरचना स्यादिति भावः ॥२६॥

विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्व्वतो
मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः
नर्म्मपूर्व्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधू-
र्ह्रीनिमीलितमुखी चकार सः ॥ २८ ॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं
न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियाः
तं निशात्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ २९ ॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो
राजवेषमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा
व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्त्तिताधरं परिहृतोष्ठं रशनाविघट्टने ग्रन्थिविस्रंसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयतीति हस्तरोधि इत्यं सर्व्वतः सर्व्वत्र विघ्नितेच्छं प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रतं सुरतं तस्याग्निवर्णस्य मन्मथेन्धनं कामोद्दीपनमभूत् ॥२७॥

दर्पणेष्विति । सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगचिह्नानि पश्यन्तीः वधूः नर्मपूर्वं परिहासपूर्वम् अनुपृष्ठं तासां पृष्ठभागे संस्थितः सन् स्मितेन मनोज्ञया छायया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन ह्रीनिमीलितमुखीर्लज्जावनतमुखीः चकार, तमागतं दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

कण्ठेति । प्रियाः शयनादुत्थितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पितं मृदुबाहुबन्धनं यस्मिंस्तत् अग्रपादयोः स्वकीययोर्न्यस्ते पादतले यस्मिंस्तत् निशात्यये विसर्गो विसृज्यगमनं तत्र यच्चुम्बनं तत्प्रार्थयन्त । दुह्याचित्यादिना द्विकर्म्मकत्वम् । अत्र गोनर्दीयः, रतावसाने यदि चुम्बनादि प्रयुज्य यायान्मदनोऽस्य वास इति ॥ २९ ॥

प्रेक्ष्येति । युवा सोऽग्निवर्णः अतिशक्रं यथा तथा शोभमानम् अतिशक्र-

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः
प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
विद्म हे शठ पलायनच्छला-
न्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः
कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत वृहद्भुजान्तरं
पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥ ३२ ॥

सङ्गमाय निशि गूढ़चारिणं
चारदूतिकथितं पुरोगताः ।

शोभिनं दर्पणतलस्थं दर्पणसंक्रान्तम् आत्मनो राजवेषं प्रेच्य तथा न पिप्रिये न तुतोष यथा व्यक्तलक्ष्म प्रकटचिह्नं परिभोगमण्डनं प्रेच्य पिप्रिये ॥ ३० ॥

मित्रेति । मित्रकृत्यं सुहृत्कार्य्यम् अपदिश्य व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितम् अन्यतो गन्तुमुद्युक्तम् अनवस्थितमवस्थातुमक्षमं तमग्निवर्णं प्रियाः हे शठ हे गूढ़विप्रियकारिन्! गूढ़विप्रियकृच्छठ इति दशरूपके । तव पलायनस्य छलानि अञ्जसा तत्त्वतः । तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयमित्यमरः । विद्म जानीम । विदोलटो वेति वैकल्पिक मादेशः । इति उक्त्वेति शेषः कचग्रहैः केशाकर्षणैः रुरुधुः । अत्र गोनर्दीयः, ऋतुस्नाताभिगमने मित्रकार्य्यं तथापदि । त्विष्वेतेषु प्रियतमः चन्तव्य इति अञ्जसा । विरक्तलक्षणप्रस्तावे वात्स्यायनः । मित्रकृत्यञ्चापदिश्यान्यत्र शेत इति ॥ ३१ ॥

तस्येति । निर्दयरतिश्रमेण अलसा निश्चेष्टाः योषितः कण्ठसूत्रम् आलिङ्गन-विशेषम् अपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्यां विलुप्तचन्दनं प्रम्टष्टाङ्गरागं तस्याग्नि-वर्णस्य वृहद्भुजान्तरम् अध्यशेरत वक्षःस्थले शेरते स्म । कण्ठसूत्रलक्षणन्तु याः कुर्व्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निविड़ोपगूहात् । परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धा-स्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्तः । इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम् । तथाच, उरसि च प्रियमुच्चैरालिङ्गति वराङ्गी स्तनयुगमुपधत्ते स्तनालिङ्गनन्तदिति वदन्ति ॥ ३२ ॥

सङ्गमायेति । सङ्गमाय सुरतार्थं निशि गूढ़म् अज्ञातं चरति इष्टस्टहं प्रति

वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः
कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः ॥ ३३ ॥
योषितामुडुपतेरिवार्चिषां
स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन् ।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां
रात्रिजागरपरो दिवाशयः ॥ ३४ ॥
वेणुना दशनपीड़िताधरा:
वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य्य उभयेन वेजिता-
स्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥
अङ्गसत्ववचनाश्रयं मिथः
स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।

गच्छतीति गूढ़चारी तं चारदूतिकथितं चरन्तीति चाराः गूढ़चारिण्यः, ज्वलिति कसन्तेभ्योण इति णप्रत्ययः । चाराश्च ताः दूतयश्च चारदूतयः ताभिः कथितं निवेदितं तमग्निवर्णम् अङ्गनाः पुरोऽग्रे गताः अवरुद्धमार्गाः सत्य इत्यर्थः हे कामुक तमसा वृतो गूढ़ः सन् कुतो वञ्चयिष्यति इति उपालभ्येति शेषः चकृषुः स्ववासं निन्युरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

योषितामिति । उडुपतेरिन्दोरर्चिषां भासामिव । ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्चिरित्यमरः । योषितां स्पर्शनिर्वृतिं स्पर्शसुखमवाप्नुवन् किञ्च रात्रिषु जागरपरः दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः । अधिकरणे शेतेरित्यच् प्रत्ययः । असावग्निवर्णः कुमुदाकरस्य उपमां साम्यमारुरोह प्राप ॥ २४ ॥

वेणुनेति । दशनैः पीड़िताधराः दष्टोष्ठाः नखपदैः नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नितोर्वङ्गाः क्षणिताधरोरुत्वादक्षमा इत्यर्थः तथापि वेणुना वीणया चेत्युभयेन अधरोरुपीड़ाकारिणेत्यर्थः वेजिताः पीड़िताः शिल्पं वेणुवीणावाद्यादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्य्यो गायिकाः । कर्म्मण्यस्त्यिण् टिड्ढाणजिति ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलदृष्टयः सत्यः स्वं चेष्टितं जानन्नपि वृथा नः पीड़यतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः व्यलोभयन् । तथाविधालोकनमपि तस्याकर्षकमेवाभूदिति भावः ॥ ३५ ॥

स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः
सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥ ३६ ॥
अंसलम्बिकुटजार्ज्जुनस्रज-
स्तस्य नीपरजसाङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्
कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥
विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीः
नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवा-
स्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ ३८ ॥
कार्त्तिकीषु सवितानहर्म्यभाक्
यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।

अङ्गेति । अङ्गं हस्तादि सत्वमन्तःकरणं वचनं गेयञ्च आश्रयः कारणं यस्य तदङ्गसत्ववचनाश्रयम् आङ्गिकसात्विकवाचिकरूपेण त्रिविधमित्यर्थः । यथाह भरतः, सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्वज इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु नर्त्तकीषु उपधाय निधाय दर्शयन् सः मित्रसन्निधौ सहचरसमक्षं प्रयोगे अभिनये निपुणैः कृतिभिः प्रयोक्तृभिः अभिनयार्थप्रकाशकैः नाट्याचार्य्यैः सह सञ्जघर्ष सङ्घर्षं कृतवान् । सङ्घर्षः पराभिभवेच्छा ॥ ३६ ॥

इतः प्रभृति तस्य कृत्रिमाद्रिषु विरचितविहारप्रकारमाह

अंसेति । प्रावृषि अंसलम्बिन्यः कुटजानामर्ज्जुनानाञ्च स्रजो यस्य तस्य नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसा अङ्गरागिणोऽङ्गरागवत स्तस्याग्निवर्णस्य प्रमदबर्हिणेषून्मत्तमयूरेषु विहारएव कृत्रिमाद्रिषु विभ्रमो विलासः अभूत् ॥ ३७ ॥

विग्रहादिति । प्रावृषीत्यनुषज्यते, सोऽग्निवर्णः विग्रहात् प्रणयकलहात् शयने पराङ्मुखीरबलाः अनुनेतुं न तत्वरे त्वरितवान्, किन्तु घनशब्देन घनगर्ज्जितेन विक्लवाश्चकिताः अतएव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः प्रविशन्तीः । आच्छीनद्योर्नुमिति नुम् विकल्पः । ताः अबलाः आचकाङ्क्ष, स्वयंग्रहादेव साम्मुख्यमैच्छदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां
मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥
सैकतञ्च सरयूं विवृण्वतीं
श्रोणिविम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं
सौधजालविवरै र्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥
मर्म्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः
व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं
हैमनै र्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥
अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो
गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।

कार्त्तिकीष्विति । कार्त्तिकस्येमाः कार्त्तिक्यः । तस्येदमित्यण् । तासु यामिनीषु निशासु शरद्रात्रिष्वित्यर्थः सवितानानि उपरिवस्त्रावृतानि हर्म्याणि भजतीति सवितानहर्म्यभाक् । भजेर्ण्विप्रत्ययः । हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम् । ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्णः सुरतश्रमापहां मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम् । नञ्जलग्रहणात् सविशेषण समासः । चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

सैकतमिति । किञ्च, हंसाएव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिनं श्रोणिविम्बमिव विवृण्वतीम् अतएव स्वप्रियाविलसितानि अनुकरोतीति तद्विधां सरयूं सौधस्य जालानि गवाक्षा स्तएव विवराणि तै र्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

मर्म्मरैरिति । मर्म्मरैः संस्कारविशेषाच्छब्दायमानैः । अथ मर्म्मरः स्वनिते वस्त्रपर्णानामित्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिः व्यक्तहेमरशनैः लौल्याल्लक्ष्यमाणकनकमेखलागुणैः हैमनैर्हेमन्ते भवैः सर्वत्राण्च तलोपश्चेति हेमन्तशब्दादण्प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैरंशुकैः सुमध्यमाः स्त्रियः एकतो नितम्बैकदेशे आग्रथनमोक्षयोर्नीवीबन्ध विस्रंसनयोर्लोलुपसासक्तं तं जह्रुराचकृषुः ॥ ४१ ॥

अर्पितेति । निवाताः वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहान्तर्गृहेषु अर्पिताः दत्ताः स्तिमिताः निवातत्वान्निश्चला दीपाएव दृष्टयो

तस्य सर्व्वसुरतान्तरक्षमाः
साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥
दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं
प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहाः
तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥
ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया
प्रेङ्खयन् परिजनापविद्धया ।
मुक्तरज्जु निविडं भयच्छलात्
कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥
तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैः
मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः ।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे
श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

याभिस्ताः । अत्रानिमिषदृष्टित्वञ्च गम्यते । सर्व्वसुरतान्तरक्षमाः तापखेदापनोदनत्वाद्दीर्घकालत्वाच्च सर्व्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः क्रियार्हाः शिशिररात्रयः तस्याग्निवर्णस्य साक्षितां ययुः । विविक्तकालदेशत्वाद्यथेच्छं विजहारेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

दक्षिणेनेति । अङ्गनाः दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन सम्भृतं जनितं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्य अवधूतविग्रहा स्त्यक्तविरोधाः सत्यः दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तम् अन्वनैषुः तद्विरहमसहमानाः स्वयमेवानुनीतवत्यइत्यर्थः ॥ ४३ ॥

तादृति । ताः अङ्गनाः स्वमङ्कं स्वकीयमुत्सङ्गम् अधिरोप्य परिजनेनापविद्धया संप्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथातथा प्रेङ्खयन् चालयन् भयच्छलात् पतनभयमिषात् बाहुभिर्भुजैः निविड़ं कण्ठबन्धनम् अवाप प्राप स्वयंग्रहाश्लेषसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

तमिति । प्रियाः पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तम् उक्षितं चन्दनं येषु तैः मौक्तिकैर्ग्रथितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः श्रोणिलम्बिन्यः

यत् स लग्नसहकारमासवं
रक्तपाटलसमागमं पपौ ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात् कृशः
चित्तयोनिरभवत् पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्
अन्यकार्य्यविमुखः स पार्थिवः ।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतून्
अत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः
शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो
दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

मणिमेखलाः मरकतादिमणियुक्त-कटिसूत्राणि येषु तादृशैः ग्रीष्मवेषविधिभिः उष्णकालोचितनेपथ्यविधानैः शीतलोपायैरित्यर्थः, तमग्निवर्णं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

यदिति । सोऽग्निवर्णः लग्नः सहकारः चूतपल्लवो यस्मिन् तं रक्तपाटलस्य पाटलकुसुमस्य समागमो यस्य तम् आसवं मद्यं पपौ इति यत् तेनासवपानेन मधु-निर्गमाद्वसन्तापगमात् कृशो मन्दवीर्य्यः तस्य चित्तयोनिः कामः पुनर्नवः प्रबलोऽभवत् ॥ ४६ ॥

एवमिति । एवम् अनङ्गवाहितः कामप्रेरितः अन्यकार्य्यविमुखः स पार्थिवः इन्द्रियाणां सुखानि सुखकराणि शब्दादीनि निर्विशन् अनुभवन् आत्मनो लक्षणैः कुटजश्रग्धारणादिचिह्नैः निवेदितान् अयमृतुरिदानीं वर्त्तते इति ज्ञापितान् ऋतून् वर्षादीन् अत्यवाहयत् अगमयत् ॥ ४७ ॥

तमिति । प्रमत्तं व्यसनासक्तमपि तं नृपं प्रभावतः अन्यपार्थिवाः आक्रमितु-मभिभवितुं न शेकुः न शक्ताः, रतिरागसम्भव आमयो व्याधिस्तु क्षयरोग इत्यर्थः, दक्षस्य दक्षप्रजापतेः शापः चन्द्रमिव, अक्षिणोत् अकर्शयत् । शापोऽपि रतिराग-सम्भव इति । दक्षः किल अन्याः स्वकन्या उपेक्ष्य रोहिण्यामेव रममाणं राजानं सोमं शशाप पश्चादद्यापि क्षयरूपेण तं क्षिणोतीत्युपाख्यायते ॥ ४८ ॥

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्
सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो
दुःखमिन्द्रियगणो निवार्य्यते ॥ ४९ ॥

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा
सावलम्बगमना मृदुस्वना।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ
कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा
पङ्कशेषमिव घर्म्मपल्वलम्।
राज्ञि तत्कुलमभूत् क्षयातुरे
वामनार्च्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

दृष्टेति। भिषजां वैद्यानामनाश्रवो वचसि न स्थितः। वचने स्थित आश्रव-इत्यमरः। अविधेय इत्यर्थः सः दृष्टदोषमपि रोगजननादिति शेषः तत् सङ्गस्य वस्तु सङ्गवस्तु स्त्रीमद्यादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजत्। तथाहि, इन्द्रियगणः स्वादुभि विषयैः हृतस्तु हृतश्चेत् तत स्तेभ्यो विषयेभ्यो दुःखं कृच्छ्रेण निवार्य्यते, दुस्त्यजाः खलु विषया इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

तस्येति। तस्य राज्ञः पाण्डुवदना अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्यां सा सावलम्बगमना मृदुस्वना हीनस्वरा राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगस्तेन या परिहानिः क्षीणावस्था, काम-यते विषयानिच्छति कामयानः। कमेर्णिङन्तात् शानच्। अनित्यमागमशासन-मिति मुमागमाभावः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तम् वामनेनापि कामयानशब्दः सिद्धो-नादिश्चेति। तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप। काल-कृतो विशेषोऽवस्था। विशेषः कालिकोऽवस्थेत्यमरः ॥ ५० ॥

व्योमेति। राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं रघुकुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दु र्यस्मिंस्तत् कलाविशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव। वाशब्द इवार्थे, यथाह दण्डी इव-वद्वा यथाशब्दाविति। पङ्कशेषं घर्म्मपल्वलमिव, वामनार्च्चिः अल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिव, अभूत् ॥ ५१ ॥

वाढमेष दिवसेषु पार्थिवः
कर्म्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः
शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्
पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं
न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

तं गृहोपवनएव सङ्गताः
पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः
सम्भृते शिखिनि गूढ़माद्धुः ॥ ५४ ॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैः
आशु तस्य सहधर्म्मचारिणी ।
साधु दृष्टशुभगर्भलक्षणा
प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

वाढ़मिति । वाढ़ं सत्यम् एष पार्थिवः दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म्म जपादिकं साधयति इत्येवम् अदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणः अघशङ्किनीः व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वत् ऊचुः ॥ ५२ ॥

सइति । स तु अग्निवर्णः अनेकवनितासखः सन्नपि, पावनीं पितृऋण-मोचनीं सन्ततिमनवलोक्य पुत्रमनवाप्येत्यर्थः, वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं रोगं प्रदीपो वायुमिव नात्यगात् नातिचक्राम ममारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

तमिति । पश्चिमक्रतुविदा अन्त्येष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा सङ्गताः समेताः मन्त्रिणः गृहोपवन एव गृहाराम एव । आरामः स्यादुपवनमित्यमरः । रोग-शान्तिमपदिश्य शान्तिकर्म्म व्यपदिश्य तमग्निवर्णं सम्भृते सम्वृद्धे शिखिनि अग्नौ गूढ़मप्रकाशम् आदधुः निदधुः ॥ ५४ ॥

तैरिति । आशु शीघ्रं कृतः प्रकृतिमुख्यानां पौरजनप्रधानानां संग्रहः सन्नि-

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः ।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥
तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोवीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्द्धं स्थविरसचिवैर्हैमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्त्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

इति श्रीरघुवंशे महाकाव्ये कालिदासकृतौ अग्निवर्ण-
शृङ्गारो नाम एकोनविंशः सर्गः ।

पातनं यैस्तादृशैस्तैर्मन्त्रिभिः साधु निपुणं दृष्टशुभगर्भलक्षणा परीक्षितशुभ-गर्भचिह्ना तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत राजलक्ष्मीं प्राप ॥ ५५ ॥

तस्यादिति । तथाविधया नरेन्द्रविपत्त्या यः शोकस्तस्मादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः तस्याः गर्भः कनककुम्भानां मुखैरुज्झितेन शिशिरेण शीतलेन वंशाभिषेकविधिना लक्षणया अभिषेकजलेन निर्वापितः आप्यायितः ॥ ५६ ॥

तमिति । प्रसवो गर्भमोचनं फलञ्च विवक्षितम् । स्यादुत्पादफले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने इत्यमरः । तस्य यः समयः तदाकाङ्क्षिणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय भूतये इत्यर्थः । भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुष्विति यादवः । क्षितिः अन्तर्गूढं नभोवीजमुष्टिमिव श्रावणमासुप्तं वीजमुष्टिं यथा धत्ते तद्वदित्यर्थः । मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः । अक्लीवौ मुष्टिमुस्तकाविति यादवः । अन्तर्गूढमन्तर्गतं तं गर्भं दधाना हेमसिंहासनस्था अव्याहताज्ञा राज्ञी मौलैर्मूले भवैः मूलागतैर्वा आप्तैरित्यर्थः स्थविरसचिवैर्वृद्धामात्यैः सार्द्धं भर्त्तुः राज्यं विधिवद्विध्यर्हं यथा-शास्त्रमित्यर्थः । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । अशिषत् शास्तिस्म । सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्य-श्चेति च्लेरङ् शास इदङ्हलोरितीकारः ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां रघुवंशव्याख्यायां सञ्जीवनीसमाख्यायामेकोनविंशः सर्गः ॥

सम्पूर्णम् ।





বিজ্ঞাপন।

নিম্ন লিখিত পুস্তক সকল কলিকাতা পটলডাঙ্গা ১১নং কালেজ ষ্ট্রীট মজুমদার্স পুস্তকালয়ে ও সুকিয়া ষ্ট্রীট সংস্কৃত যন্ত্রের পুস্তকালয়ে পাওয়া যায়।

সংস্কৃত পুস্তক		মূল্য
অভিজ্ঞান শকুন্তল	(সটীক)	১৷০
কুমারসম্ভব	ঐ	১৲
রঘুবংশ	ঐ	৪৲
মেঘদুত	(ইংরাজী অনুবাদ সহিত)	১৷৷০
মৃচ্ছকটিক	(মুদ্রিত হইতেছে)	
মুদ্রারাক্ষস	ঐ	
বেণীসংহার	ঐ	

বাঙ্গালা পুস্তক।

কুমার সম্ভব	৷৵০
অভিজ্ঞান শকুন্তল নাটক	১৲